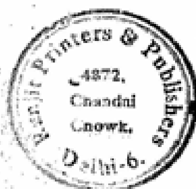

Printers & Publishers
4872,
Chandni
Chowk,
Delhi-6.

बिहार का गौरव

लेखक की अन्य रचनाएं

१.	महाराज संसारचंद (सचित्र)	४.००
२.	मुगल साम्राज्य की जीवन-संध्या (सचित्र)	६.००
३.	रूसी क्रान्ति के अग्रदूत (सचित्र)	४.००
४.	अम्बपाली	५.००
५.	राधा-कृष्ण	२.५०
६.	संकलिता (सचित्र)	२.५०
७.	अमृतप्रभा	०.६२
८.	भारत के पक्षी (सचित्र)	१२.५०
९.	हमारे पक्षी (सचित्र)	२.००
१०.	हमारे वृक्ष (सचित्र)	(प्रेस में)
११.	Geet-Govind in Basohli School of Indian Painting	१२.००
१२.	Our Birds	२.५०

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६



जहाँ भगवान बुद्ध ने प्रकाश पाया (बौद्ध-गया का मंदिर)

बिहार का गौरव

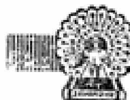
लेखक

राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह

प्रस्तावना

डॉ० श्रीकृष्णसिंह

मुख्यमंत्री, बिहार



आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

BIHAR KA GAURAV

by

Rajeshvar Prasad Naraian Sinha

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	चार रुपए
प्रथम संस्करण	:	१ ९ ६ ०
आवरण	:	योगेन्द्रकुमार लल्ला
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

श्रद्धेय राष्ट्रपति डा० श्री राजेन्द्रप्रसादजी

को

सादर ....

प्रस्तावना

'बिहार का गौरव' श्री राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह के पचीस निबन्धों का संग्रह है और मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि इसके आधे से अधिक निबन्धों का सम्बन्ध बिहार से है। कुछ निबन्ध ऐतिहासिक हैं और कुछ इस राज्य के दिवंगत महान् पुरुषों से सम्बन्धित हैं। ऐतिहासिक निबन्धों में नवीनता है और वे काफी खोज के बाद लिखे गये हैं। इनसे कई नई बातों का पता लगता है, यथा, थाइलैण्ड के एक राजकुल के आदि-पुरुष का मुंगेर जिले के ही एक स्थान जयमंगला गढ़ से वहाँ जाना और राजवंश की नींव डालना।

बिहार में कतिपय ऐसे महापुरुष हो गये हैं जिनके सम्बन्ध में आज तक कुछ नहीं लिखा गया है। इन्हीं में उर्दू-फ़ारसी-अरबी के प्रकांड विद्वान बाबू अवधबिहारी-सिंह जी भी थे। उन पर एक विस्तृत निबन्ध लिखकर राजेश्वर बाबू ने एक अभाव की पूर्ति की है। मुझे इस निबन्ध से खास प्रसन्नता है चूँकि बाबू साहब एक विद्वान और कुशल शायर ही नहीं थे बल्कि एक पहुँचे हुए फ़क़ीर भी थे। किन्तु संसार उनके इस महान् गुण से अनभिज्ञ था, यह लेख उनके छिपे हुए गुण को प्रकाश में लाता है और इसे पढ़कर हमें गर्व होता है कि ऐसा महान् व्यक्ति हमारे राज्य का ही रहनेवाला था।

बिहार के इतिहास की बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो अब तक प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। ऐसी दो-चार घट-

नाश्रों का इस पुस्तक में उल्लेख है। लेखक ने बिहार के इतिहासकारों के सामने एक नया दृष्टिकोण रखा है। आशा है, वे इससे नया प्रकाश पायेंगे।

पुस्तक के बाकी निबन्ध भी, जिनका सम्बन्ध बिहार से नहीं है, काफी रोचक और मौलिक हैं। मुझे प्रसन्नता है कि अब ये पुस्तक रूप में हिन्दी-संसार के सामने आ रहे हैं। आशा है, वह इनका स्वागत करेगा।

श्रीकृष्णसिंह

दो शब्द

मेरे पचीस निबन्धों का संग्रह है यह पुस्तक जो आपके हाथों में है। निबन्ध कैसे हैं, यह विज्ञ पाठक ही बता सकेंगे, मेरा निवेदन सिर्फ इतना है कि मैंने यथासाध्य निबन्धों का विषय ऐसा रखने की चेष्टा की है जो पढ़ने में विनोदहीन न प्रतीत हों। इसमें कहाँ तक सफलता मुझे मिली है, इसके निर्णायक भी वे ही हो सकते हैं।

प्रोफेसर अवधबिहारीसिंह 'बेदिल' की एक ग़ज़ल का, जो प्रस्तुत पुस्तक के निबन्ध 'नौ' में उद्धृत है, अंतिम शेर है—

कोई वापस नहीं आता है कि जिससे पूछूँ,
यां तो निकला नहीं पर वां कोई अरमां निकला।

पता नहीं शायर ने इन पंक्तियों में अपने किस अरमान की ओर इशारा किया है, पर मेरे दिल की एक तमन्ना अवश्य ही अब तक अधूरी—अपूर्ण—पड़ी हुई है, वह है बिहार का एक नये सिरे से इतिहास लिखना जिसमें ऐसी घटनाओं और व्यक्तियों की भी चर्चा हो जो अब तक इतिहास के पृष्ठों में न आ सके हैं। ऐसी एक-दो नहीं, सैकड़ों घटनाएँ और महापुरुष हैं जिनके सम्बन्ध की, अनुसंधान द्वारा, अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण बातों का पता लग सकता है पर इसके लिए घोर परिश्रम और आवश्यक साधनों की आवश्यकता है। दरअसल बिहार का पूरा इतिहास अब तक अलिखित ही-सा है। जो-कुछ लिखा गया है वह अधिकतर बौद्धकालीन मगध से सम्बन्ध रखता है, उसके आगे और पीछे की बातें—खासकर वे जो उत्तर बिहार से सम्बन्धित हैं—पूरी तरह प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। उदाहरणार्थ, उस युद्ध को लीजिए जो दरभंगा जिले के हरिना नामक युद्ध-क्षेत्र में हुआ था, जो 'कंदर्पीघाट की लड़ाई' के नाम से भी मशहूर है, और

जिस युद्ध में बंगाल से आई हुई अलीवर्दी खां की सेना को जबर्दस्त पराभव खानी पड़ी थी। इसी तरह यहां के अनेक महापुरुषों के सम्बन्ध में भी इतिहास अब तक मौन रहा है।

ऊपर अपने जिस उद्देश्य का मैंने उल्लेख किया है उसकी पूर्ति के लिए मैं यत्नशील रहा हूं पर मुझ जैसे तुच्छ जन के लिए इस बड़े काम को पूरा करना कठिन ही नहीं असंभव-सा है। बिहार की सरकार ही इस काम को अंजाम दिला सकती है। मुझे आशा ही नहीं, विश्वास है कि वह इस ओर ध्यान देगी।

प्रस्तुत पुस्तक के आधे से अधिक लेख ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में बिहार से है इसीलिए मैंने इसका नाम 'बिहार का गौरव' रखा है।

बिहार के मुख्य मंत्री, श्रद्धेय नेता, डॉक्टर श्रीकृष्णसिंह जी ने पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर इसका सौन्दर्य-वर्द्धन किया है। वह केवल एक सफल शासक ही नहीं, उद्‌भट विद्वान और चिन्तक भी हैं, अध्ययनशील हैं। कार्य-व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने प्रस्तावना-लेखन के मेरे अनुरोध को स्वीकार किया, इसके लिए मैं अपना आभार प्रकट करता हूं।

नई दिल्ली —राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह

१-१-६०

क्रम

१

बिहार में सन् सत्तावन का स्वातन्त्र्य-युद्ध

अंग्रेजी सरकार द्वारा जब्त किये गये 'पलासिर युद्ध' नामक सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ की ये अन्तिम पंक्तियां—

उठिल उज्ज्वल असि करि झलमल,
दुर्बल प्रदीपालोके; नामिल जखन,
सिराजेर छिन्न मुंड चुंबिया भूतल,
पड़िल, छुटिल रक्त स्रोतेर मतन।
निबिल गृहेर दीप, निबिल तखन,
भारतेर शेष आशा हइल स्वपन।

आज भी हृदय में वेदना का संचार करती हैं। कितनी मर्मस्पर्शिणी वाणी है यह—

गृह-प्रदीपका बुझी, बुझी संग उसके उस क्षण
भारत की जो शेष आस थी हुई हाय स्वप्न।

पलासी के इस युद्ध में (जून २३, १७५७) विजय-श्री अंग्रेजों के हाथ आयी और भारत में उनकी सत्ता स्थापित हुई। देश की जनता, अमीर-गरीब, राजे-महाराजे, सबको बरबस उनका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। पर उनके प्रति विरोध-भाव का अन्त नहीं हुआ, बल्कि भीतर-भीतर इसकी आग सुलगती और समय-समय पर उभरती भी रही।

बिहार इससे अछूता न बचा। जिस छल-प्रपंच द्वारा लार्ड क्लाइव ने सिराजुद्दौला को हराकर मीर जाफर को मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठाया, वह लोगों के दिलों में अंग्रेजों के प्रति एक जबर्दस्त घृणा का कारण बना। नये नवाब की सत्ता को, जो वास्तव में अंग्रेजों की सत्ता थी, स्वीकार करने में वे अपने को असमर्थ पाते रहे। पर अंग्रेजों की बढ़ी हुई संगठित शक्ति के सामने मजबूरन उन्हें सिर झुकाना पड़ा। फिर भी उनके खिलाफ़ षड्यन्त्र

चलता रहा, जिसके सम्बन्ध में एक अंग्रेज फ़ौजी अफसर ने १८५७ में लिखा था कि "कासिम अली खाँ (मीर कासिम) के समय ही से पटना एक विद्रोही नगर हो रहा है।"

विद्रोह की व्यापक भावना

काशी के राजा चेतसिंह के विद्रोह से उत्साहित होकर बिहार के भी कुछ जमींदारों ने अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध बगावत कर दी। सन् १७८१ में सारन (छपरा) के तत्कालीन कलेक्टर, मिस्टर ग्रोम, ने पटना के एक बड़े अंग्रेज पदाधिकारी को लिखा था—"ससराम का रजाकुलीखाँ इन दिनों राजा चेतसिंह के पास है। उस जिले के बहुतेरे लोग—खास कर उज्जैन-क्षत्री—उससे सहानुभूति रखते हैं। टिकारी के राज-परिवार (जिला गया) के पीताम्बरसिंह का राजा चेतसिंह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके पास कुशल योद्धाओं का बाहुल्य है और उनकी नौकरी में बहुत से घुड़सवार सैनिक भी हैं।

इधर सारन में हथुआ के महाराज फ़तहशाह भी अंग्रेजों के विरुद्ध हो रहे थे। कुटुम्बा (जिला गया) के जमींदार, नारायणसिंह ने विद्रोह में शामिल होकर रामनगर के क़रीब कम्पनी की फौज को आगे बढ़ने से रोका, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर ढाका भेज दिया। नरहत-समाई के राजा अकबरअली खाँ ने भी बगावत कर दी। पलासी में अंग्रेजों के विजयी होने और इसके परिणामस्वरूप बंगाल, बिहार और अवध में उनकी सत्ता के स्थापित हो जाने के बावजूद भी बिहार के तत्कालीन जमींदारों में विरोध और असन्तोष की भावनाएँ काम करती रहीं।

मीर क़ासिम अंग्रेजों की शृंखला से अपने प्रभुत्व को मुक्त करना चाहते थे। यह देखकर कि बिहार के अधिकांश बड़े-बड़े जमींदार अंग्रेजों के विरुद्ध हो रहे हैं, वह मुर्शिदाबाद त्यागकर मुंगेर चले आये और वहीं उन्होंने अड्डा जमाया। अंग्रेजों के खिलाफ उनकी मदद करनेवालों में दक्षिण बिहार में कामदार खाँ और नामदार खाँ, भोजपुर के बाबू उदवन्त सिंह, (१८५७ के ग़दर के नेता, जगदीशपुर के बाबू कुंअरसिंह के पितामह) और पहलवान-सिंह, छपरा के महाराज फतहशाह, पूर्णिया के नवाब शेरअली खाँ, छोटा

नागपुर के राजा जगन्नाथ देव, रानी सर्वेश्वरीदेवी, मानभूम से राजा रघुनाथ नारायण देव और राजा गरुड़ नारायण देव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके सिवा भी पचासों ऐसे जमींदार थे, जिन्होंने बगावत के झण्डे उठाये, पर अंग्रेजों ने इनके नाम छिपा डाले—उन्हें किसी सार्वजनिक रेकार्ड या पुस्तक में आने नहीं दिया, जिसकी वजह से आज हम उनके कीर्ति-कलाप से भी वंचित हैं। बड़ी तलाश के बाद इनमें से कुछ के नाम प्रकाश में आ पाये हैं।

बिहार के जमींदारों के जिस षड्यन्त्र का ऊपर उल्लेख है और जिसे हम बिहार में स्वतन्त्रता की पहली लड़ाई कह सकते हैं, वह १८वीं शती के अन्त की घटना है। इसमें भाग लेनेवालों में से कइयों को अपनी जान से वंचित होना पड़ा, जिनमें टिकारी के महाराज प्रमुख थे, जिन्हें पटना में फाँसी दी गयी। उनके परिवारवालों के पास इस फाँसी से सम्बन्धित सारे क़ागज़ात अब भी सुरक्षित हैं।

जमींदारों का षड्यन्त्र

१९वीं शती के पहले हिस्से में अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र का पुनः संगठन हुआ और इस बार छोटा नागपुर की कोल जाति के लोगों ने भी (१८३१-३२ में) खुलकर बगावत की जिसे अंग्रेज बड़ी मुश्किल से दबा पाये। अंग्रेज उन दिनों सिखों के साथ पंजाब में लड़ाई लड़ने में उलझे हुए थे। इस परिस्थित से लाभ उठाकर बिहार के कुछ जमींदारों ने, जिनमें टिकारी के राजा मित्रजीतसिंह प्रमुख थे, पुनः एक जबर्दस्त षड्यन्त्र की रचना की, और अंग्रेजी पल्टन के हिन्दुस्तानी सिपाहियों को उभाड़ना चाहा। पटना के हिन्दुस्तानी पदाधिकारी, ईश्वरीप्रसाद ने इसके सम्बन्ध में पटना के कमिश्नर के नाम अपने खत (अगस्त २७, १८७०) में लिखा—"सन् १८४५ में बिहार के बहुतेरे राजाओं तथा जमींदारों ने षड्यन्त्र रचकर मेजर राक्राफ्ट के रेजिमेण्ट नं० १ को उभाड़ने की पूरी चेष्टा की थी।"

उपर्युक्त षड्यन्त्रकारियों में बाबू कुंअरसिंह (जिन्होंने आगे चलकर सन् १८५७ के ग़दर में पूरा हिस्सा बँटाया) और मुज़फ्फरपुर के एक पुलिस अधिकारी हसनअली खाँ (जिन्हें फाँसी हुई) भी थे। इस षड्यन्त्र की वास्त-

विक सफलता तो तब हुई जबकि बंगाल-सेना के एक हिस्से ने खुले आम बगावत का झण्डा उठाया और अंग्रेजों को नाकों चने चबवाये। यह समय ऐसा था जब बिहार के अधिकांश स्थान रण-भूमि में परिणत हो गये थे। मीर क़ासिम ने अंग्रेजों के खिलाफ बगावत कर रखी थी। उसके विरुद्ध भेजी हुई अंग्रेजी सेना मुंगेर, पटना, मनेर (पटना जिले का एक सुप्रसिद्ध स्थान) छपरा, माँझी, आदि जगहों में पड़ाव डालकर पड़ी थी।

मीर क़ासिम ने अंग्रेजों के खिलाफ अवध के नवाब वजीर और दिल्ली के मुगल बादशाह, शाहआलम द्वितीय के साथ भी गठबन्धन कर रखा था, पर इन दोनों में से कोई भी उसके लिए उपयोगी सहायक न साबित हुआ। अंग्रेजी सेना के साथ उसकी दो बार मुठभेड़ हो चुकी थी, जिनमें वह परास्त हुआ था। फिर भी उसने हार नहीं मानी और कर्मनासा नदी पार कर सारे भोजपुर पर अधिकार जमा बैठा। पटना में देशद्रोही मीर जाफ़र के नेतृत्व में अंग्रेजी पल्टन कलकत्ता से आनेवाली हेक्टर मुनरो की फ़ौज की प्रतीक्षा कर रही थी। उसे साहस न था कि वह सोन अथवा घाघरा नदी को पार करे। पल्टन के कुछ हिस्से छपरा और माँझी में पड़े हुए फ़ौजी सहायता का इन्तजार कर रहे थे। अंग्रेजों के लिए यह बड़ा नाजुक वक्त था, जब सोन नदी के उस पार मीर क़ासिम, नवाब वजीर और शाह आलम की सेनाएँ युद्ध के लिए ताल ठोंक कर खड़ी थीं।

काले-गोरे के भेद की शिकायत

अंग्रेजी सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों के बीच, जो अधिकतर भोजपुर और छपरा के रहनेवाले थे, असन्तोष बढ़ता जा रहा था। उनकी अंग्रेजों से यह शिकायत थी कि 'आप हम से कड़ा-से-कड़ा परिश्रम कराते हैं; हम आपके लिए जान तक देने को तैयार हैं; हम अपने भाई-बन्धुओं से लड़ते हैं; पर आप हमें और पल्टन के अंग्रेजी सैनिकों को एक निगाह से नहीं देखते। वेतन, भत्ता, इनाम, हर चीज में वे हम से कहीं अधिक लाभ उठा रहे हैं। हम पेट-भर खाने के लिये भी मुहताज हैं, पर वे मौज से गुलछर्रे उड़ाते हैं। सूबे के खजाने से फ़ौज-खर्च के लिए ५०,००० से लेकर १ लाख रुपये तक रोजाना लिए जाते हैं, पर हम गरीब के गरीब ही बने हुए हैं।'

उनकी इन शिकायतों पर सेना के अंग्रेज अधिकारियों ने ध्यान न दिया। अन्त में पटना और मुंगेर के देशी सिपाहियों ने भीतर-ही-भीतर यह तय किया कि वे मीर क़ासिम की सेना से जा मिलें। पर इस निर्णय की खबर अंग्रेज अफ़सरों को लग गयी और उन्होंने कूटनीति से काम लिया। सिपाहियों से जाकर कहा—'हम आपके साथ पूरी सहानुभूति रखते हैं और वादा करते हैं कि आपकी सारी माँगें अपनी सिफ़ारिश के साथ बोर्ड (कम्पनी के डाइरेक्टरों की सभा) के सामने जल्द से जल्द पहुँचा देंगे।' सिपाही इस वायदे से पूरी तरह सन्तुष्ट तो न हुए; फिर भी उन्होंने निश्चय किया कि फ़िलहाल वे कोई कार्रवाई नहीं करेंगे।

पटने के सिपाही तो मान गये, पर मनेर-स्थित पल्टन के सिपाहियों ने अपना विचार न बदला; और ७ अगस्त, १७६४, को पल्टन की दो टोलियों ने बगावत कर दी। अंग्रेज अफ़सरों को क़ैद कर वे मीर क़ासिम की फौज से मिलने को कोयलवर-घाट की ओर बढ़ चले। कैप्टन ह्यू ग्राण्ट, जो मनेर की फ़ौज की सदारत कर रहा था, एक बड़ा कूटनीतिज्ञ और प्रत्युत्पन्नमति व्यक्ति था। वह तुरन्त आगे बढ़कर विद्रोही सिपाहियों से जा मिला और उनकी सारी शर्तों को स्वीकार कर लिया। पटने के फ़ौजी कमाण्डर को लिखा कि वह मदद में अंग्रेजी सेना न भेजें, वर्ना ये सिपाही क्रोधावेश में आकर हमारा काम ही तमाम कर डालेंगे। उसने लिखा—'यदि मेरे पहले पत्र पर कोई पल्टन यहाँ के लिए भेजी जा चुकी हो, तो उसे फौरन वापस बुला लें, क्योंकि यदि उसके रवाना होने की खबर इन सिपाहियों को मिली, तो ये सीधे हमें—मुझे तथा अन्य अंग्रेज अफ़सरों को, जो यहाँ मौजूद हैं, परलोक भेजकर ही दम लेंगे। मैं यहाँ की सारी नौकाओं को बेकार करा रहा हूँ, क्योंकि यदि उस दिन नदी पार करने के साधन उपलब्ध रहते, तो पल्टन के विद्रोही सिपाहियों की ये दो टोलियाँ आज यहाँ न होकर भोजपुर में होतीं।' इस प्रकार ह्यू ग्राण्ट की कूटनीति ने अंग्रेज अफ़सरों को इस संगीन परिस्थिति से बचा लिया।

सिपाहियों का विद्रोह

विद्रोही सैनिक पुनः अपने काम पर वापस आ गये, पर इसके ठीक एक

महीने के बाद गंगा की दूसरी ओर विद्रोह की आग सुलग उठी। इस बार सारन ज़िले में, ८ सितम्बर, १७६४, को छपरे से बीस मील दूर माँझी में फ़ौज के देशी सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। वे काम छोड़ हथियार साथ ले-लेकर बैठ गए, पर दवदुर्विपाक से पटने से चली हुई अंग्रेज़ी सेना वहाँ शीघ्र ही आ पहुँची। विद्रोहियों के पास साधनों की कमी तो थी ही, उनका कोई रहनुमा भी न था। वे देर तक अंग्रेज़ों का मुकाबला न कर सके और न यही सोच सके कि इस विषम परिस्थिति में वे आगे क्या करें? अन्त में उन्हें विद्रोह का झण्डा रख देना पड़ा। वे बन्दी बना लिये गये। विद्रोह में प्रमुख हिस्सा लेनेवाले २४ सिपाही फ़ौजी अदालत के सम्मुख पेश किये गये। उन्हें तोप से उड़ाने की सजा मिली और सबके देखते-देखते वे तोप से उड़ा दिये गये। कहते हैं कि इस करुण दृश्य को देखकर अंग्रेज अफ़सरों की आँखों से भी अश्रु-बिन्दु टपक पड़े थे। स्मरण रहे कि इन विद्रोहियों ने इन्हीं अंग्रेज अफ़सरों को कुछ ही दिन पहले गिरफ़्तार करके भी उनके अनुनय-विनय पर बन्धनमुक्त कर दिया था। तोप से उड़ाये गये इन सिपाहियों के सम्बन्ध में एक अंग्रेज लेखक का आँखों-देखा बयान इस प्रकार है—'ये (१६ सैनिक) बड़ी बहादुरी के साथ जाकर वहाँ, जहाँ इन्हें सजा मिलनी थी, खड़े हो गये और अन्तिम संकेत की प्रतीक्षा करने लगे। इनके चेहरे पर दृढ़ता थी, शोक का नाम न था।'

भारतीय सैनिकों का यह छोटा-विद्रोह सन् सत्तावन के आनेवाले महान् विद्रोह का पूर्वाभास था। इसके बाद अंग्रेज़ों के प्रति असन्तोष की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। १८५५ में संथालों ने विद्रोह किया, बर्द्धमान से लेकर भागलपुर तक संथाल अंग्रेज़ों के विरुद्ध उठ खड़े हुए और अंग्रेज इन्हें बड़ी मुश्किल से दबा पाये। विद्रोह शान्त करने में उन्हें काफी धन और जन खरचने पड़े, फिर भी उभड़ी हुई इस आग को वे बुझा न पाये। वर्षों तक वह भीतर-ही-भीतर सुलगती रही और अंग्रेज़ों के प्रति विद्रोह का भाव दिन-ब-दिन बढ़ता गया।

१७६४ में बक्सर की लड़ाई हुई, जिसमें मीर क़ासिम, नवाब अवध और शाह आलम की सम्मिलित फ़ौजों की पराजय हुई—बक्सर ने पलासी का काम पूरा किया और अब अंग्रेज बंगाल-बिहार के पूरी तरह मालिक

बन बैठे। फिर भी बिहार का जन-समाज उनका, प्रभुत्व मानने को तैयार न हुआ, और रात-दिन इसी चिन्ता में पड़ा रहा कि वह किस तरह उनकी शृंखला से अपने को मुक्त करे। ऊपर जिन विद्रोहों अथवा षड्यन्त्रों की चर्चा की गयी है, वे उसकी इसी उद्देश्य-सिद्धि के छोटे-मोटे प्रयत्न थे, पर बदकिस्मती से वे सभी अब तक निष्फल होते गये। सन् १८५७ में बिहार को फिर से मौका मिला कि वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक तगड़ा प्रयत्न करे। यही था वह सिपाही-विद्रोह, जिसकी शताब्दी हिन्दुस्तान ने सन् १९५७ में मनायी।

ग़दर के कारण

सन् सत्तावन के ग़दर के सम्बन्ध में आम तौर पर यह धारणा है कि यह केवल फ़ौज के कुछ सिपाहियों का विद्रोह था। अंग्रेज इतिहासकारों ने यह बताने को कि देशी आम जनता अंग्रेजी-शासन से सन्तुष्ट थी, इस भ्रम की सृष्टि की थी कि केवल सेना के कुछ सैनिकों के बीच ही धर्म-सम्बन्धी बातों को लेकर असन्तोष आ पड़ा था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने बग़ावत कर दी थी; बाकी लोगों का इसमें कोई हाथ न था। पर ये बातें बिल्कुल ग़लत और भ्रमात्मक हैं। अंग्रेजी सेना के कुछ अफ़सरों ही के बयानों से इसका खण्डन होता है। 'दि म्यूनिटी ऑफ दि बंगाल आर्मी' का लेखक लिखता है—'भयंकर समय आ उपस्थित हुआ। आरम्भ में यह केवल सिपाही-विद्रोह-मात्र था, पर शीघ्र ही इसका रूप परिवर्तित हो गया। इसने एक राष्ट्रीय विप्लव का स्वरूप धारण कर लिया। बिहारी राजपूतों के गाँव, बनारस, आजमगढ़, और गोरखपुर जिलों के समस्त दोआब, रोहिलखण्ड और अवध-प्रान्त ने शासन की जंजीर से अलग होकर हमारे खिलाफ़ युद्ध की घोषणा कर दी।' ३० सितम्बर, १८५७, की एक सभा में भाषण करते हुए डिजरेली ने कहा—'भारत में अंग्रेजी साम्राज्य पर सबसे बड़ा संकट आया है। दिन-पर-दिन हम उस खतरे को बढ़ता देख रहे हैं, जिसे पहले एक मामूली घटना बतलाया गया था, पर जो मानव-इतिहास को प्रभावित करनेवाली एक बहुत बड़ी घटना है। उस पर राष्ट्रों और राज्य के नेताओं को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।'

नयी दिल्ली के नेशनल आर्काइव्ज के संग्रहालय में सुरक्षित हिदायत अली खाँ नामक एक बँगाल-पुलिस-बटालियन के सूबेदार का लिखित बयान है, जो उसने सन् १८५८ में दिया था। यह बयान तो अंग्रेजी शासन के पक्ष में है, पर इसमें ग़दर के जो कारण बताए गये हैं, वे क़ाबिले-गौर हैं। हिदायत अली खाँ ने कहा है—'मुझे पूरा यकीन है कि सरकार को अभी तक ग़दर के वास्तविक कारणों का पता नहीं है।' और फिर अंग्रेजी सल्तनत के प्रति असन्तोष के कारणों का, जो संख्या में बीस से कम नहीं हैं, विश्लेषण करते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'बग़ैर अपवाद के सारी हिन्दुस्तानी फ़ौज आज अंग्रेजी सल्तन से असन्तुष्ट है ।' तात्पर्य यह है कि ग़दर के निकटतम कारणों पर ही न जाकर हमें पिछले सौ साल के अंग्रेजी शासन, मेजर ह्ने-जैसे अंग्रेजों की काली शासन-प्रक्रियाएँ, उनके प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विद्रोह और असन्तोष भावनाएँ पराधीनता की जंजीर से बचे रहने की या मुक्ति पाने की भारतीय हृदय की प्रबल आकांक्षा आदि की लम्बी पृष्ठभूमि देखने की चेष्टा हमें करनी चाहिए। तभी हम सत्य की तह तक पहुँचने में समर्थ होंगे।

खुला विद्रोह और दमन

सन् १८५७ के आरम्भ ही से विद्रोह के चिह्न जहाँ-तहाँ नजर आने लगे थे। बिहार के विभिन्न जिलों में इसकी तैयारियाँ होने लगीं। हिदायत अली खाँ का कहना है—'एक दिन मेरे गोईंदे (खुफ़िया) ने मुझे बताया कि बिहार (पटना जिले की एक तहसील), गया, मुजफ़्फ़रपुर आदि, जिलों के लोग, पटना शहर में आये हुए हैं और झगड़ा शुरू करना चाहते हैं, दो आना प्रतिदिन की मजदूरी पर आदमी भर्ती कर रहे हैं और अपने हथियारों को साफ़ और मरम्मत करने में संलग्न हैं।

बिहार में सर्वप्रथम संथाल-परगना के देवघर सबडिवीजन के रोहिणी नामक गाँव में विद्रोह की आग १२ जून, १८५७, की शाम को भड़की। मेजर मैक्डानल्ड के नेतृत्व में घुड़सवारों की जो एक पल्टन वहाँ थी, उसने बग़ावत कर दी और सर नार्मन लेसली नामक फ़ौज के एक कर्मचारी की हत्या की। पर अधिक काल तक यह विद्रोह ठहर न सका। मेजर मैक्डा-

नल्ड शीघ्र ही इसका दमन करने में समर्थ हो सका और पल्टन के उन तीन आदमियों को, जो इसके अगुआ थे, उसने फाँसी पर लटका दिया। रोहिणी से फिर फ़ौज का वह टुकड़ा भागलपुर भेज दिया गया, जहाँ अगस्त के महीने में उसने पुनः विद्रोह कर दिया।

विद्रोह का बादल, जो पटना के राजनीतिक व्योम-मण्डल पर घिरते आ रहे थे, धीरे-धीरे ग़दर होने लगे। तत्कालीन कमिश्नर, विलियम टेलर, ने १८ जून, १८५७ के अपने एक खत में बंगाल के छोटे लाट को लिखा—'छपरा से पश्चिम के सभी जिलों के लोग खुले तौर पर विद्रोह में शामिल हो गए हैं। मुजफ़्फ़रपुर के अंग्रेजों ने सहायता की याचना की है···बक्सर और शाहाबाद से बहुतेरे आदमी और औरतों की पोशाक में दानापुर में आ घुसे हैं। ये साधारण बातें हैं···काश! आप उन चिट्ठियों को पढ़ते, जो एक लम्बी संख्या में रोज मेरे पास आ रही हैं, जिनमें आदेश की माँग है और उन भयानक घटनाओं का वर्णन है, जो प्रतिदिन घट रही हैं।'

पटने के तीन मुसलमान, मौलवी मुहम्मद हुसैन, अहमदुल्लाह और वेजलहक़ वहाबी आन्दोलन के नेता थे। उनके सम्बन्ध में यह सन्देह था कि वे लोगों को अंग्रेजी शासन के खिलाफ़ भड़का रहे हैं। टेलर ने उन्हें एक रोज राय-मश्विरे के लिए अपने बंगले पर आमंत्रित किया। वे आये, राय-मश्विरे में शामिल हुए। पर जब बाक़ी लोग अपने-अपने घर चले गये, तब टेलर ने उनके साथ घोर कपट का व्यवहार किया। उन्हें गिरफ़्तार कर हाजत में डाल दिया। टेलर के इस काम की स्वयं अंग्रेज लेखकों ने घोर निन्दा की। केई (Kaye) ने लिखा है 'किसी को अपने घर पर दोस्ताना राय-मश्विरे के लिए आमन्त्रित करना और फिर उसे गिरफ़्तार कर लेना धोखे का काम ही नहीं, इसे मूर्तिमान् धोखा समझना चाहिए।' पर ऐसे कांडों से युक्त टेलर के सारे प्रयत्न जन-समाज में ब्रिटिश शासन के प्रति बढ़ी हुई असन्तोष की लहर को न रोक सके। तीसरी जुलाई को शहर में खुला विद्रोह शुरू हो गया और लायल नामक बिहार के अफ़ीम-एजेण्ट के मुख्य सहायक क़त्ल कर दिये गये। शहर में अशान्ति छा गयी। जिस बेरहमी के साथ अंग्रेज पटने के नागरिकों के साथ विद्रोह-दमन करने में पेश आये, वह इतिहास के पृष्ठों में काले अक्षरों में लिखे जाने के योग्य है।

विद्रोह की व्यापकता और मार्शल-ला

उत्तर बिहार भी गदर के प्रभाव से बचा न रहा। मुजफ्फ़रपुर, चम्पारन, दरभंगा, जिलों के निलहे अंग्रेज मुजफ्फ़रपुर नगर के सिकन्दरपुर नामक मैदान में आकर एकत्रित हुए और बन्दूक की भरी हुई नालों को हाथ में लिए जग-जग कर रात बिताने लगे। सन् १८८७ में तिर्हुत के किसी निलहे साहब ने, जो सिपाही विद्रोह के समय शाहपुर—मिर्चा और डुमरी कोठियों का मैनेजर था, एक पुस्तक प्रकाशित की थी, जो उसकी आत्म-कहानी सी है और अब अप्राप्य है। सिपाही-विद्रोह की चर्चा करते हुए उसने लिखा है—

"सन् १८५७ के मई महीने में यह अफ़वाह उड़ी कि फ़ौज के सिपाहियों ने पहले बारकपुर में और फिर मेरठ में विद्रोह किया है। शीघ्र ही वन की आग की तरह यह खबर तमाम मुल्क में फैल गयी। एक साहब के खानसामा ने, जो साहब के साथ कलकत्ते गया हुआ था, अपने मालिकों के कपड़ों को उतारते हुए, पूछा—'हुजूर! यह क्या सच है कि सारे हिन्दुस्तनी ईसाई बनाये जानेवाले हैं?' साहब ने हँसते हुए उत्तर दिया कि हाँ, सभी ईसाई बनाए जाएँगे। प्रत्युत्तर में खानसामा ने कहा, "हुजूर! तब तो भोजन के लिए मांस वगैरह अधिक न खरीदना ही बेहतर है, क्योंकि इसकी चोरी की सम्भावना अधिक रहा करेगी।"

"दरअसल बात यह है कि हिन्दुस्तानी जब तक अपनी जाति में रहते हैं तब तक हम लोगों के टेबुल पर रखे हुए खाद्य पदार्थों को अस्पृश्य समझते हैं और उसे ग्रहण नहीं करते, पर जब वह अपने समाज और अपनी जाति से बहिष्कृत हो जाते हैं, जैसा बाबू केशवचन्द्र सेन ने मुजफ्फ़रपुर में लेक्चर देते हुए कहा था, तब वे अपने को ईसाई कहने और यूरोप-निवासियों की सारी बुराइयों का अनुकरण करने लगते हैं, पर उनके गुणों की ओर ध्यान नहीं देते। अस्तु।

"जब हिन्दुस्तान में चारों ओर विद्रोह की आग फैलाई जा रही थी, तभी एक दिन इस अशुभ और अप्रिय समाचार की खबर देने को मजिस्ट्रेट की चिट्ठी हम लोगों के पास आ पहुँची, जिसमें उसने हम लोगों को मुजफ्फ़रपुर में एकत्रित होने की आज्ञा दी थी, ताकि हम लोग मुजफ्फ़रपुर की और

अपने प्राणों की रक्षा कर सकें। चूँकि मजिस्ट्रेट के सम्मन पर 'अर्जेण्ट' की छाप लगी थी, मैंने विलम्ब करना उचित नहीं समझा। बन्दूक, रिवाल्वर, आदि, शस्त्रों से सुसज्जित हो, मैं अपनी औरत और नन्हीं-सी लड़की के साथ, मुजफ़्फ़रपुर के लिए रवाना हो गया। मुजफ़्फ़रपुर पहुँचकर हम लोगों ने सिकन्दरपुर जाकर कलक्टर और मजिस्ट्रेट से भेंट की। सिकन्दरपुर में उनके बंगलों पर हम लोगों ने बहुतेरे निलहे साहबों को, अपनी औरतों और बच्चों के साथ, ठहरे पाया। अपनी मेम तथा लड़की को वहीं छोड़कर, मैं स्टेशन पर, जहाँ सरकारी खजाना रहा करता था, आया। वहाँ इस बात की खबर लगी कि मुजफ़्फ़रपुर में खजाने की रक्षा करनेवाली फ़ौज के सिपाहियों में असन्तोष फैल रहा है, और वे अपने मन में विद्रोह करने का निश्चय कर रहे हैं। चूँकि ऐसी अवस्था में उन पर विश्वास करना मूर्खता थी, मजिस्ट्रेट ने खजाने की रक्षा के लिए ही हम लोगों को बुलाया था।

"हम लोगों ने आपस में परामर्श कर यह निश्चय किया कि सरकारी अफ़सरों से यह साफ़-साफ़ पूछा जाए कि उन्होंने हमें किस काम के लिए एकत्रित किया है, और वे हम से किस तरह की सहायता चाहते हैं। तदनुसार हम लोगों ने इस आशय की एक चिट्ठी लिखकर प्रत्येक अफ़सर के पास भेजी कि वे अगले दिन बारह बजे दिन में आकर हम लोगों से मिलें। दूसरे दिन बारह बजे हम लोग एकत्रित हुए। कलक्टर ने कहा कि "मैंने आप लोगों को इसलिए बुलाया है कि आप अश्वारोही सन्तरी बन कर खजाने की रक्षा करें।" पर हम लोगों को यह मंजूर न था कि अपनी औरतों और बच्चों को छोड़कर हम खजाने की रक्षा ही में लगे रहें। फलतः उस दिन कुछ भी निश्चय न हो सका, मजलिस बर्खास्त हुई, हम लोग अपने डेरे पर लौटे। मुजफ़्फ़रपुर और दरभंगा जिले के दूरस्थ कोठियों से अंग्रेज पहुँचने लगे और थोड़ी ही देर में प्रायः तीन सौ से ऊपर साहब मेम और उनके बच्चे मुजफ़्फ़रपुर में एकत्रित हो गये।

"मजिस्ट्रेट के बंगले पर हम लोगों का ठहराव सम्भव न था, साथ ही यह भी उचित और वांछनीय नहीं था कि हम लोग इस अशान्ति के समय यत्र-तत्र ठहरें। अतएव मुजफ़्फ़रपुर के डॉक्टर सिम्पसन और सदरआला, मि० वेस्टन, ने अपने-अपने मकान और अहाते हमारे ठहरने को दे दिये। बंगलों

के पास ही हम लोगों ने काफी खेमे खड़े कर लिये और उन्हीं में हम रहने लगे। कई कैम्प बन गये, प्रत्येक कैम्प के दो-दो आदमियों को सन्तरी का काम करना पड़ता था। रात में हर आदमी को जगकर दो दो घण्टे पहरा देना पड़ता था। औरतों और कैम्प के कुछ नौजवान आदमियों ने इस बात की इच्छा प्रकट की कि रात में नाचना बन्द न हो। हम लोगों की राय इसके विपरीत थी, पर लाख कहने पर भी वे अपनी बात से न टले। अन्त में सर्व-सम्मति से यह निश्चित हुआ कि कैम्प की औरतें और नवयुवक ११ बजे रात तक नृत्य करें, पर ११ के बाद वे अवश्य ही नाच खत्म कर दें और रोश-नियाँ गुल कर दी जाएँ। ११ बजे रात तक कैम्प के वृद्ध पुरुष, जिन्हें नाच में शामिल होने की ख्वाहिश न थी, पहरा दिया करें।

"पूर्वोक्त प्रबन्ध के कुछ दिनों के बाद ही एक दिन सहसा मजिस्ट्रेट ने तीन-चार आदमियों को इसलिये बुलवा भेजा कि वे बरराज थाने के दारोगा, मुंशी वारिस अली, को मुजफ्फरपुर पकड़ लाएँगे। वारिस अली की सहानु-भूति विद्रोहियों से थी। इस बात की खबर मुजफ्फरपुर के मजिस्ट्रेट को मिल चुकी थी। अतएव उसने अविलम्ब वारिस अली को गिरफ्तार करना समुचित समझा। एक दिन सुबह जब वारिस अली बैठा हुआ पटने के बल-वाइयों को खत लिख रहा था और उन्हें सरकारी खजाना लूटने के लिए आमन्त्रित कर रहा था, हम लोगों ने सहसा थाने में पहुँच कर उसे घेर लिया और उसके कागजों को देखने की इच्छा प्रकट की। चूँकि वारिस अली हमारे कब्जे में आ चुका था, वह इन्कार न कर सका। पर जब उसके कागजों की परीक्षा हो रही थी, वह सहसा कूद कर हमारे रिवाल्वर पर आ पड़ा और उसे बलपूर्वक छीनने की कोशिश करने लगा, पर उसे सफलता न मिली। वह क़ैदी बना कर मुजफ्फरपुर लाया गया। रात उसने नमाज पढ़ने, दुआ माँगने और माला जपने में गुजारी। दूसरे दिन सुबह ही वह सुगौली भेज दिया गया। पर, चूँकि वह मुसलमान था, उसकी फाँसी वहाँ न हो सकी। सुगौली से लौटाकर वह पटने भेजा गया। वहीं फाँसी पर उसे चढ़ा दिया गया। कहते हैं, मरते दम तक वह पुकार-पुकार कर लोगों से कहता गया—'ऐ दोस्तो! दिल्ली जाकर हमारे बादशाह से यह कह दो कि हम आखिरी वक़्त तक उसके खैरख्वाह बने रहे।"

"वारिस अली को फाँसी पर लटकाये जाने के कुछ दिनों बाद एक दिन आधी रात के वक्त हमारे कैम्प के ठीक सामने कुछ रोशनी धीरे-धीरे आगे बढ़ती हुई नजर आयी। हम सभी सो रहे थे। सिर्फ दो आदमी कैम्प के सामने खड़े पहरा दे रहे थे। अकस्मात् आधी रात में रोशनी देखकर वे आपस में परामर्श करने लगे कि क्या करना उचित है ? वे अभी किसी निष्कर्ष पर न पहुँच पाये थे कि दो-तीन हिन्दुस्तानी खानसामे दौड़ते हुए आकर "भागो साहब, भागो साहब" चिल्लाने लगे। कैम्प भर में हल्ला मच गया, औरतों में आतंक छा गया। इतने में किसी ने जोश में आकर उस रोशनी की ओर गोली चला दी। गोली चलते ही उन रोशनियों का आगे बढ़ना रुक गया और थोड़ी देर में वे गुम हो गयीं।

"अभी हम लोग आपस में यह ठीक तय न कर पाये थे कि यह प्रकाश क्या है और उसके सम्बन्ध में क्या करना उचित है। तर्क-वितर्क चल रहे थे। इतने में शहर से गश्त लगा कर कुछ घुड़सवार, जो इस काम के लिए ही चुने गये थे, लौटे। इनमें एक स्काटलैण्ड का रहनेवाला था, जो बड़ा निर्भीक था। उसने उन रोशनियों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने की इच्छा प्रकट की और लाख मना करने पर भी वह उनकी ओर बढ़ चला। उसे अकेले जाते देख कर और भी कुछ लोग उसके साथ हो लिये। वहाँ पहुँच कर उन लोगों ने जमीन पर फेंके हुए कुछ मसालों के सिवाय और कुछ नहीं पाया। आधी रात में प्रकाश का इस तरह सहसा दृष्टिगोचर होना और फिर अन्तर्धान हो जाना एक रहस्यपूर्ण बात थी और है। अनेक प्रयत्न करने पर भी हम इस समस्या को हल न कर सके कि यह प्रकाश इस आधी रात के समय क्योंकर और कहाँ से नजर आया। कुछ लोगों ने कहा कि सम्भव है कि कोई बारात जा रही हो, पर एक तो यह बारात का समय न था और फिर बिना बाजा के बारात कैसे जाती ? सम्भव है यह काम बलवाइयों का हो, उन्होंने प्रकाश दिखाकर यह जानने की चेष्टा की हो कि लोग सोये हैं या जगे। दूसरे दिन सुबह ही हम लोगों ने मकान के चारों ओर बालू के ढेर लगाये, छत पर चावल-दाल के सैकड़ों मिट्टी के पात्र रख लिये, सन्तरियों की संख्या बढ़ा दी और विद्रोहियों के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगे।

"इस घटना के कुछ ही दिनों बाद दौलतपुर कोठी के पास के एक छोटे-

से जमींदार ने बग़ावत कर दी। कोठी के मैनेजर, मि० विलियम ब्रैडली, वहाँ न थे; वह मुजफ़्फ़रपुर में हम लोगों के साथ थे। इसलिए वह उस प्रान्त में अपने राजत्व की घोषणा कर राजस्व वसूल करने लगा। इस विद्रोह की खबर जब मुजफ़्फ़रपुर में मजिस्ट्रेट के पास पहुँची तब उसने मि० विलियम ब्रैडली और एक गोरे को, उस जमींदार को पकड़कर, मुजफ़्फ़रपुर लाने के लिए वहाँ भेजा। मि० ब्रैडली पिस्तौल लेकर उसके सम्मुख उपस्थित हुए, दरबार में बैठे हुए उसके सभी दरबारी एक-एक कर वहाँ से खिसक गये। मि० ब्रैडली ने उसके सिर पर पिस्तौल तान कर पूछा कि हमारे साथ मुजफ़्फ़रपुर चलने को तैयार हो या नहीं? वह निरुपाय था, अतएव उसने मुजफ़्फ़रपुर जाना स्वीकार कर लिया। मुजफ़्फ़रपुर में उसे दस वर्ष की क़ैद की सजा हुई। ('Tirhoot and its inhabitants of the Past' नामक पुस्तक में इस घटना का जिक्र आया है)।

"इसके बाद ही बरसात शुरू हो गयी, विद्रोहियों के उत्साह ठण्डे पड़ गये, दिल्ली के पतन का समाचार आ पहुँचा, जो पीछे चल कर गलत साबित हुआ, और देश में शान्ति-सी नजर आने लगी। विद्रोहियों का भय जाता रहा, हम लोग सपरिवार अपनी-अपनी कोठियों को लौटे।

"पर कुछ ही दिनों के भीतर पुनः अशान्ति के आसार नजर आने लगे। घर को लौटे अभी दस दिन भी नहीं हुए थे कि खबर पहुँची कि सुगौली के 12th Irregular Cavaly ने बग़ावत कर दी है। इसके साथ ही मेजर होम्स के—विद्रोहियों के हाथ—मारे जाने का सम्वाद भी पहुँचा। मेजर होम्स के मरने की खबर सुनकर हम सब दंग रह गये। जिन सिपाहियों ने मेजर होम्स के नायकत्व में न जाने कितनी लड़ाइयों में विजय प्राप्त की थी, उन्हीं के हाथ मेजर होम्स का मारा जाना सभी को बड़ा दुखदायी प्रतीत हुआ। मेजर होम्स सन्ध्या समय सपत्नीक टहलने जा रहे थे। उसी समय उन्होंने अपनी रेजिमेन्ट के कुछ सिपाहियों को अपनी ओर तेजी से आते देखा। उनके आने की मंशा क्या थी, यह वह तुरन्त समझ गये। उनके पास आने पर उन्होंने बड़ी करुणा-भरी आवाज में कहा—"मित्रो! मैं यह जानता हूँ कि तुम मेरी जान के प्यासे हो, ले लो इसे; पर कृपा कर इस अबला की जान न लो।" प्रत्युत्तर में बन्दुकें चलीं और वे दोनों वहीं साफ़ हो गये।

इसके बाद ही सुगौली के डॉक्टर का घर बलवाइयों ने जलाया, जिसमें डाक्टर और उनकी औरत जलकर भस्म हो गयीं। सुगौली में सिवा एक बच्चे के जिसे उसकी आया ने एक पड़ौसी के घर छिपा रखा था, कोई यूरोपियन न बचा।

"दानापुर के सिपाहियों ने भी विद्रोह किया। थोड़े समय ही में विद्रोह की आग चारों ओर फैल गयी। पटना के कमिश्नर ने मुजफ्फ़रपुर के कलक्टर की आज्ञानुसार, उस समय जितने यूरोपियन मुजफ्फ़रपुर में थे, वे सभी, खाना खा कर, रातों-रात दानापुर के लिए रवाना हो गये। सिर्फ़ मैं बच रहा। उसी दिन ढोली के मैनेजर, मि० जेम्स काक्स, की चिट्ठी मिली कि तुम खत देखते ही ढोली चले आओ', क्योंकि मुजफ्फ़रपुर में अकेले रहना उचित न था। हम लोग ढोली से पूसा जाकर वहाँ नदी की राह जितवारपुर चलेंगे और वहीं क़िलाबन्दी करके रहेंगे। फिर जो होना होगा, होगा।'

"पत्र पाते ही मैं ढोली के लिए रवाना हो गया। वहाँ पहुँच कर मैंने देखा कि मि० काक्स प्रस्थान करने के लिए तैयार बैठे हैं। पूसा पहुँच कर हम लोगों ने और भी कई आदमियों को जितवारपुर के लिए तैयार पाया। नदी में नाव तैयार थी, पूसा स्टड (अश्वशाला) के अफ़सर और हम लोग, बिना विलम्ब किये, जितवारपुर को रवाना हो गये। दूसरे दिन सुबह हम लोग जितवारपुर जा पहुँचे, जो समस्तीपुर शहर के पड़ोस में है।

"पूसा ही में हम लोगों ने सुना था कि मुजफ्फ़रपुर में सुगौली से आये हुए कुछ सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया है। कैप्टन बेकर मुजफ्फ़रपुर पहुँचकर सीधे मजिस्ट्रेट के बँगले पर गये, क्योंकि उन्हें यह नहीं मालूम था कि मजिस्ट्रेट इत्यादि सभी अफ़सर दानापुर के लिये प्रस्थान कर चुके हैं। पर वहाँ पहुँचकर उन्होंने सिर्फ एक बूढ़े नौकर को पाया, जिसने उन्हें देखते ही राय दी कि "साहब! तुम जल्द भाग जाओ, वर्ना तुम्हारी जान न बचेगी, क्योंकि विद्रोहियों ने अभी-अभी यहाँ एक आदमी को सिर्फ यह देखने के लिये भेजा था कि यहाँ कोई अंग्रेज है या नहीं।" कैप्टन बेकर की किस्मत अच्छी थी वे तुरन्त लौट आये। उसके लौटने के क़रीब दस ही मिनट बाद बलवाइयों ने जाकर बंगले को लूटा।

"जितवारपुर आये तीन दिन हो गये थे। कहीं की कोई खबर न मिल

सकी थी, चित्त व्याकुल हो रहा था, इतने में मेरा साईस आधी रात के वक्त मुजफ़्फ़रपुर से चिट्ठियों का बण्डल लेकर लौटा। उसने आते ही मुजफ़्फ़रपुर के सारे समाचार कह सुनाये। मजिस्ट्रेट के बंगले को लूटकर विद्रोही सवारों ने खजाने पर हमला किया; पर चूँकि खजाने की रक्षा करनेवाले हिन्दुस्तानी सिपाहियों को उनके दुर्विचार की खबर पहले ही लग चुकी थी, वे पहले ही से तैयार थे। विद्रोहियों के आते ही उन्होंने गोली चलानी शुरू कर दी, विद्रोही निरुपाय होकर शहर की ओर भाग चले। शहर के प्रमुख व्यवसाइयों और सेठ-साहूकारों ने पहले से ही कुछ 'नजीबों' (खजाने की रक्षा करनेवाले सिपाहियों) को अपने यहाँ बुला रखा था, अतएव जब शहर की सड़कों से विद्रोहियों का झुण्ड आगे की ओर बढ़ रहा था, सहसा उन सेठों के घर से गोलियों की बौछार होने लगी। वे भाग चले, कुछ सवारों ने जाकर शहर के बंगाली पोस्टमास्टर को एक घर के अन्दर बन्द कर रखा था ताकि वह मुजफ़्फ़रपुर के समाचार दानापुर न भेज सके।

"मुजफ़्फ़रपुर में किसी यूरोपियन अफ़सर के न रहने और सिपाहियों के विद्रोह की खबर सुनकर हम लोगों ने निश्चय किया कि जितवारपुर से तीन-चार वालंटियर वहाँ शीघ्र भेज दिये जाएँ, जो जाकर वहाँ की देख-भाल करें। दूसरे दिन प्रातःकाल पाँच-छः वालंटियर मुजफ़्फ़रपुर के लिए रवाना हुए। मुजफ़्फ़रपुर पहुँचकर उन्होंने देखा कि सारा शहर उजाड़-सा हो रहा है। पोस्ट आफिस पहुँचकर वे घोड़े से उतरे और आपस में परामर्श करने लगे कि अब क्या करना उचित है। इतने में शहर की ओर शोर सुनाई पड़ा, और पोस्ट आफिस की ओर आदमियों का एक बड़ा-सा झुण्ड बढ़ता नजर आया। वे बन्दूकें तान कर खड़े हो गये।

"थोड़ी देर ही में उन्होंने देखा कि मुजफ़्फ़रपुर के मजिस्ट्रेट और सरकारी स्कूल के हेडमास्टर घोड़ों पर सवार चले आ रहे हैं और उनके पीछे नगर-निवासियों का झुण्ड बढ़ता आ रहा है। उनके आनन्द की सीमा न रही। मजिस्ट्रेट ने मुजफ़्फ़रपुर पहुँचकर सबसे पहले नजीबों की तारीफ़ की और उन्हें पारितोषिक दिए। मजिस्ट्रेट के मुजफ़्फ़रपुर आ जाने पर हमारे मित्रों ने वहाँ ठहरना व्यर्थ समझा। अतएव वे डोली होते हुए जितवारपुर लौट आये। जितवारपुर में हम लोग कुछ दिन और ठहरे। यद्यपि कई बार

भय-सूचक घटनाएँ हुईं, पर वास्तविक मार-पीट का अवसर न आ सका। हम लोगों ने यह सोच रखा था कि यदि जितवारपुर में हम लोगों का ठहरना असम्भव हो जाएगा, तो हम लोग दौलतपुर चले जाएँगे, क्योंकि और स्थानों की अपेक्षा दौलतपुर कहीं अधिक सुरक्षित था। फिर दौलतपुर से गंगा की ओर चल कर प्राण-रक्षा करना भी कोई मुश्किल न था। दौलतपुर में हम लोगों ने खाद्य और अन्यान्य आवश्यक पदार्थों को पहले ही से सुरक्षित भी कर रखा था। पर इसकी जरूरत न आयी, क्योंकि मुजफ्फ़रपुर की दुर्घटना के कुछ दिनों बाद लखनऊ और दिल्ली का पतन हुआ, और सारे हिन्दुस्तान में पुनः अंग्रेजों की सत्ता स्थापित हो गई।"

उपर्युक्त विवरणों से दो बातें साफ़ तौर पर जाहिर होती हैं। एक यह कि गंगा की दूसरी ओर—उत्तर बिहार में—अंग्रेजों की अवस्था काफ़ी संकटापन्न थी; दूसरी, उनके बचानेवाले भी हिन्दुस्तानी ही थे। जाहिर है कि सन् सत्तावन के विद्रोह का दमन अंग्रेज कदापि न कर पाते यदि उन्हें हिन्दुस्तान ही के लोगों का साहाय्य न प्राप्त हुआ होता।

मुजफ्फ़रपुर के पास का जिला है चम्पारण। वहाँ मेजर होम्स नामक एक व्यक्ति अंग्रेजी सेना की एक टोली का अफ़सर था। आँख मूँदकर वह लोगों को फाँसी पर लटकाने लगा। २६ जून, १८५७ के एक सरकारी कागज में इसका इस प्रकार जिक्र है—'सारे जिले में मार्शल-ला जारी कर दिया गया है। सुगौली में मेजर होम्स बेतहाशा लोगों को फाँसी पर लटकाते जा रहे हैं। जिले के कलक्टर तक ने होम्स की इस नीति का विरोध किया; कहा, कि 'यह हमारे अधिकारों पर आघात है।' पर होम्स ने एक न सुनी। गोरखपुर से लेकर पटने तक वह मनमाने ढंग पर फ़ौजी शासन चलाता रहा, और दोषी-निर्दोषी सभी उसकी क्रूरता के शिकार बनते रहे। अन्त में १८५७ की २५वीं जुलाई की शाम को फ़ौज के चार उत्तेजित सिपाहियों ने उसकी पत्नी की हत्या कर डाली, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है।

गंगा के उस पार, दक्षिण-बिहार में, विद्रोह की आग जोरों से उमड़ उठी। छोटा नागपुर के मानभूम-जिले में पंचकोट (एक अति प्राचीन राज्य) के राजा नीलमणिसिंह विद्रोह में शामिल हो चुके थे। कहते हैं, पंचेट पहाड़ से नीचे फेंक-फेंककर उन्होंने प्रायः २०० अंग्रेजों की हत्या स्वयं अपने हाथों

कर डाली। दूसरी ओर सिंहभूम-जिले में पोरहत राज्य के अधिपति, अर्जुन-सिंह, के नेतृत्व में कोलों ने भी बलवा कर दिया। पलामू में नीलाम्बर साही और पीताम्बर साही नाम के दो प्रभावशाली जमींदार और राँची जिले के सलजी-ग्रामनिवासी, जगन्नाथ साही, भी बलवाइयों से जा मिले। परिस्थिति गम्भीर हो चली। पर विधाता वाम थे, कुँअरसिंह की पराजय ने उपर्युक्त विद्रोही नेताओं के मंसूबों पर पानी फेर दिया। वे हताश हो गये। शीघ्र ही बंगाल से आयी हुई अंग्रेजी सेना ने छोटा नागपुर के इस विद्रोह का भी अन्त कर दिया। अर्जुनसिंह भागकर काशी चले गये, और वहीं अपनी जीवन-लीला समाप्त की। अंग्रेज सरकार ने उनके राज्य का अपहरण कर लिया। पलामू के प्रायः सभी जमींदार अंग्रेजों के खिलाफ़ उठ खड़े हुए थे। खजाना, सरकारी दफ्तर, अफ़ीम-गोदाम, आदि सभी लूट लिये या जला डाले गये। नगर अंटारी के भैया साहब भगवानदेव इनके नेता थे। इन्हें भी अंग्रेजों द्वारा आगे कड़ी सजा भुगतनी पड़ी। २५ जुलाई, १८५७, को दानापुर (जिला पटना में विद्रोहाग्नि फूटी और फ़ौज की तीन पल्टनों ने बगावत कर दी। इनके सिपाही हथियारों के साथ शाहबाद-जिले में आकर दाखिल हुए और स्वनामधन्य बाबू कुँअरसिंह से जा मिले। सन् सत्तावन के ग़दर के इतिहास में कुँअरसिंह का नाम अमर रहेगा। वह भारतवर्ष के उन चन्द विद्रोही नेताओं में थे, जिन्होंने वृद्धावस्था के बावजूद भी अंग्रेजों के छक्के छुड़ाए थे और उन्हें परेशान कर डाला था। वह वीरता के प्रतीक थे, और उनकी तुलना राणा प्रताप और सांगा जैसे महान् वीरों ही के साथ की जा सकती है।

ऊपर १८४५ के उस षड्यन्त्र की चर्चा की जा चुकी है, जिसमें इस प्रान्त के बहुतेरे विशिष्ट व्यक्ति शामिल थे। कुंअरसिंह इन लोगों में अग्रगणी थे। उस वर्ष सारण-जिले के हरिहर क्षेत्र नामक देश-विख्यात मेले में इन षड्यन्त्रकारियों की एक बैठक ख्वाजा अली हुसैन अली खाँ के खेमे में हुई, जिसमें सूबे के बहुतेरे राजे-महाराजे, जमींदार और अन्य विशिष्ट व्यक्ति सम्मिलित हुए। इनमें कुँअरसिंह ही एक ऐसे व्यक्ति समझे गये, जिनके ऊपर नेपालाधीश को पक्ष में लाने का उत्तरदायित्वपूर्ण काम सौंपा गया था। नाना साहब आदि से भी उन्होंने भावी क्रान्ति के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार किया था, यह प्राप्त पत्रों से प्रमाणित है। दरअसल वह बंगाल-बिहार-अवध

के बलवाइयों के सबसे बड़े नेता और पथ-प्रदर्शक माने जाते थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जहाँ कहीं भी कोई बलवे में शामिल होता था, वह फौरन जगदीशपुर (कुँअरसिंह की राजधानी) की ओर उनसे मिलने को चल पड़ता था।

कुँअरसिंह की उद्भट वीरता

दानापुर की बलवाई-पल्टनों के स्वागत के लिए आरा में कुँअरसिंह ने पहले से प्रबन्ध कर रखा था। सोन नदी पार करने के लिए नावों का इन्तज़ाम भी किया था। आरा में कुँअरसिंह के साथ बाग़ी पल्टनों की भेंट हुई, और फिर दोनों ने मिलकर आरा शहर को अपने कब्जे में कर लिया। कैप्टन डनबर की अध्यक्षता में भेजी गयी अंग्रेजी सेना को, जिसमें सिख सैनिक भी सम्मिलित थे, हार खानी पड़ी। जनरल लायड ने तभी कमाण्डर-इन-चीफ़ को तार भेजकर कहा—"मुझे यह सूचित करते हुए खेद है कि आरा का अभियान हमारे लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ।" कैप्टन डनबर ने लिखा—"जिले की जनता एक साथ हमारे विरुद्ध हो उठी है।"

पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं से कुँअरसिंह के खिलाफ़ फ़ौजें भेजी गयीं। जिस बहादुरी के साथ कुँअरसिंह ने इनका मुकाबला किया, वह ग़दर के इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों में लिखा है। बीबीगंज, दुलौर, आदि स्थानों में जमकर युद्ध हुए। जगदीशपुर में ज़बर्दस्त मोर्चाबन्दी कर वह लड़े। पर अंग्रेज और सिख-पल्टनों की संख्या अत्यधिक होने के कारण अन्त में भोजपुर का इलाका छोड़ देना पड़ा। अपनी सेना के साथ वे मध्यभारत, अयोध्या, लखनऊ, आजमगढ़ आदि इलाकों में विचरते और अंग्रेजों के साथ लड़ते रहे। ११ अगस्त, १८५७ से १७ मार्च, १८५८ तक उनकी यही स्थिति रही। उन्होंने जगह-जगह अंग्रेजी सेना को हराया। गंगा पार करते हुए जब कुँअरसिंह का हाथ अंग्रेजी सेना के गोले से बेतरह जख्मी हो गया, तब, कहते हैं, उन्होंने अपनी तलवार से उस हाथ को काट कर गंगा को चढ़ा दिया। उनकी जाँघ में गोली लगी हुई थी, फिर भी वह अंग्रेजों के आतंक बने हुए थे। अन्त में वह पुनः जगदीशपुर पधारे। इसी बीच जगदीशपुर का विध्वंस हो चुका था—यहाँ तक कि देव-मन्दिर भी कैप्टन आयर

के ध्वंसकारी हाथों से न बच पाया। अपने दुष्कर्मों पर गर्व करते हुए आयर ने एक खत में लिखा था—"मैं शहर (जगदीशपुर) का ध्वंस कर रहा हूँ। राजप्रासाद और अन्यान्य इमारतों को बारूद से उड़ाने का प्रयत्न जारी है। आज मैंने एक हिन्दू-मन्दिर को, जिसके निर्माण पर काफ़ी रुपए कुंअरसिंह ने खर्च किए थे, करीब-करीब मिट्टी में मिला दिया है।"

कुंअरसिंह के जगदीशपुर पहुँचने की खबर सुनकर अंग्रेजों पर फिर आतंक छा गया। उनमें खलबली मच गयी। आरा के अंग्रेज अधिकारी घबरा उठे। अंग्रेजी सेना ने लि-ग्रांड की अध्यक्षता में जगदीशपुर पर हमला किया, पर अस्सी वर्ष के इस वृद्ध के प्रत्याघात से उसके पाँव उखड़ गए। वह भाग चली। कुंअरसिंह के भ्राता, अमरसिंह, ने अपनी तलवार से लि-ग्रांड का सिर काट डाला। पर अफ़सोस कि इस विजय के बाद ही वयोवृद्ध बाबू कुंअरसिंह उस धाम के पथिक हो गये, जहाँ जाकर कोई लौटता नहीं। इस तरह स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर प्राणोत्सर्ग करनेवाले इस वीर योद्धा की अनेक आकांक्षाएँ अपूर्ण ही रहीं। उनकी मृत्यु पर पटना के तत्कालीन कमिश्नर सेमुअल्स ने छोटे लाट को लिखा था—"कुंअरसिंह एक बड़ा वीर पुरुष था, मेहनती भी। यदि उसकी सैनिक शिक्षा आधुनिक ढंग पर हुई होती, तो वह बड़े उच्च श्रेणी का सिपहसालार बन सकता था।" दुश्मन के मुँह से प्रशंसा के इतने शब्द भी थोड़े नहीं हैं!

कुंअरसिंह-सम्बन्धी लोक-गीत

बिहार के इतिहास में कुंअरसिंह एक कहानी बन गये हैं। न जाने कितने लोक गीतों में उनकी बहादुरी की चर्चा है। होली के अवसर पर गाये जानेवाले एक गीत की पंक्तियों को देखिए—

बाबू कुंअरसिंह तोहरे राज बिनु
अब न रंगइबो केसरिया।
इतले अइले घेरि फिरंगी, उतते कुंअर दुई भाई,
गोला बरन्द के चले पिचकारी, बिचवा में होति लड़ाई।
बाबू कुंअरसिंह तोहरे राज बिनु
अब न रंगइबो केसरिया।

अर्थात्, हे बाबू कुँअरसिंह ! हमारी यह प्रतिज्ञा है कि बगैर आपके राज्य को वापस लाये हम केसरिया रंग में अपना बाना न रंगायेंगे।

तत्कालीन एक कवि 'गंगा' ने उनके सम्बन्ध में लिखा था—

समर में निसंक बंक बांकुरा बिराजमान,
सिंह के समान सोहे सेना बीच निज दल के।
कमर में कटारी सोहे, करखा से बातें करे,
उछल-उछल सिर काटे शत्रु बाहु दल के।
बायों हाथ मोछिन पै ताव देत बार-बार,
दाहिनी समसेर बाके बिजुरी-सम चमके।
कहे कवि 'गंगा' जगदीशपुर कुँअरसिंह,
जाको तलवार देखि गोरन-दल दलके।

और एक दूसरे अज्ञात कवि ने कहा है—

सिक बनी सूरमा सुजान सहजादाजी को,
सिक्ख मन्दराजी गुमान गर्व टूट गये।
कीन्हों घमासान बाबू कुँअरसिंह मैदान,
मारे मरदान सारे लाटन को लूट गये।

गरज यह कि यद्यपि बाबू कुँअरसिंह आज से प्रायः सौ साल पहले अपना पार्थिव शरीर त्याग गये, पर उनका यश-शरीर आज भी विद्यमान है।

अमरसिंह का संघर्ष और अन्त

कुँअरसिंह के देहावसान के बाद उनके भ्राता, बाबू अमरसिंह ने युद्ध जारी रखा और वह बड़ी बहादुरी से लड़ते रहे। १८ जून, १८५८ के अपने एक खत में पटना के तत्कालीन कमिश्नर ने कलकत्ता-गवर्नमेण्ट के पास लिखा था—'अमरसिंह और उनके सैनिक, जो सोन की दूसरी ओर चले गये थे, यह सुनकर कि जनरल लुगार्ड चले गए, पुनः लौट आये हैं। कल जगदीशपुर से चन्द मील पूर्व शीरव गाँव में वे नजर आये। क़रीब १,००० आदमी थे, जिनमें सिपाही तो थे ही, कुछ ग्रामीण लोग भी शामिल थे।' अमरसिंह ने आगे चलकर जगदीशपुर-इलाक़े पर पूरा कब्जा कर लिया और एक स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन करने लगे। उन्होंने अपना सिक्का भी

चलाया, जिस पर 'सिक्के जवशाह कुँअरसिंह पर चलायत कम्पनी' खुदा हुआ था। शासन में उनकी न्याय-परायणता का परिचय इसी से मिलता है कि एक बार उन्होंने एक सैनिक को इसलिए फाँसी की सजा दे डाली थी कि उसने एक निर्दोष बनिये पर जुल्म किया था। पर अंग्रेजों ने अमरसिंह का पीछा न छोड़ा। उन्होंने हावेल के नेतृत्व में एक जबर्दस्त फ़ौज भेजी। मुठ-भेड़ हुई। अमरसिंह और उनके सिपाही कसकर लड़े। पर अन्त में संख्या और हथियार, दोनों ही दृष्टियों से, बढ़ी-चढ़ी अंग्रेजों की सेना के सम्मुख वे अधिक काल तक न ठहर सके। नाना साहब भागकर नेपाल जा चुके थे। अमरसिंह भी वहीं चले गये। नेपाल के प्रधान मन्त्री राणा जंगबहादुर ने बड़ी धूर्तता से उन्हें अपने कब्जे में कर अंग्रेजों के हवाले कर दिया। गोरख-पुर जेल में वह रखे गये। अभी अंग्रेजी सरकार यह तय न कर पायी थी कि उन पर किस जुर्म के लिए और कहाँ मुकद्दमा चलाया जाए कि अतिसार रोग से गोरखपुर के जेलखाने में ५ फरवरी, १८५९ को उन्होंने भी अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

कहते हैं कि सिपाही-विद्रोह के आरम्भ में अमरसिंह उसमें हिस्सा लेने के खिलाफ़ थे, पर बाबू कुँअरसिंह के बार-बार कहने पर उन्होंने इसमें शामिल होना स्वीकार किया था। 'चिठिया जे लिखि-लिखि भेजे कुँअरसिंह, सुनहु अमरसिंह भाई'—लोकगीत की इस पंक्ति में इसी की ओर संकेत है। किन्तु युद्ध-क्षेत्र में उतर आने के बाद अमरसिंह ने भाई का दिलोजान से साथ दिया और एक नहीं, अनेक बार अंग्रेजों के दाँत खट्टे किये। एक तत्कालीन कवि के शब्दों में—

जैसे मृगराज गजराज के भुण्डन में,
प्रबल प्रचण्ड सुण्ड खण्डन उदण्ड है।
जैसे बाज लपकि लपेटि के लवान दल,
दल मल डारति प्रचारित विहंग है।
कहें 'शिव' कवि जैसे गरुड़ गरब गहि,
अलि-कुल दण्डि-दण्डि मेटत घमण्ड है।
वैसे ही अमरसिंह कीरति अमर मण्डि,
फौज फिरंगानि को करी सुखण्ड-खण्ड है।

जिन दिनों बाबू कुँअरसिंह बिहार छोड़कर पश्चिम की ओर चले गये थे, बिहार में विद्रोह जारी रखने का काम अमरसिंह के कन्धों पर आ पड़ा था। उन्होंने बड़ी बहादुरी के साथ इस काम को अंजाम दिया। छापामार-युद्ध में उन्होंने बड़ी दक्षता दिखलायी। उन्होंने जन-समाज की सहानुभूति को इस तरह हासिल कर लिया कि गाँवों में सरकारी पुलिस का जाना मुश्किल हो गया। गाँववाले उसे क्षण-भर ठहरने नहीं देते थे, खाने-पीने का सवाल तो दरकिनार। पटना के तत्कालीन कमिश्नर की एक रिपोर्ट की ये पंक्तियाँ इस बात की गवाह हैं—"जब कुँअरसिंह आरा छोड़कर पश्चिम की ओर चले गये, तब शाहाबाद जिले के राजपूत और दूसरे ग्रामवासी बागियों को पकड़ने में हमें किसी भी तरह की मदद नहीं देते थे। कई बार तो संगठित प्रतिरोध कर उन्होंने पुलिस को भी गाँव से बाहर निकाल दिया, जब वह बागियों को पकड़ने उनके गाँवों में गई थी।"

जनता का सहयोग-समर्थन

संयुक्त प्रान्त (उ० प्र०) की अवस्था भी बिहार से भिन्न न थी। जहाँ कहीं भी विद्रोही पल्टन पहुँचती थी, उसका जन-समाज स्वागत करता था, जो सरकारी खानगी कागजात से साफ़-साफ़ परिलक्षित है। २८ मई, १८५७ की गुप्त मन्त्रणा सं० ५८ की एक पंक्ति है—"गाजीपुर में उन्होंने (कुँअर-सिंह) ने अपने को मित्रों के बीच पाया और उनकी फ़ौज की आवश्यकताओं को गाँववाले, जो सबके-सब उनके पक्ष में थे, स्वयं मुहय्या कर देते थे।"

जब कुँअरसिंह और अमरसिंह दोनों दृश्य-पट से अन्तर्धान हो गये, तब भी बलवाइयों ने युद्ध नहीं छोड़ा। कुँअरसिंह-अमरसिंह के अलावा भी बहुतेरे विशिष्ट व्यक्ति बलवाइयों का नेतृत्व कर रहे थे। इनमें रीतनारायण सिंह, निशान सिंह, जयकृष्ण सिंह, नरहन सिंह, जूहन सिंह, ठाकुरदयाल सिंह, विश्वेश्वर सिंह, सीधा सिंह, मेघर सिंह और जेवधर सिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पलामू, शाहाबाद, गाजीपुर, नेपाल की पहाड़ियों में घूमते हुए सीधासिंह अंग्रेजी पल्टन, अदालत आदि पर छापा मारते रहे। १८५६ के मई-जून तक शाहाबाद ही नहीं, बल्कि हाजीपुर, छपरा, सिवान, मोतिहारी आदि स्थानों में बलवाइयों ने छापामार-युद्ध को क़ायम

रखा। पटने के नये कमिश्नर, फर्ग्युसन ने १३ अप्रैल, १८५६ को बंगाल-सरकार के सचिव को लिखा—"इस बात की सर्वत्र चर्चा है कि बलवाइयों का सारा खर्च नेपाली सहन कर रहे हैं। यही नहीं वे इनका साथ तक देने को सोच रहे हैं।"

पराभव और प्रतिशोध

पर १८५६ के समाप्त होते-होते बलवाइयों का दम टूट गया। दिल्ली और कानपुर से मुक्ति पायी हुई अंग्रेजों की सेना बिहार आ पहुँची। विद्रोहियों के पास अब न तो कुँअरसिंह-अमरसिंह जैसे नेता रह गए थे, न साधन ही। अतएव अधिक दिनों तक युद्ध जारी रखना उनके लिए कठिन ही नहीं, असम्भव हो रहा था। फलतः सन् सत्तावन का यह स्वातन्त्र्य-संग्राम बिहार में भी अवसान को प्राप्त हुआ। पर आनेवाली पीढ़ियों के लिए वह अपनी सुखद स्मृति छोड़ गया। निस्सन्देह कुँअरसिंह-अमरसिंह, दोनों बिहार के तत्कालीन रंगमंच के अति श्रेष्ठ अभिनेता हैं, और उनके नाम अमर हैं। केवल ये दोनों भ्राता ही नहीं, बल्कि इनका सारा परिवार ही देश के लिए बलिदान हो गया। कहते हैं कि अंग्रेजों ने जगदीशपुर को घेर लिया, तब इनके सम्मुख सबसे जटिल प्रश्न औरतों के बचाव का था। पर इसका समाधान इस वीर परिवार की उन वीरांगनाओं ने स्वयं कर दिया। उनके अनुरोध को स्वीकार कर अमरसिंह ने स्वयं तलवार लेकर परिवार की समस्त औरतों के सिर उतार डाले और इस प्रकार उन्होंने वंश-मर्यादा की रक्षा की।

अंग्रेजों ने जिस भीषण ढांचे पर ग़दर का बदला लिया, वह सर्वविदित है। कहते हैं कि शाहाबाद, सारण आदि जिलों की प्रधान सड़कों के दोनों ओर के दरख्तों पर फांसी से लटकाये हुए बलवाइयों और उनके सहायकों के शव हफ्तों तक यों ही टंगे रहे। उन्हें हटाया नहीं गया, ताकि देखनेवाले इससे भयभीत होकर शिक्षा ग्रहण करें।

संक्षेप में बिहार में, पलासी के युद्ध के बाद से, सन् सत्तावन के ग़दर तक विद्रोहों तथा षड्यन्त्रों का जो अंग्रेजी-शासन के खिलाफ़ आयोजित हुए थे, यही इतिहास है। उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि सौ साल की इस

अवधि में यहाँ अंग्रेजों के प्रति विद्रोह की भावना काफ़ी परिणाम में बनी रही और बिहार का सूबा अंग्रेजी सत्ता को पूरी तरह स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता रहा। समय-समय पर जमींदारों के बीच जो षड्यन्त्र चलते रहे अथवा १७६४ का फ़ौजी बलवा इस बात के साक्षी हैं। निस्सन्देह सन् ५७ के विद्रोह की पृष्ठ-भूमि इस सूबे में पिछले सौ वर्षों से तैयार होती आयी थी और यह ग़दर बहुतों के लिए अपनी संचित अंग्रेजी-विरोधी भावना को सक्रिय रूप का एक निमित्त था।

कुछ इतिहासकारों का अलाप

खेद है कि इधर कुछ भारतीय इतिहासकार यह प्रमाणित करने पर तुले हुए हैं कि सन् सत्तावन का ग़दर कोई स्वतन्त्रता का युद्ध नहीं था, महज फ़ौज के कुछ सिपाहियों की, धर्म-सम्बन्धी बातों को लेकर, उभाड़-मात्र था। यही नहीं, जिन सामन्तों ने इसमें हिस्सा बँटाया, और विद्रोही नेता बने, वे केवल निजी स्वार्थ से प्रेरित थे, उन्हें अपनी अपहृत सम्पत्ति लौटाने की चिन्ता थी, उनके हृदय में देश-प्रेम या देश-भक्ति की लहर या प्रेरणा न थी। ग़दर मुक्ति-युद्ध नहीं, इन्हीं सामन्तों और फ़ौज के कुछ लुटेरे सिपाहियों का विद्रोह था, यह देश की जनता का व्यापक स्वाधीनता-संग्राम नहीं था। ग़रज यह कि उनके विचार में, सन् सत्तावन का ग़दर स्वतन्त्रता की लड़ाई नहीं थी। मुग़ल-वंश के अन्तिम बादशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र', के सम्बन्ध में भी उनका कहना है कि वह भीतर-भीतर अंग्रेजों से मिले हुए थे, बलवाइयों को धोखा दे रहे थे, इत्यादि। कितने दुख और परिताप का विषय है कि हमारे ये इतिहासकार, व्यक्तिगत कारणों से, इस तरह की ग़लत-फ़हमियाँ, भ्रान्तियाँ, फैलाने में संलग्न हैं। बिहार के जिन षड्यन्त्रों का जिक्र हमने ऊपर किया है, क्या वे इस बात का खण्डन नहीं करते? यह सही है कि कुछ जमींदारों और सामन्तों के राज्य अंग्रेजों ने हड़प लिए थे, पर टिकारी, हथुआ, पंचकोट, जगदीशपुर, आदि के विद्रोही राजाओं-जमींदारों के राज्य उन्होंने कब लिये? यहाँ हमें यह न भूलना चाहिए कि जमाना लोकतन्त्र का नहीं था। उन दिनों देश के राजे-महाराजे-जमींदार ही जनता के अगुआ माने जाते थे। जनता की नेतागीरी इन्हीं लोगों के हाथ में थी। इसका

विद्रोह जन-विद्रोह था; और जिस खुशी से, मुस्तैदी के साथ, अपने-आप गाँव की जनता इनका स्वागत करती थी, सुविधाएँ देती थी, क्या वे इस बात के प्रमाण नहीं हैं कि देश का जन-समाज पूरी तरह इनके साथ था ?

अंग्रेजों के प्रमाण

बहादुरशाह के सम्बन्ध में भी जो बातें कही गयी हैं, वे निराधार और अनर्गल हैं। पिछले वर्ष मुझे पंजाब सरकार के सचिवालय और रेकार्ड-संग्रहागारों के गदर सम्बन्धी कुछ कागजात देखने का मौका मिला। इनमें मुझे सरकारी और फ़ौजी अफ़सरों की वे रिपोर्टें मिलीं, जो गदर के दिनों में दिल्ली से रोजाना लाहौर भेजी जाती थीं। इनके साथ उन खुफ़ियों के बयान भी थे जिन्हें अंग्रेजों ने मुगल बादशाह बहादुरशाह के खिलाफ़ नियुक्त कर रखा था। कुछ तो ऐसे थे, जो छल-प्रपंच द्वारा लाल क़िले के भीतर ही शाही नौकर बनकर रह रहे थे। इन सारे बयानों से यह साबित होता है कि बहादुरशाह बड़ी मुस्तैदी के साथ विद्रोह के साफल्य की कामना कर रहे थे, और एतदर्थ यत्नशील थे।

पूर्वोक्त कागजों ही में मुझे एक खत मिला जो दिल्ली के तत्कालीन कमिश्नर 'सेंडर्स' ने पंजाब के चीफ कमिश्नर के सेक्रेटरी के नाम (लाहौर) १६ अप्रैल, १८५८ को लिखा था। उसकी ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—"जिस मिर्जा हैदर शिकोह का मैंने अपनी पिछली रिपोर्ट में जिक्र किया है, वह दिल्ली के भूतपूर्व शाह और अवध के नवाबों के उस षड्यन्त्र में शामिल था, जिसका उद्देश्य था दिल्ली में फिर से मुगलों की सत्ता स्थापित करना और ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकना। उसका भाई ईरान में है। वहाँ से ब्रिटिश राजदूत मि० मरे ने जो रिपोर्ट भेजी है और जो बातें भूतपूर्व शाह मुक़द्दमे से प्रकाश में आयी हैं, उनसे स्पष्ट है कि वह सक्रिय रूप से ईरान से ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के इस उद्योग में सहायता प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा था।" ये उस लेख के शब्द हैं, जिसकी सचाई में सन्देह नहीं किया जा सकता। क्या इन प्रमाणों के बाद भी वे भारतीय इतिहासकार, जिनका ऊपर उल्लेख है, यह कहेंगे कि बहादुरशाह 'ज़फर' अन्दरूनी तौर पर अंग्रेजों से मिले हुए थे या सन् सत्तावन का गदर स्वतन्त्रता का संग्राम नहीं था।

२

वैशाली का वैभव

भारतवर्ष का यह गौरव है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व, जब संसार के अधिकांश हिस्से या मुल्क गणतन्त्र का नाम तक नहीं जानते थे, इस देश ने कई गणतन्त्रों को जन्म दिया था। उनमें से एक महागणतन्त्र था, जिसकी राजधानी का नाम वैशाली था। पौराणिक आख्यानों के अनुसार वैशाली का निर्माण नेदिष्ट-वंशज मनु-पुत्र, राजा विशाल, ने किया था। राजा विशाल के गढ़ का ध्वंसावशेष अब भी यहाँ वर्तमान है। वाल्मीकि की रामायण और भागवत पुराण जैसे प्राचीन ग्रन्थों में यह राजा विशाल के द्वारा निर्मित बतायी गयी है—

"विशालो वंशकृद् राजा वैशाली निर्ममे पुरीम्"—ऐसा श्रीमद्भागवद् पुराण में कहा गया है।

प्रसिद्ध विद्वान, जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि, के मतानुसार विदेह देश की राजधानी कालान्तर में मिथिला से उठकर वैशाली आ गयी थी। उन्होंने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर लिखा है कि "विदेह का राजा कराल जनक बड़ा कामी था। एक कन्या पर आक्रमण करने के कारण प्रजा ने उसे मार डाला। कराल शायद विदेह का अन्तिम राजा था, सम्भवतः उसकी हत्या के बाद ही वहाँ राजसत्ता का अन्त हो गया, और संघ-राज्य स्थापित हुआ। सातवीं या छठी शताब्दी ई० पू० में विदेह के पड़ोस में वैशाली में भी संघ-राज्य था, जहाँ लिच्छवि रहते थे। विदेहों और लिच्छवियों के पृथक्-पृथक् संघों को मिलाकर फिर इकट्ठा एक ही संघ या गण बन गया था जिनका नाम वृजि (या वज्जि) गण था। समूचे वृजि संघ की राजधानी भी वेसाली (वैशाली) ही थी। उसके चारों ओर तिहरा परकोटा था, जिसमें स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े दरवाजे और गोपुर (पहरा देने के मीनार) बने हुए थे।"

(प० इ० ए० इण्डिया पृष्ठ ३११ पर भी लिच्छवि और वृजि को

पर्यायवाची शब्द बताया गया है।)

इस गणतन्त्र की राजधानी, वैशाली, संसार के अति प्राचीन नगरों में—प्राचीनतम ऐतिहासिक स्थानों में—से एक है। यद्यपि इस नगर का निर्माण बौद्धकाल के बहुत पहले हुआ था, इसका वास्तविक अभ्युदय बौद्ध-काल ही में हुआ। पाली भाषा के ग्रन्थों से पता चलता है, कि पाटलिपुत्र के पूर्व वैशाली ही मगध की राजधानी थी। राजा बिम्बिसार ने लिच्छवियों को मगध से भगाया और लिच्छवि राजकुमारी चेल्लना को भार्या रूप में ग्रहण किया।

इस गणतन्त्र के संचालक वृज्जि जाति के लोग थे, जिनकी आठ उप-जातियाँ थीं। इनमें लिच्छवि सबसे श्रेष्ठ थे और इतिहास में इनका बार-म्बार प्रमुख रूप से उल्लेख आता है।

समस्त वृज्जि, खास कर लिच्छवि, बड़े रणकुशल थे; साथ ही उनमें अनेक ऐसे गुण भी थे जिनके कारण वे उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचे हुए थे। उनकी कीर्ति-पताका चारों ओर फहरा रही थी। प्राचीन ग्रीस देशीय स्पार्टन जाति के लोगों के साथ इनकी सम्यक् रूप से तुलना की जा सकती है।

'समयुत्त निकाय' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि भगवान् बुद्ध ने, वैशाली के युवकों को दिखा कर, एक बार अपने साथ के भिक्षुओं से कहा था—'ओ भिक्षुओ! देखो इन नौजवान लिच्छवियों को। कैसे ये लकड़ी के कुन्दों को तकिया बना कर सोते हैं। ये जैसे परिश्रमी और उद्योगी हैं, वैसे ही तीर चलाने में इनका उत्साह प्रशंसा के योग्य है।'

भगवान् के जीवन से वैशाली का सम्बन्ध या सम्पर्क आरम्भ से बड़ा घनिष्ठ रहा। महावस्तु में लिखा है कि छात्रावस्था में 'आलार कालाम' नामक एक संन्यासी से वैशाली में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की; फिर राजगृह जाकर 'उद्रक रामपुत्र' के शिष्य बने। वैशाली में उन दिनों जैन धर्म का बोलबाला था, पर शीघ्र ही एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई जिसने बौद्ध-धर्म के पाँव वहाँ जमा दिये।

कहते हैं, वैशाली में एक बार घोर अकाल पड़ा, साथ-साथ जोरों से प्लेग का प्रकोप भी हुआ। बड़े-छोटे सभी 'त्राहि-त्राहि' करने लगे, तरह-तरह के

भौतिक उपचार हुए, पूजायें हुईं, पर किसी तरह ये कम न हुए। अन्त में—जैसा महावस्तु में लिखा है— एक प्रतिनिधि-मण्डल, कुमार तोमर के नेतृत्व में, महाराज बिम्बिसार से मिला और उनसे अनुरोध किया कि वह भगवान् बुद्ध को वैशाली पधारने के लिए राजी करें। उनका ख्याल था कि यदि भगवान् पधारेंगे तो उनके सारे कष्ट मिट जाएँगे। भगवान् ने प्रार्थना स्वीकार कर ली और वैशाली के लिए प्रस्थान किया। महाराज बिम्बिसार स्वयं गंगा-तट तक उन्हें पहुँचा गये। नदी की दूसरी ओर, लिच्छवियों ने बड़ी धूम-धाम के साथ उनका स्वागत किया।

वैशाली पहुँच कर भगवान् के प्रिय शिष्य आनन्द ने 'रत्न सुत्त' का पाठ किया। इसके समाप्त होते ही लिच्छवियों की सारी विपत्ति मिट गयी और उन्होंने बौद्ध-धर्म को अंगीकार किया। भगवान् बुद्ध ने वैशाली पर आध्यात्मिक विजय पायी।

इसके बाद भी भगवान् ने कई बार वैशाली की यात्रा की। जब वह कई बार वैशाली पधारे, तब चलते समय नगरद्वार पर खड़े हो कर उन्होंने वैशाली नदी की ओर देखा और अपने प्रधान शिष्य आनन्द से कहा—'इदं पच्छिमकं, आनन्द! तथागतस्स वेसालि दस्सनं भविस्सति।'

भगवान् के इन शब्दों से साफ़ जाहिर है कि वैशाली उन्हें अतिशय प्रिय थी। भगवान् बुद्ध को वैशाली कितनी प्रिय थी और वैशाली निवासियों को वह कितने प्रिय थे, यह इन दो बातों से परिलक्षित होती है—

जब वह वैशाली से कुशीनगर जाने लगे तो वैशाली की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि वह कुछ दिन और वहाँ ठहरें, पर उन्हें यह मंजूर न हुआ और वह उत्तर दिशा की ओर चल पड़े। लोग भी उनके पीछे-पीछे चले और एक भीड़-सी लग गई। भगवान् नहीं चाहते थे कि वे उनके साथ जायें, अतः उन्होंने अपने और अनुगामी लोगों के बीच एक जल की तीव्र धारा प्रवाहित कर दी ताकि वे लोग आगे न बढ़ सकें। उनके भक्तिभाव से द्रवित होकर भगवान् ने लिच्छवियों को अपना भिक्षा-पात्र दे दिया जो सदियों तक उनके पास रहा। वे उसकी पूजा करते रहे। फिर कई शताब्दियों के बाद जब भारत में महाराज कनिष्क की शक्ति का उद्भव हुआ तो वह उनके द्वारा पुरुषपुरा (वर्तमान पेशावर) ले जाया गया। वहीं प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहि-

यान ने उसे देखा था।

भगवान् बुद्ध के स्वर्गारोहण के बाद लिच्छवियों ने उनके शरीर के भस्म का एक अनुष प्राप्त करके उसे एक डिब्बे में रखा था। वह विषयक पुष्करनी के समीप एक स्तूप में रखा हुआ था। कालान्तर में वैशाली की और चीजों के साथ-साथ यह भी पृथ्वी के गर्भ में चला गया। अभी पिछले वर्ष जब वैशाली के ध्वंस-प्राप्त स्थानों की खुदाई हो रही थी तो यह जिसकी चर्चा बौद्ध ग्रन्थों में पाई जाती थी पर वह मिल न सका था, अचानक डिब्बे में बाहर निकल आया। ताज्जुब तो यह है कि इतने दिनों तक भू-गर्भ में रहने पर भी ज्यों का त्यों बना हुआ है।

मगध का राजा, अजातशत्रु वैशाली के इस गणतन्त्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। उसने भगवान् बुद्ध से एक दिन पूछा कि क्या उसकी यह मनोकामना पूरी हो सकेगी ? उत्तर में भगवान् ने कहा—

"जब तक वृज्जियों में पारस्परिक प्रेम और एकता बनी रहेगी, जब तक वे आपस में मन्त्रणा कर सामुहिक रूप से कामों को करेंगे, जब तक वे अपने वृद्ध तथा स्त्रीजनों का आदर करते रहेंगे, आश्रितों पर अत्याचार नहीं करेंगे, न्याय के पथ पर चलते रहेंगे, जब तक वे आत्म-संयम और मानवता को अपने अन्दर जीवित रखेंगे, तब तक उन्हें कोई भी शक्ति पराजित न कर पायेगी।"

निस्सन्देह जब तक उनमें ये गुण बने रहे, वे पराजित नहीं हुए। जब उन्होंने इन गुणों को ठुकरा दिया, पारस्परिक प्रेम, एकता और विश्वास को, जो उनकी समृद्धि की नींव थे, त्याग दिया, तभी उनके बुरे दिन आये। इसकी भी एक रोचक कहानी है।

वृज्जियों—लिच्छवियों—की पराजय के लिए अजातशत्रु ने भेदनीति से काम लिया। उसने दिखावट के लिए अपने चतुर प्रधान मन्त्री को एक दिन भरी सभा में, यह कह कर कि वह वैशाली के गणराज्य का पक्षपाती है, कड़े शब्दों में फटकारा। इसके बाद उस मन्त्री ने कुछ प्रेमोपहार लिच्छवियों को भेजे। इस पर मगधराज ने क्रोधित होकर हुक्म दिया कि उसका सिर गंजा कर दिया जाए। मन्त्री ने इस पर अपना इस्तीफ़ा लिख भेजा और वह सीधे वैशाली चलता बना।

लिच्छवियों में कुछ ऐसे थे, जो उसके स्वागत के विरोधी थे; पर अधिकांश उस मंत्री के समर्थक थे, अतः अन्त में बड़ी आव-भगत के साथ उसका स्वागत किया गया—यह जान कर कि उनके कारण ही उसका मगधराज के द्वारा इतना अपमान हुआ। कुछ ही दिनों में वह उनका सलाहकार बन बैठा। बस क्या था, अब उसने अपनी भेद-नीति का पासा फेंकना शुरू किया। अलग-अलग लोगों से खानगी में वह बातें करता और उनके खाने-पीने के सम्बन्ध में पूछता। दूसरे समझते कि उसने उससे कोई महत्त्व की बात कही है। उससे इसके सम्बन्ध में पूछताछ करते तथा यह सुन कर कि उसने केवल खान-पान का ही तजकिरा किया है, उसकी बातों पर विश्वास न कर सोचते कि उसने जरूर बातें छिपायी हैं। इस प्रकार क्रमशः उसके बोये हुए अविश्वास के बीज जड़ पकड़ते गये। उन पौधों से पारस्परिक मनमुटाव के वृक्ष उग आये। अब उसने एक को दूसरे के खिलाफ़ उभाड़ना भी शुरू किया और अनुकूल परिस्थिति देखकर अन्त में अजातशत्रु को वैशाली पर आक्रमण करने का परामर्श दिया। अजातशत्रु, जो इसी मौके का इन्तजार ही कर रहा था, तत्काल एक बड़ी सेना के साथ आ धमका और नगर को घेर लिया। बार-बार शंख बजे, नगारे बजाये गये पर पारस्परिक द्रोह के कारण कोई लड़ने को तैयार न हुआ। वे एक दूसरे के सम्बन्ध में यही कहते रहे कि वे क्यों नहीं जाते, हम तो बुरे हैं, वे बड़े अच्छे हैं, जाएँ, लड़ें, आदि। फलतः वैशाली को अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धो देना पड़ा। फिर भी बहुत दिनों तक यह नगरी धनधान्य से समन्वित रही।

चीनी यात्रियों ने समय-समय पर वैशाली की यात्रा की और अपने यात्रा-विवरणों में इसका जिक्र किया है। उनके कथनानुसार वैशाली की परिधि २० मील की थी और वहाँ आम, केले, आदि, सुस्वादु फल-वृक्षों का बाहुल्य था। घर-घर में जवाहिरात भरे थे, स्त्री-पुरुष देखने में अत्यन्त सुन्दर, कलाओं-नृत्य, संगीत आदि में निपुण थे। स्त्रियाँ पुष्पाभरणों से अपने को सजातीं और बसन्तकालीन उत्सवों में बड़े उत्साह से भाग लेती थीं। पर थीं वे बड़ी चरित्रवान्। कहते हैं, इस गणतन्त्र में सबसे बड़ी सजा उस व्यक्ति को—स्त्री अथवा पुरुष को—दी जाती थी जो दुश्चरित्र प्रमाणित हो।

लिच्छवि कौन थे और कहाँ से आये थे, इसके सम्बन्ध में खासा मत-भेद है। विद्वानों ने तरह-तरह के अटकल लगाये हैं, दलीलें पेश की हैं, पर इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना उनके लिए कठिन बना रहा है। कइयों का मत है कि वे तिब्बत से आए हुए तिब्बती थे क्योंकि उनके कई रस्मो-रिवाज तिब्बतवालों से मिलते हैं; पर ये ऐसे जबर्दस्त प्रमाण नहीं हैं जिससे कि यह मान लिया जाए कि वे तिब्बती थे। यदि दोनों के कुछ रस्मो-रिवाज मिलते हैं तो इसका कारण यह है कि बौद्ध काल में भारत और तिब्बत का बौद्ध धर्म के कारण बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क था। अतएव वे एक दूसरे को प्रभावित करते रहते थे। साथ ही यह भी स्मरणीय रहे कि तिब्बत में आखिर कोशल ही के एक राजकुमार 'बसनपो' ने जाकर तो राजवंश की नींव डाली थी। वह तिब्बत का प्रथम लोकपाल निर्वाचित हुआ था। अतएव यदि तत्कालीन भारतीय और तिब्बती रस्मो-रिवाज में किसी क़िस्म की समानता पायी गयी तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

वैशाली की शासन-पद्धति एक विशेष प्रकार की थी। वृज्जियों के ७७०७ विशिष्ट परिवार थे, जिनका मुखिया 'राजा' कहलाता था। इनकी एक सभा या पंचायत थी और इसी के द्वारा वैशाली का शासन होता था। बहुमत से बातें तय होती थीं। आज हमारा देश एक रिपब्लिक है, पर कितनों को यह पता है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व भी इस देश के अनेक हिस्सों में एक प्रकार की 'रिपब्लिक'—शासन-पद्धति चल रही थी।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के प्रायः ११० साल के बाद बौद्धों में यह बहस चल पड़ी कि बौद्ध भिक्षुओं को धार्मिक मामलों में कुछ विशेष स्वतन्त्रता दी जाए या नहीं। इसे तय करने के लिए वैशाली में एक बौद्ध-सम्मेलन—इतिहास-प्रसिद्ध बौद्ध-सम्मेलन—बुलाया गया। कई दिनों तक तर्क-वितर्क चलते रहे, पर वैशालीवालों का अधिक स्वतन्त्रता देने का यह प्रस्ताव पारित न हो सका। वैशाली में सभा हो रही थी, फिर भी बहुमत उनके विरुद्ध गया। यह तत्कालीन जनतन्त्रात्मक प्रवृत्ति और विचार-स्वातन्त्र्य का प्रबल परिचायक है।

मौर्यों के समय ऐसा प्रतीत होता है कि वैशाली ने पुनः अपनी खोई हुई तिष्ठा हासिल कर ली थी। मगध के राजा, चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक लिच्छवि

कन्या से विवाह किया था। तत्कालीन मौर्य सिक्कों पर इस लिच्छवि राजकन्या की तस्वीर भी अंकित पायी जाती है। अशोक ने स्वयं वैशाली आकर यहाँ एक स्तम्भ निर्मित किया, जो अब भी वर्तमान है। इसके शीर्ष-भाग पर एक सिंह की मूर्ति है, जो अति भव्य और भावोद्दीपक है। सिंह उत्तर की ओर देख रहा है, मानो वह कुशी नगर की ओर देखता हो जहाँ अन्तिम बार वैशाली की यात्रा समाप्त कर भगवान् ने शरीरपात किया था।

हिन्दू, बौद्ध और जैन तीनों ही की दृष्टियों से वैशाली महत्त्वपूर्ण है। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार मर्यादा-पुरुषोत्तम, रामचन्द्र, ने यहाँ एक रात बिताई थी। भगवान् बुद्ध यहाँ तीन बार आये। जैन-तीर्थंकर, महावीर वर्द्धमान, ने तो यहाँ जन्म ही पाया था।

वैशाली के इतिहास में यहाँ की प्रसिद्ध गणिका अम्बपाली नहीं भुलाई जा सकती है। पाली के अनेक ग्रन्थों—चीवरवस्तु, विनयवस्तु आदि—में इसका उल्लेख है। कहते हैं, पूर्व जीवन में—शिखि बुद्ध के समय में—वह एक भिक्षुणी थी। किसी देव-मन्दिर में उपासना के समय एक अन्य थेरी भिक्षुणी के खखार पर दृष्टि पड़ते ही आक्रोशवश उसके मुँह से ये शब्द निकल पड़े थे—"किस वेश्या ने इस पवित्र स्थान पर थूका है।" इन्हीं शब्दों के कारण उसे अगले जन्म में गणिकावृत्ति स्वीकार करनी पड़ी। और भी किसी पूर्व जीवन में वह क्षत्रियवंशी एक राजकन्या थी और सौन्दर्य-प्राप्ति के निमित्त उसने भगवद्-आराधना की थी। इन्हीं दो जन्मों के कर्मानुसार उसने अद्वितीय सुन्दरता प्राप्त की, पर उसे गणिका-जीवन बिताना पड़ा। उसकी सुन्दरता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि जब कोटिग्राम में वह भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ गई तब उसके पहुँचने के पूर्व उन्होंने उपस्थित अपने शिष्यों और अन्य भिक्षुओं को चेतावनी दी कि वे अम्बपाली के अनुपम सौन्दर्य से आकृष्ट होकर अपने मन के नियन्त्रण को न खो बैठें।

वैशाली के एक आम्रकुंज में वह सद्यः जात शिशु के रूप में पाई गई थी। माली के द्वारा पालित होकर, वह यथासमय एक अनुपम सुन्दरी के रूप में प्रकट हुई। वैशाली के तत्कालीन राजकुमारों के बीच उसके पाणिग्रहण की बात लेकर एक संघर्ष-सा मच गया। अन्त में सर्वसम्मति से यह तय पाया कि वह किसी व्यक्ति-विशेष की भार्या अथवा भोग्या न होकर सर्वजनभोग्या

बनाई जाए। फलतः वैशाली के समस्त प्रमुख जननायकों ने मिलकर उसे 'स्त्री-रत्न' की उपाधि दी और उसे 'गणभोग्या' घोषित की। 'विनयवस्तु' नामक ग्रन्थ (गिलगिट पांडुलिपि, द्वितीय भाग) के अनुसार, अम्बपाली को इसे विवश होकर स्वीकार करना पड़ा, पर उसने कहा—

'समयतोऽहं गणभोग्या भवामि यदि मे गणाः
पंच वरानन प्रयच्छति। प्रथमे स्कन्धे गृहं ददाति।
एकस्मिन् प्रविष्टे द्वितीयो न प्रविशति।
यश्च प्रविशति स पंचकार्षापणशता न्यावाय।
यदा गृहविचयो भवति तदा मम गृहं सप्तमे
दिवसे प्रत्यवेक्षते। निष्कासः प्रवेशश्च
मद्गृहं प्रवेष्टर्तो न विचयित इति।'

अर्थात् उसने पाँच शर्तें उनके सामने रखीं—

१. एक गृह की प्राप्ति।

२. एक व्यक्ति के रहते हुए उसके गृह में दूसरा प्रविष्ट न हो।

३. पाँच शत कार्षापण (तत्कालीन मुद्रा) के बिना कोई उसके गृह में प्रवेश न करे।

४. गृह-निरीक्षण के समय उसके गृह का निरीक्षण सातवें दिन हो, इसके पूर्व नहीं।

(इस शर्त से यह जाहिर होता है कि वहाँ समय-समय पर घर की तलाशी लेने की प्रथा थी, शायद इसलिये कि गणतन्त्र के विरुद्ध प्रच्छिप्त रूप से कोई षड्यन्त्र न रचा जा सके।)

५. रिक्त हाथों के साथ गृह में यदि कोई प्रविष्ट होगा तो उसकी मनोरथ-पूर्ति के लिये वह उत्तरदायी न होगी।

गणनायकों ने ये शर्तें मंजूर कीं और उसे नगरवधू बनना पड़ा।

जिस अद्वितीय सौन्दर्य को लेकर वह इस संसार में आयी, जिसे देखकर महाराज बिम्बिसार के दूत ने जाकर उनसे कहा था—"वैशाल्यानाम्रपाली नाम वेश्या अतीव रूपयौवनसम्पन्ना चतुःषष्टिकलाभिज्ञा देवस्यैवोपभोग्या" (वैशाली में आम्रपाली नाम की अति रूप-यौवन-सम्पन्ना वेश्या है···देव के उपभोग के योग्य···)—वह उसके लिए वर नहीं, अभिशाप ही साबित

हुआ। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि बायरन (Byron) ने इटली के सम्बन्ध में लिखा था—

इटली ! हा इटली ! जिसने वर,
सांघातिक पाया है छवि का !

अम्बपाली के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसा ही कहा जा सकता था।

इटली (प्राचीन रोम) के अनुपम सौन्दर्य ही ने बारम्बार विदेशी आक्रमणकारियों को उसकी ओर आकर्षित किया, अतएव कवि ने उसकी इस सुन्दरता को 'सौन्दर्य का सांघातिक वरदान' कहा है। इसी सांघातिक वर को अम्बपाली ने भी प्राप्त किया था, जिसके परिणामस्वरूप उसे वह जीवन बिताना पड़ा जो उसकी मनोवृत्ति और इच्छा के बिल्कुल ही विपरीत था। विधि की यह भी एक प्रबल विडम्बना थी।

सुन्दरता के साथ-साथ गान और नृत्य में भी उसने अलौकिक निपुणता हासिल की। उसके अनूठे गुणों की चर्चा समस्त भारतवर्ष में फैल गयी और दूर-दूर से लोग उसके पास आने लगे। कुछ ही दिनों में उसके धन की इयत्ता न रही। उसके कारण वैशाली के ऐश्वर्य में भी अत्यधिक वृद्धि हुई। कहते हैं, इसे देखकर मगध के सम्राट् बिम्बिसार ने भी अपनी राजधानी राजगृह के लिए एक सुन्दरी गणिका की नियुक्ति नगरवधू के पद पर की थी। वह स्वयं अम्बपाली के कारण एक नहीं अनेक बार वैशाली पधारे थे। इस सम्बन्ध में 'विनयवस्तु' में एक मनोरंजक घटना की चर्चा है।

कहते हैं, एक बार महाराज बिम्बिसार—जिनके संग लिच्छवियों की शत्रुता चल रही थी—प्रच्छन्न रूप से अम्बपाली के गृह पधारे। उनके प्रविष्ट होते ही वैशाली का वह प्रसिद्ध घण्टा, जो किसी शत्रु के नगर में प्रवेश करते ही आप-से-आप निनादित हो उठता था, बजने लगा। इसके बजते ही घरों की तलाशी—जिसे 'गृह-विचय' कहते थे—शुरू हुई। महाराज बिम्बिसार ने सशंकित होकर पूछा—भद्रे ! किमेतत् ? अम्बपाली ने कहा—देव ! गृहविचयः क्रियते। फिर पूछा—कस्यार्थाय ? उत्तर मिला—आप ही के वैशाली-प्रवेश के कारण। बिम्बिसार घबड़ा उठे, पर अम्बपाली ने उनकी उद्विग्नता शान्त करते हुए कहा, राजन् ! आप अस्थिर न हों, मेरे गृह का विचय (तलाशी) आज से सातवें रोज ही होगा, उसके पूर्व

नहीं, अतएव आप निःशंक होकर सप्ताह भर रहें—'सप्ताहं तावत् किड़-क्रीड़-रमस्व परिचायक ।' बिम्बिसार ने प्रायः एक सप्ताह तक वहाँ निवास किया, जाते समय अम्बपाली ने पूछा—'राजन्! यदि मेरे गर्भ से कोई सन्तान हुई तो मैं क्या करूँगी ?' महाराज बिम्बिसार ने उसे एक अंगूठी और एक 'विरली' (महीन वस्त्र) प्रदान करते हुए कहा कि यदि पुत्री हो तो वह यहीं रहे; यदि पुत्र हो तो उसे इन्हीं वस्तुओं के साथ मेरे पास प्रेषित करना, मैं उसे पुत्र रूप में स्वीकार करूँगा।

अम्बपाली के प्रसिद्ध पुत्र, विमलकुन्दन (कोण्डन) के पिता बिम्बिसार ही बताये जाते हैं।

सातवाँ दिन आने के पहले ही वह वैशाली से निकल आये और घंटे का बजना आप-से-आप बन्द हो गया। बिम्बिसार के चुपके-से निकल जाने की खबर जब लिच्छवियों को लगी तो उन्होंने रथ लेकर उनके रथ का पीछा किया, पर उन्हें पकड़ न पाये। वे हाथ मलकर रह गये! बोले, 'भवन्तः स एवायं पुरुषराक्षसो निवर्तामह इति।' (चीवरवस्तु)।

यह घटना इस बात की साक्षी है कि लिच्छवि दिये हुए वचन को कभी तोड़ते नहीं थे। यह जानते हुए भी कि नगर में बाहर का कोई दुश्मन आया हुआ है, उन्होंने अम्बपाली के घर की तलाशी वचनबद्ध होने के कारण निश्चित समय से पहले नहीं ली।

अम्बपाली के सौन्दर्य-जनित आकर्षण का कितना जोर था यह थेरी गाथा के उन दो पदों से (१०२१-२१) जाहिर होता है, जिनमें बुद्ध के महान् शिष्य, आनन्द, ने अपने कुछ शिष्यों को उसकी सुन्दरता से मोहित होने पर फटकारा है। यह घटना उस काल की है, जब वह भिक्षुणी होकर आनन्द के दर्शनार्थ आयी थी। थेरी गाथा में स्वयं अम्बपाली के रचे हुए १९ पद हैं, जिनमें उसने अपनी सुन्दरता की चर्चा की है और उसके ह्रास की ओर संकेत करते और पार्थिव वस्तुओं की निःसारता का स्मरण करते हुए भगवान् बुद्ध के वचनों की सत्यता की पुष्टि की है। काव्य की दृष्टि से भी वे पद अत्यन्त सुन्दर और अम्बपाली की काव्य-प्रतिभा के द्योतक हैं। पाली भाषा में रचित अपने पदों में वह कहती है—

किसी समय मेरे केश भौंरे के समान काले, घुंघराले और चमकीले थे,

किन्तु अब वे ही जरावस्था के कारण जीर्ण सन के समान हो गये हैं। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

पुष्पाभरणों से गुँथा हुआ मेरा केशपाश कभी हजारा चमेली के पुष्प के सदृश्य गन्धवाही था। अब उसी में जरा प्रभाव से शशक रोओं की-सी गन्ध आती है। सत्यवादी के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

कंघी और चिमटियों से सजा हुआ मेरा सुविन्यस्त केशपाश कभी सुन्दर सजाये हुए उपवन के समान शोभायुक्त था। वही अब जराग्रस्त होकर जहाँ-तहाँ से बाल टूटने के कारण विरल हो गया है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

स्वर्णालंकारों से सुसज्जित, सुन्दर पुष्पमालाओं से सुवासित मेरा सिर अत्यन्त शोभा-युक्त था, किन्तु वही आज जरावस्था भग्न और विनमित है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

चित्रकार के हाथ से कुशलतापूर्वक अंकित की हुई मेरी भौंहें थीं। किन्तु वे ही आज वृद्धावस्था के कारण झुरियाँ पड़कर नीचे लटकी हुई हैं। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी असत्य नहीं होते।

अम्बपाली के सौन्दर्य और गान-नृत्य-कलाओं की ख्याति से देश-देशान्तर में विस्तारित थी। ख्याति, यश और धन तीनों ही प्रचुर परिणाम में उसे प्राप्त हुए, फिर भी उसके हृदय में सदा द्वन्द्व ही चलता रहा, मानसिक सुख और शान्ति वह न पा सकी।

कुशीनगर जाते हुए भगवान् बुद्ध तीसरी बार वैशाली पधारे और वैशाली नगर से दूर कोटिग्राम नामक एक गाँव में ठहरे। वह उनकी अन्तिम यात्रा थी। यहाँ से वह कुशीनगर गये और वहाँ परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

अम्बपाली भगवान् के आगमन का सम्वाद पाकर स्वयं रथ हाँकती हुई कोटिग्राम गयी। उसने उन्हें अपने घर आने के लिए आमन्त्रित किया। भगवान् बुद्ध ने सहर्ष इस आमन्त्रण को स्वीकार किया और कहा कि दूसरे दिन मैं स्वयं आ जाऊँगा। उनकी इस यात्रा का एक मात्र उद्देश्य उसका उद्धार करना ही तो था!

बुद्ध भगवान् के आमन्त्रण स्वीकार करने से अम्बपाली के हृदयोल्लास की सीमा न रही। वर्षों से उसके हृदय में जो अन्तर्द्वन्द्व की आग सुलग रही

थी, उसके लिए भगवान् की इस कृपा ने शीतल जल का काम किया, और वह अपने जीवनोद्धार के स्वप्न देखने लगी। कहते हैं, भगवान् से मिलकर जब वह लौटी आ रही थी तब राज्यपथ पर उसकी भेंट वैशाली के उन गण्य-मान्य पुरुषों से हुई जो कोटिग्राम की ओर जा रहे थे। साधारणावस्था में वह उन्हें देखकर बगल हो जाती, पर वह आनन्द में इतनी विभोर थी कि वह उन्हें देख न सकी, और राज्यपथ के मध्य भाग ही पर चलती रही। भगवान् ने जब उसे शिष्या के रूप में स्वीकार किया, उस समय भी वह इसी अवस्था को प्राप्त हुई और—

अब कैसा भय, कैसी पीड़ा,
मिटी विवशता निज जीवन की,
मिटी हृदय की व्रीड़ा !

गाती हुई घर से चल पड़ी। विवशतावश नगरवधू—गणभोग्या—बनने की जो कसक उसके हृदय में थी, वह जाती रही और उसने अपने नये जीवन का स्वर्ण-प्रभात देखा और नाच उठी। एक गणिका के हृदय में जो दिव्य भावनाएँ छिपी पड़ी थीं वे उमड़ पड़ीं।

कौन जानता था, कि वैशाली की यह गणिका एक दिन बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों के महान् समुदाय में अति उच्च स्थान ग्रहण करेगी—वह स्थान जो बहुत दिनों की तपस्या के बाद भी विरले जनों को नसीब होता है ?

वैशाली के अन्य गण्यमान्य व्यक्तियों को जब भगवान् के आने की खबर मिली तो उन्होंने भी कोटिग्राम पहुँचकर अपने आमन्त्रण दिये, पर भगवान् ने उनका आमन्त्रण स्वीकार नहीं किया, जिससे वे अतीव क्षुब्ध हुए। उन्होंने अम्बपाली से जाकर अनुरोध किया कि वह अपना आमन्त्रण वापस लेकर उन्हें भगवान् के आतिथ्य-सत्कार का मौका दे और एतदर्थ एक लाख मुद्रा भेंट करने का प्रलोभ भी उसे दिया, पर अम्बपाली ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए उनसे कहा—

"सचे मे अय्यपुत्ता वेसालिं साहारं
दज्जय्याथ, नेव दज्जा 'हं तं भत्तं' ति।" (भत्तं)

अर्थात्—प्रभुवरो ! यदि वैशाली और उसके साथ-साथ उसका सारा साम्राज्य भी मुझे प्राप्त हो, तब भी मैं इसे नहीं लौटा सकती !

दूसरे दिन भगवान् ने वैशाली आकर अम्बपाली का आतिथ्य ग्रहण किया। अम्बपाली ने स्वयं अपने ही हाथों से भोजन रींध कर उन्हें खिलाया और उनके चरणों पर अपने अम्बपाली-वन की भेंट चढ़ाई। भगवान् ने उसे अपनी शिष्या बनाया और वह अपने तनय, विमलकुन्दन, को अन्तिम सन्देश देती हुई संघ की शरण गयी। बौद्ध भिक्षुणी रूपी संस्था का आरम्भ उसके द्वारा हुआ। भगवान् के प्रसिद्ध शिष्य-शिष्याओं में अम्बपाली का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। थेरी-गाथा के जिन १६ पदों का ज़िक्र पहले किया जा चुका है, उनसे उसकी साहित्यिक प्रतिभा का दिग्दर्शन तो होता ही है, उसका पाण्डित्य भी साफ़-साफ़ परिलक्षित होता है।

वैशाली के अभ्युदय का अन्त कब और कैसे हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता पर प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय तब यह नगर भग्नावशेष के रूप में परिणित हो चुका था। अब यहाँ खण्डहर-मात्र ही दिखाई देता है। खुदाई से प्राचीन इमारतों, स्तूपों और प्राचीन मूर्तियों, सिक्कों और आभूषणों के अवशिष्ट पाये गये हैं। इन दिनों यह 'बसाढ़' के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर बिहार के मुजफ्फ़रपुर ज़िले के अन्तर्गत है।

वैशाली के—जो किसी ज़माने में वैभव के शिखर पर आरूढ़ थी—इस खण्डहर पर जब कभी मैं जाता हूँ तब मुझे कवि की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं—

सदा न बागीं बुलबुल बोले,
सदा न बाग बहाराँ।
सदा न जवानी रहती यारो!
सदा न सोहबत याराँ!

३

बौद्धकालीन चार गणिकाएँ

मनुष्य-जीवन में कभी-कभी ऐसा घोर परिवर्तन होता है, जिसे समझना साधारण जन के लिए अत्यन्त कठिन है जिन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है, शायद वे ही उसे समझ पाएँ। मेरी मैगडलीन बादशाह हैरन्ड के दरबार की एक विख्यात नर्तकी थी। रूप उसमें था, यौवन था, वह धन-सम्पन्न थी। ईश्वर-आराधना से वह सदा दूर ही रही। फिर भी वह ईसा मसीह की कृपा का भाजन बनी और भवसागर पार करने में समर्थ हुई। 'सुग्रा पढ़ावत गणिका तारी' : तोते को राम नाम की रट सिखाती हुई एक प्रसिद्ध वेश्या ने परम-पद प्राप्त किया। ऐसी ही घटनाओं को देखकर तो एक सन्त कवि का हृदय चिल्ला उठा था : 'दयानिधि ! तेरी गति लखि ना परे।'

बौद्धधर्म के प्राचीन ग्रन्थों में ऐसी चार गणिकाओं का जिक्र आता है, जिन्होंने रूप, यौवन, ऐश्वर्य सभी प्राप्त कर उन सब को पैरों से ठुकरा दिया और संघ की शरण में शांति पायी। यही नहीं, बौद्ध भिक्षुणी-समुदाय में विशिष्ट स्थान पाकर वे अर्हत-पद को प्राप्त हुई थीं। इनके रचित पदों को, जो साहित्य और अध्यात्म की दृष्टि से आदरणीय हैं, बौद्ध ग्रन्थों में उच्च स्थान प्राप्त है।

इन चार गणिकाओं—अम्बपाली, विमला, अभयमाता और अड्ढकासी में अम्बपाली का स्थान सबसे ऊँचा है। मेरी मैगडलीन के जीवन-चरित और अम्बपाली की जीवन-कथा में अत्यधिक समानता है। साथ ही, औरों की अपेक्षा, इसका जीवन कहीं अधिक करुणापूर्ण भी है। जहाँ औरों ने स्वेच्छा से वार-जीवन अंगीकार किया था, वहाँ अम्बपाली को इसे ग्रहण करने को विवश होना पड़ा था।

आज से सहस्र वर्ष पूर्व वैशाली नगरी में अम्बपाली ने जन्म लिया था। आम के एक बगीचे में वह शिशु के रूप में पायी गई थी। उसके माता-पिता

का पता कोई भी न पा सका। बाग के माली ने उसे पाला-पोसा। जब वह षोड़शी हुई तब उसके अद्वितीय सौन्दर्य की ख्याति चतुर्दिक फैली और वैशाली के प्रधान राजकुमारों के बीच उसके पाणिग्रहणार्थ एक संघर्ष-सा उठ खड़ा हुआ। अन्त में सर्वसम्मति से यह तय पाया कि वह किसी व्यक्ति विशेष की पत्नी न बनकर 'सर्वजनभोग्या' बने। उसे विवश होकर 'नगरवधू' बनना पड़ा। महारानी पद्मिनी की भाँति उसका वह अनुपम सौन्दर्य उसके लिए विष ही सिद्ध हुआ—

मिला जिस सुन्दरता का दान,
कहूँ अभिशाप या कि वरदान !

सौन्दर्य एक नहीं अनेक बार अपार दुःख का कारण बना है।

परिणाम जो कुछ भी हो, पर इसमें शक नहीं कि अम्बपाली को ऐसा सौन्दर्य मिला था जो विरले जनों ही को प्राप्त होता है। मगध के महाराज बिम्बिसार के दूत ने वैशाली से लौटकर उनसे अम्बपाली के रूप की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। जब वैशाली के समीप कोटिग्राम में वह भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ गयी तब उसके पहुँचने के पूर्व भगवान् ने अपने उपस्थित शिष्यों और भिक्षुओं को सचेत कर दिया था कि वे अम्बपाली के अनुपम सौन्दर्य से आकृष्ट होकर अपने मन के नियन्त्रण को न खो बैठें।

पर रूप, धन-धान्य और ख्याति से सम्पन्न होने पर भी अम्बपाली मानसिक सुख और शान्ति न पा सकी। उसके हृदय में एक द्वन्द्व-सा चलता रहा। नृत्य और संगीत दोनों कलाओं में उसने अद्वितीय निपुणता हासिल की, पर अन्तर्पीड़ा से व्यथित होकर उसने कहा—

लिया मैंने जब था वह जन्म,
कि जिसका पता नहीं करुणेश,
तो तेरी अमित कृपा की कोर,
बनी रक्षक मेरा सविशेष।
अम्बपाली कहते सब लोग,
किन्तु था पालक जगदाधार,
पिता-माता से यद्यपि हीन,
एक था तेरा ही आधार।

रखा जैसी यह लोक-समाज,
रही मैं वैसी ही तो हाय!
लगाती रही रूप की हाट,
बेचती निज यौवन, निज काय।
इसी विधि जीवन हुआ व्यतीत,
आज भी गति-विधि इसी प्रकार,
नर्तकी, गणिका, तन-सुख हेतु,
समझता मुझको यह संसार।
पंक में यद्यपि मेरा वास,
रहा तू करता मुझ को प्यार,
किन्तु अब असहनीय है, नाथ,
वार-जीवन का यह दुखभार!

अन्त में भगवान् बुद्ध ने स्वयं आकर उसे अंगीकार किया। उसका प्रसिद्ध अम्बपाली-वन बौद्ध भिक्षुओं का एक केन्द्र बन गया, जहाँ यदा-कदा बौद्ध महात्मा आते, ठहरते और अपने उपदेशामृत से श्रोताओं को तृप्त किया करते थे। आनन्द से विभोर होकर अम्बपाली नाच उठी। वह बोली—

कृतकृत्य हुई पा आज संघ की छाया,
मैंने जीवन का स्वाद आज ही पाया।

आगे चलकर उसने बौद्ध भिक्षुणी-समुदाय में अति उच्च स्थान प्राप्त किया और अन्त में अर्हत पद पाया।

वैशाली की अद्वितीय गणिका, जिसने बौद्ध-भिक्षुणी होकर अन्त में अर्हत पद प्राप्त किया था, विमला थी। एक गणिका के उदर से उसका जन्म हुआ था और देखने में वह भी अद्वितीय सुन्दरी थी। एक दिन जब वह घर की देहरी पर खड़ी थी, उसने महात्मा महामोग्गल्लान को भिक्षाटन के लिए जाते देखा। कहते हैं, उनसे आकृष्ट होकर उसने उन्हें लुभाने के यत्न किए। महामोग्गल्लान ने उसकी इस चेष्टा के लिए उसकी भरपूर भर्त्सना की, जैसा थेरगाथा के कुछ पदों से (११५०-५७) ज्ञात होता है। उनकी बातों से उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये और वह भिक्षुणी बन गई। अनेक साधनों

के बाद अन्त में उसे भी अर्हत-पद की प्राप्ति हुई। उसने निम्नोक्त पंक्तियों में अपने भावों को प्रकट किया है—

मत्तावण्णेन रूपेन सोभग्गेन यसेन च।
योब्बनेन च उपत्थद्धा अञ्ञा समतिमञ्ञि हं
विभूसेत्वा इमं कायं सुचित्तं बालालपनं।
अट्टासि वेसिद्धारम्हि लुद्दो पासमिव ओड्डिय
पिलन्धनं विदंसेन्ती गुय्हं पकासिकं बहुं।
अकासि विवधं मायं उज्जग्घन्ती बहुंजानं।
साज्ज पिण्डं चरित्वान मुण्डा संघाटिपारुता।
निसिन्ना रुक्खमूलम्हि आवितक्कस्स लाभिनी
सब्बे योगा समुच्छिन्ना ये दिब्बा ये च मानुसा
खेपेत्वा आसवे सब्बे सीतिभूतम्हि निब्बुता॥

अपने प्रस्फुटित सौन्दर्य के कारण मैं एक समय कितनी अहंकार करती थी, सुघड़ शरीर और ख्याति को लेकर। युवावस्था के घमण्ड से भरी हुई मैंने सत्य को न देखा और न सुना। हाय! मैं अपने इस शरीर को विविध प्रकारों से रंगती, सजाती तथा गृह-द्वार पर खड़ी होकर निपुण शिकरी की भाँति, अपना जाल फैलाती थी। आह! मैंने कितनों के धर्म नष्ट किये।

"आज इस मुण्डित मस्तक के साथ और गैरिक वस्त्र धारण कर जब मैं प्रतिदिन भिक्षाटन को जाती हूँ या वन-वृक्षों की फैली हुई शाखाओं के नीचे बैठती हूँ तो मेरे हृदय के सारे आसुरी भाव तिरोहित हो जाते हैं। मैं निर्वाण-शान्ति का अनुभव करने लगती हूँ।"

अभयमाता का वास्तविक नाम पद्मावती था। उज्जयनी नगर की वह एक बार-वधू थी। महाराज बिम्बिसार ने उसकी सुन्दरता की ख्याति सुन कर अपने पुरोहित से उसे देखने की इच्छा प्रकट की। पुरोहित को एक कुम्भीर नामक यक्ष सिद्ध था। वह बिम्बिसार को उज्जयनी ले गया और पद्मावती से उन्हें मिलाया। पद्मावती गर्भवती हुई। पद्मावती ने इसका सम्वाद महाराजा बिम्बिसार के पास भेजा। उत्तर में महाराज ने कहला भेजा कि यदि गर्भ से पुत्र उत्पन्न हो तो उसे बड़ा होने पर वह उनके पास भेज दे। यथासमय पुत्र हुआ। जब वह सात वर्ष का हो चुका तब पद्मावती

ने उसके पिता का नाम बताया और उसे महाराज बिम्बिसार के पास भेज दिया। उसका नाम अभय राजकुमार पड़ा। कालान्तर में वह बौद्ध-संन्यासी होकर उपदेश देता हुआ उज्जयनी आया। उसकी माँ ने उसके उपदेशों को सुना और संसार त्याग कर भिक्षुणी बन गई। तभी से वह अभयमाता के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसे धर्म का भी पूर्ण ज्ञान था और उसने अर्हत पद प्राप्त किया। उसके रचे हुए केवल दो पद उपलब्ध हैं—

उद्धं पादतला अम्मा अधो वे केसमत्थका।
पच्चवेक्खस्सु मं कायं असुचिं पूतिगन्धिकं।
एवं विहरमानाय सब्बो रागो समूहतो।
परिलाहो समुच्छिन्नो सीतिभूतम्हि निब्बुता॥

"पाँव से ऊपर तक और सिर के केशों से नीचे तक इस शरीर को देखो। क्या यह दुर्गन्ध से भरा हुआ अपवित्र नहीं है? मैं ध्यानस्थ होकर इस पर सोचती रही जब तक मेरे मन की सारी वासनाएँ समाप्त न हो गयीं। शीतलता और निर्वाण-शान्ति का अनुभव मैं अब करने लगी हूँ।"

अड्ढकासी (अर्द्धकासी) ने पूर्व-जन्म में, कस्सबुद्ध के समय, एक वणिक् परिवार में जन्म लिया था, वह और ज्ञान प्राप्त कर भिक्षुणी बनी थी। पर संयोगवश उसके मुँह से एक श्रेष्ठ भिक्षुणी के प्रति 'वेश्या' शब्द निकल गया था जिसके फलस्वरूप उसे नरक में जाना पड़ा। काशी के एक धनी-मानी परिवार में जन्म लेकर भी उसे वेश्यावृत्ति अंगीकार करनी पड़ी। कालान्तर में उसके हृदय में भगवान् बुद्ध की शिष्या बनने की प्रबल उत्कण्ठा जागृत हुई, परन्तु काशी की अन्य वेश्याओं ने रुकावटें डालीं, उसे जाने न दिया। निरुपाय होकर उसने भगवान् की राय माँगी। प्रत्युत्तर में भगवान् ने एक दूत भेज कर उसे उपसम्पद प्रदान किया। आगे चलकर इसकी भी थेरियों में गणना होने लगी।

उसने अपने रचे हुए पदों में कहा है कि यद्यपि काशी जनपद के शुल्क से मेरी आय कम नहीं है, पर रूप की वह सुन्दरता मुझे अब भारस्वरूप हो रही है। जन्म और मृत्यु के चक्कर में मैं नहीं पड़ी रहूँगी। मेरे लिए 'तिस्सो-विज्जा' ही सर्वश्रेष्ठ है, सारयुक्त है। भगवान् की इच्छा पूर्ण हुई—

यावकासिजनपदो सुंको मे तत्तको अहु
तं कत्वा निगमो अग्घमग्घे नग्घं ठपेसि मं
अथ निब्बिन्द हुं रूपे निब्बिन्दञ्च विरज्ज वे हुं।
मा पुन जाति संसार सन्धाविय्यं पुनप्पुनं
तिस्सोविज्जा सच्छिकता कतं बुद्धस्य सासनं।।

गणिका होकर भी इन चार वार-वधुओं ने जो स्थान प्राप्त किया वह बड़े-बड़े तपस्वी भी आसानी से नहीं प्राप्त कर पाये।

४

स्याम के एक प्राचीन राजवंश का आदिम संस्थान जयमंगलागढ़

१६३२ की बात है। स्याम (थाइलैंड) के राजा का एक प्रतिनिधि बिहार आया और प्रान्तीय सरकार की आज्ञा लेकर, पुलिस के एक अफसर के साथ, मुंगेर जिले के जयमंगलागढ़ नामक स्थान पर, जो आज से हजारों वर्ष पूर्व, कहते हैं, किसी शक्तिशाली लोकपाल की राजधानी थी, पहुँचा और कई स्थानों के सम्बन्ध में पूछताछ की। उसके पास स्याम सरकार के दफ्तर में सुरक्षित कई प्राचीन लेखों की प्रतिलिपियाँ थीं, जिसके सहारे उसने कतिपय स्थानों का, जिनका उनमें उल्लेख था, पता लगाने की चेष्टा की। कई स्थानों का पता लगाने में वह सफल भी हुआ। कई स्थानों का उसने निरीक्षण किया और अड़ोस-पड़ोस के सम्माननीय व्यक्तियों से भेंट की। अपने पास के लेखों के कुछ अंश पढ़कर उसने उन्हें सुनाये भी। उसने जो कुछ कहा, उसका सारांश यह था कि सम्राट् अशोक के पूर्व यह स्थान वैदिक धर्मावलम्बियों के अधिकार में था; अशोक के राजत्वकाल में यह बौद्धों के हाथ में आया; पर पुनः समुद्रगुप्त के शासन-काल में सनातन धर्मावलम्बियों ने इस पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। गुप्तकाल में जिस प्रतापी राजवंश का यहाँ साम्राज्य था, उस की एक शाखा स्याम देश को गयी और वहाँ जाकर उन्होंने 'थाई' जाति के लोगों के साथ विवाह-सूत्र में बंधकर उन्होंने अपनी भारतीय सांस्कृतिक रूप-रेखा क्रमशः खो डाली—नेपाल के उन राणाओं की भाँति, जो नेपालियों में ब्याह-शादी कर सोलहो आने नेपाली बन गये।

गुप्तवंश की इस शाखा ने सर्वप्रथम वहाँ राजवंश की नींव डाली थी। इसके साथ भारत में आये हुए लोगों ने जंगल साफ़ कर कई नगरों का निर्माण किया था। इनमें लोबपुरी, द्वारवती, राजपुरी और चांदपुरी विशेष

रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा भारतवर्ष की ब्राह्मणी संस्कृति का प्रवेश अड़ोस-पड़ोस के देशों—लाओस, कंभोज (कम्बोदिया) हिन्द-एशिया तथा मलाय—में भी हुआ। वहाँ हिन्दू देवी-देवताओं के मन्दिर बने। भारतवर्ष में जिस हिन्दू सांस्कृतिक अभ्युदय का दृश्य गुप्त-राजाओं ने उपस्थित किया था, वह थाइयों के इस देश में भी नजर आने लगा। इसी का परिणाम है कि आज भी वहाँ के लोगों के नाम अधिकतर संस्कृत के अपभ्रंश हैं। उनके रीति-रिवाज हिन्दुओं से मिलते-जुलते से हैं; जैसे दाह-संस्कार के पूर्व वे भी शव को जल से नहलाते हैं, और 'सोंगकान' दिवस पर मृत व्यक्तियों को जल देते हैं।

भारत से आये हुए बौद्ध धर्म-प्रचारकों के द्वारा यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रवेश और प्रसार हुआ था।

स्याम का सर्वप्रथम राजा इन्द्रादित्य था। उसके वंश के राजा चौदहवीं सदी के मध्य तक राज्य करते रहे। उसका पुत्र रामखमेंग अपनी वीरता के लिए आज भी प्रसिद्ध है। सुखोदई इनकी राजधानी थी और मेनम घाटी से लेकर हिन्द-एशिया तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था। सन् १३५० के लगभग चाऊ-थाँग के द्वारा इस वंश के लोग पराजित हुए और एक नये राज-वंश की नींव पड़ी। अयोध्या नामक नगरी इनकी राजधानी बनी।

चार सौ वर्षों तक इस वंश के राजाओं का शासन बना रहा। स्याम के इतिहास का यह स्वर्ण-युग था। इस युग में कलाओं ने प्रसार पाया। मन्दिर, मठ, आदि बड़ी संख्या में निर्मित हुए। बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं। बैंककाक के राजप्रासाद में बुद्ध भगवान् की पन्ने की जो बड़ी-सी मूर्ति है, उसका निर्माण भी तभी हुआ। अयोध्या एक सुन्दर नगरी थी जो १७६७ ई० में ब्रह्मदेश—बर्मा—की आक्रमणकारी सेनाओं के द्वारा विध्वंस हुई। तभी से स्याम की राजधानी बैंककाक चली गई।

वर्तमान शासक-वंश की नींव डालनेवाला फीस चक्र नामक एक व्यक्ति था। इस वंश के राजा 'राम' कहलाते हैं। नामों में संस्कृत शब्दों की अधि-कता है।

स्याम—थाईलैण्ड—की सभ्यता दक्षिण चीन से आये हुए थाई (जिनकी वहाँ की जनसंख्या में अनुपात ६० प्रतिशत है) और भारत से गये

हुए लोगों की सभ्यताओं का एक मिश्रण है, जिसकी नींव भारतीय—खास तौर पर गुप्तों से पोषित ब्राह्मणी—सभ्यता मानी जा सकती है।

ऊपर जिस लेख की चर्चा है, और जिसे लेकर पूर्वोक्त स्याम-सरकार का प्रतिनिधि जयमंगलागढ़ आया था, उसमें जिस प्राचीन भारतीय राजवंश की चर्चा है, उसके अधिकार में तीन क़िले थे। इनके कुछ चिह्न अब भी वर्तमान हैं, और उन कागज़ातों से इनकी भौगोलिक स्थिति पूरी तरह प्रमाणित होती है।

जयमंगलागढ़ उक्त राजवंश का धार्मिक केन्द्र था, इसकी दक्षिण ओर (वर्तमान नौलागढ़, दूरी १० मील) एक क़िला था, जिसमें सेना और राज्य-कोष रहता था। उत्तर की ओर (वर्तमान मांगरगढ़, दूरी १० मील) एक दूसरे क़िले में राज-परिवार के लोग रहते थे। जयमंगलागढ़ में बड़े-बड़े मठ, मन्दिर और महात्माओं के निवास-स्थान थे।

स्याम जाकर भी कई सदियों तक इस राजवंश ने अपना सम्बन्ध यहाँ से न हटाया और वर्तमान जयमंगलागढ़ से उत्तर-पूर्व की ओर एक उच्च स्थल पर भगवान् बुद्ध की कुछ हड्डियाँ तत्कालीन स्यामाधिपति के आदेश पर गाड़ी गयी थीं। कालान्तर में एक घोर भूचाल के कारण ये क़िले नष्ट हो गये और एक बड़ी-सी झील निकल आयी जो आज भी विद्यमान है। इसकी लम्बाई प्रायः चौदह मील की है और चौड़ाई दो-ढाई मील। सारी झील पद्म-पुष्पों से भरी रहती है। शरद्-काल में शतसहस्र पुष्पों से आच्छादित होकर उसकी अपूर्व शोभा देखते ही बनती है। काश्मीर की डल नामक झील भी शायद ही सुन्दरता में इसका मुक़ाबिला कर सके; और ये पंकज ऐसे सुन्दर हैं कि इन्हें देखते ही कवि की यह उक्ति आप-से-आप स्मरण हो आती है—

न तज्जलं यन्न सुचारु पंकजम्,
न पंकजं यन्न विभाति षट्पदम्।

लक्ष-लक्ष भौंरों से गुंजायमान इस झील की शोभा अनूठी है, देखने ही योग्य है। मन इसे देखते ही इस पर लुब्ध हो उठता है।

यद्यपि पूर्वोक्त लेखों में किसी चौथे क़िले की चर्चा न थी, पर ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त तीन क़िलों के अलावा एक और क़िला यहाँ था,

उस स्थान पर, जिसे आज तिलकेश्वर स्थान कहते हैं और जो जयमंगलागढ़ से पूर्व लगभग दस मील की दूरी पर स्थित है। जयमंगलागढ़ में भूगर्भ से निकली हुई जिस प्रकार की प्रस्तर-मूर्तियाँ पाई जाती हैं वैसी ही प्रतिमाएँ वहाँ भी हैं।

स्याम देश का उक्त राज-प्रतिनिधि प्रायः दो सप्ताह तक यहाँ रहा, फिर वह लौट गया। इसके बाद से आज तक पुनः न कोई आया। हम यही सोचते हैं कि आखिर वह राजवंश, जिसकी चर्चा उक्त राजकीय लेखों में थी, कौन था ?

स्थानों के नाम से ऐसा लगता है कि शायद किसी जमाने में यहाँ मंगल नामक किसी आदिम जाति का निवास था। मिथिला के एक प्रसिद्ध विद्वान्, श्री चन्दा झा, ने आज से प्रायः पचास वर्ष पहले एक छोटी-सी पुस्तक लिखकर इस विचार का प्रतिपादन किया था, पर इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में हमारे मस्तिष्क में कई बार यह प्रश्न उठता रहा है कि उक्त मंगल जाति मंगोलवंशीय तो नहीं थी जो उत्तर-पूर्व दिशा से आकर यहाँ बस गयी, जैसे हूण और शक पश्चिमी दिशाओं से आकर यहाँ बसे थे।

गुप्तवंशीय राजाओं के समय में ये स्थान अवश्य ही किसी हिन्दू राजा के अधिकार में थे, सम्भवतः गुप्तवंश ही की किसी शाखा के। गुप्तवंश की कई शाखाएँ भारत के विभिन्न प्रान्तों, मालवा, आदि में जाकर राज्य कर रही थीं, यह तो इतिहास भी बताता है। सम्भव है, उसी में किसी टोली ने यहाँ आकर भी आधिपत्य स्थापित किया हो। इस बात की पुष्टि खासतौर पर यहाँ की दो वाराह मूर्तियों से होती है—एक वह जो जयमंगलागढ़ में भू-गर्भ से निकली थी और दूसरी वह जो समीपवर्ती तिलकेश्वर स्थान के एक मन्दिर में बहुत दिनों से पूजी जाती है। दोनों की रूप-रेखा, आदि, हू-ब-हू एक-जैसी हैं; मानो, दोनों किसी कारखाने में साथ-ही-साथ गढ़ी गयी हों।

गुप्तकाल ही एक ऐसा समय था जब गुप्त-राजाओं की प्रेरणा से इस देश में वाराह-पूजा बड़े जोरों में प्रचलित हुई थी। यह एक विशिष्ट अर्थ रखती थी। हूणों और शकों के आक्रमण से भारत त्रस्त हो रहा था जब

गुप्तवंशीय राजाओं ने इन्हें परास्त कर देश को इस महान् संकट से बचाया था, वैसे ही जैसे वाराह-रूप भगवान् ने डूबती हुई पृथ्वी को दाँतों से उठाकर जल-प्रलय से बचाया। वाराह-पूजा का यही लाक्षणिक अर्थ था और उपर्युक्त परिस्थिति ही भगवान् के वाराह-रूप की लोक-प्रियता का कारण थी। विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' में इसका संकेत श्लोक में इस प्रकार किया है—

वाराही मात्मयोनेस्त तु भवन-विधौ वासितस्यानुरूपां
यस्य प्राकदन्त कोटिं प्रलय परिगता शिश्रियये भूतधात्री
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद् बन्धुभृत्यश्चिर भवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः[1]

प्राप्त शिला-लेखों से लगता है कि किसी काल में यहाँ पालवंशीय राजाओं का भी राज्य रहा होगा। मंगल राजाओं के समय की एक सनद भी स्थानीय एक पंडा-परिवार में विद्यमान है, जो एक बार किसी मुकदमे के सिलसिले में अदालत में पेश हुई थी। गरज यह कि यदि पूर्ण अनुसन्धान किया जाए तो इस स्थान के इर्द-गिर्द और खुदाई के द्वारा भू-गर्भ से ऐसी अनेक वस्तुएँ मिलेंगी, जिनसे इतिहास-निर्माण में पूरी सहायता मिल सकती है। कुछ दिन हुए, हमने जयमंगलागढ़ की यात्रा की थी। वहाँ हमें एक प्राचीन चाँदी का सिक्का मिला जिस पर अरबी भाषा के शब्द अंकित हैं। इस प्रकार के अनेक सिक्के और विविध वस्तुएँ यहाँ किसानों के हल जोतते अथवा जमीन गोड़ते समय आये दिन प्राप्त हुआ करती हैं। हमने इसी यात्रा में पत्थर का एक विशाल फाटक भी देखा था, जिसका अर्द्धांग बाहर निकल चुका था, शेष अभी जमीन के भीतर ही था।

कई वर्ष पूर्व तक यह स्थान घोर जंगल था, इसमें विभिन्न प्रकार के

---

१. भावार्थ—भगवान विष्णु ने जिस प्रकार पुण्य-जल में डूबी हुई पृथ्वी को अपने दोनों दाँतों की नोक पर धारण किया था और उसकी रक्षा की थी, उसी प्रकार म्लेच्छ रूपी प्रलयजल से अपने भुजा रूपी दन्तों की नोक पर पृथ्वी को धारण करनेवाले, अपने सेवकों के प्रतिपालक, श्रीमान चन्द्रगुप्त चिरकाल तक पृथ्वी की रक्षा करते रहें।

हिंसक पशु निवास करते थे। पिछले कुछ वर्षों में मन्दिर के पण्डों ने जंगल काट डाले और इसके प्राकृतिक सौंदर्य को बहुत अंशों तक मिटा डाला है। खेद है कि जहाँ आज प्रतिवर्ष वन-महोत्सव मनाये जा रहे हैं, वृक्षारोपण हो रहा है, वहाँ इस जंगल के सारे वृक्ष काट डाले गये और सरकार के अधिकारी चुपचाप बैठे देखते रहे। उन्होंने इसे रोकने की चेष्टा न की। यही नहीं, प्रान्तीय सिंचाई विभाग की ओर से उस झील से, जिसका हम आरम्भ में जिक्र कर आये हैं, एक नहर निकालकर इसे वस्तुतः जलहीन कर देने का यत्न भी हो रहा है। इस झील का जल गर्मियों में भी अथाह और तरह-तरह जल-पक्षियों से कूजित और पद्म-पुष्पों से आच्छादित बना रहता है। अफ़सोस है कि प्रकृति के इस क्रीड़ा-स्थल को इस प्रकार विनष्ट करने का उद्योग हो रहा है।

जयमंगल स्थान निस्सन्देह बड़ा शक्तिशाली पीठ, साधना-स्थल रहा है। यहाँ अनेक बड़े-बड़े महात्माओं की समाधि भू-गर्भ में पड़ी हुई है। कुछ दिन हुए हल जोतते समय जमीन के भीतर से एक काठ का सन्दूक बाहर निकल आया; खोलने पर उसके अन्दर से एक नर-मुण्ड निकला जो हवा के लगते ही दो खंडों में विभक्त हो गया। ऐसी अनेक घटनाएँ यहाँ आये दिन हुआ करती हैं।

जयमंगला देवी का एक प्राचीन मन्दिर भी यहाँ है। पठान और मुग़ल बादशाहों के द्वारा देवी के अर्चनार्थ 'चिरागी' पच्चीस रुपये माहवार मिला करते थे, अंग्रेज़ी शासन ने भी इस सिलसिले को जारी रखा था।

जयमंगला देवी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की किम्वदन्तियाँ प्रचलित वर्णन हैं। देवी-भागवत के पूरे एक अध्याय में मंगल-चण्डी का विस्तृत रूप से है। भारतवर्ष में मंगल-चण्डी की प्रतिमा एक मात्र यही है; और शाक्तों का मत है कि उस ग्रन्थ में जिस मंगल चण्डी का उल्लेख है वह यही है। रात्रि-काल में यह मन्दिर अन्धेरा ही रखा जाता है और किसी का यहाँ अथवा इसके इर्द-गिर्द में रहना वर्जित है। कहते हैं, कई बार कई लोगों ने यहाँ रहने की चेष्टा की, पर उन्हें घोर विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा। कई का तो मस्तिष्क विकृत हो गया। स्थानीय वयोवृद्ध लोगों का कहना है कि उन्होंने बार-बार मन्दिर के भीतर अर्द्धरात्रि की नीरवता में पायल बजते

सुने हैं। यही नहीं, मन्दिर के अन्दर हाथों में थाल लेकर कुमारिकाएँ प्रवेश करती हुई-सी देखी गयी हैं। पता नहीं इन बातों में कहाँ तक सचाई है, पर इतना जरूर है कि इस प्रान्तर में जयमंगला देवी का यह स्थान एक बहुत शक्तिशाली पीठ माना जाता रहा है।

देवी का स्वरूप एक बालिका का है। जनश्रुति है कि सैकड़ों वर्ष पूर्व यहाँ एक हरिजन-कन्या के रूप में देवी अवतीर्ण हुई थी, वही प्रस्तर बनकर अब मन्दिर में अवस्थित हैं। पहले बहुधा मन्दिर के द्वार पर बाघ आदि भी नजर आया करते थे। पता नहीं, जंगल कट जाने के बाद बाघ आते हैं या नहीं।

यह और इसके अड़ोस-पड़ोस के स्थान देखने ही से अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि यदि समुचित रूप से इनके इतिहास का निर्माण किया जाए, गढ़ों की खुदाई की जाए, तो कोई ऐसी बातों का, साम्राज्य का, पता चलेगा जिनसे इतिहास आज तक अनभिज्ञ है। इतिहासज्ञ और पुरातत्त्वज्ञों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

५

तिब्बत और हमारा प्राचीन सम्बन्ध

तिब्बत उन इने-गिने देशों में है, जो वर्तमान संसार के प्रभावों से बहुत दिनों तक बचे रहे। पर चीन में कम्युनिस्ट शासन के स्थापित हो जाने के बाद वह अपनी इस स्थिति को क़ायम न रख सका—अन्त में उसे भी राजनीतिक दाँव-पेंच का शिकार बनना ही पड़ा। लाल चीन की वर्तमान सरकार ने उस पर अभियान किया, लामाओं के इस 'रहस्यमय' देश पर अपनी पूरी सत्ता स्थापित कर ली और संसार के कतिपय देशों ने इस पर अपनी स्वीकृति की मोहर भी लगा दी—'जिसकी लाठी, उसकी भैंस।'

यह सही है कि सन् १९२० में चीन ने तिब्बत को पराजित किया था। उसके बाद से वह किसी-न-किसी रूप में उस पर हावी रहा, पर तिब्बत कभी भी चीन का हिस्सा नहीं हुआ।

पर अब परिस्थिति यही है कि तिब्बत पर आज चीन का पूरा प्रभुत्व स्थापित हो चुका है। वहाँ के वर्तमान शासक दलाई लामा और पनछेन लामा की पेकिंग से बुलाहट हुई और तिब्बत की जनता के घोर विरोध करने पर भी उन्हें वहाँ जाना पड़ा। कहा जाता है कि लोकमत इस यात्रा के इतना विरुद्ध था कि उन्हें ल्हासा से रात्रिकाल में छिपकर बाहर होना पड़ा था। घनघोर वृष्टि और बाढ़ से क्षतिग्रस्त तिब्बत-निवासियों का कहना है कि उनके इस कार्य से रुष्ट होकर ही भगवान् ने उनके देश पर यह वज्रपात किया।

चीन ने तिब्बत की संस्कृति और धर्म के साथ हस्तक्षेप करना चाहा है। तिब्बत इस कड़वे घूँट के लिए तैयार नहीं है। आज देश में विद्रोह की आग भभक उठी है। दलाई लामा को तिब्बत से भागना पड़ा है। वह भारत आए हैं। भारत सरकार ने उन्हें शरण दी है। इस देश के हरएक स्त्री-पुरुष की सहानुभूति आज तिब्बत के साथ है।

चीन और तिब्बत के पारस्परिक सम्बन्ध की भूतकाल में जो कुछ भी रूपरेखा रही हो, पर इसमें शक नहीं कि भारत और तिब्बत के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध बहुत पुराने हैं। तिब्बत की राजधानी ल्हासामें आजसे सैकड़ों वर्ष पूर्व भारत के एक राजपुत्रने तिब्बतकी गद्दी पर बैठकर वहाँ राजतन्त्र की नींव डाली थी। वह था कोशल के महाराज प्रसेनजित् का पाँचवाँ राजकुमार ग्यांझी बसन-पो। इसका हम आगे चलकर समुचित स्थान पर ज़िक्र करेंगे।

तिब्बती न तो देखने में एक-से होते हैं, न उनकी संस्कृति ही एक है। उनमें कई जातियों और संस्कृतियों का समन्वय पाया जाता है। मंगोल जाति के सुसंस्कृत लोगों से लेकर गुफाओं में रहनेवाले रोएँदार, लजालु भड़कनेवाले मानव तक स्थित इस देश में निवास करते हैं। वहाँ बान और बौद्ध धर्मों की प्रधानता है।

उर्दू के महाकवि अकबर ने इन ज़ोरदार शब्दों में डार्विन के इस सिद्धांत का कि सृष्टि के आदिकाल में, मनुष्य के पूर्वज वनमानुस थे, विरोध किया था—

डार्विन साहब हक़ीक़त से निहायत दूर थे।
मैं न मानूँगा कि मूरिस आपके लंगूर थे।

पर तिब्बती शायद अकबर साहब के क़लाम से मुतफ़िक़ राय न होंगे, चूँकि वे अपनी उत्पत्ति वनमानुस ही से बताते हैं। उनकी सारी किम्वदन्तियों और गाथाओं में इसी बात की पुष्टि है। कहते हैं, आज से हज़ारों वर्ष पूर्व अवलोकितेश्वर, चेनरेसिंग ने इस तुषार-मण्डित देश, तिब्बत को एक वनमानुस प्रेषित किया था, जिसने एक स्थानीय राक्षसी—स्रिनमो—के संग सम्भोग कर छः बच्चे पैदा किये, जिन्हें बाल्यकाल में, माँ का दूध छोड़ते ही, फलवृक्षों के वन में त्यागकर वे चलते बने। कुछ वर्षों के बाद पिता ने लौटकर देखा कि उनकी संख्या बढ़कर पाँच सौ हो गई है। पर चूँकि वे क्षुधा-ग्रस्त थे, उसने अपने संरक्षक चेनरेसिंग से प्रार्थना की कि वह उनके भी रक्षक बनें। फिर वह कैलाश को गया और वहाँ से लाकर उसने पाँच प्रकार के अन्न वितरित किये, जिन्हें खा-खाकर वे बन्दर बड़े हुए, उनकी पूँछ के बाल क्रमशः छोटे होते गये और अन्त में बिल्कुल ही ग़ायब

हो गय। बन्दर बोलने लगे और मनुष्य बन गये। जिस सम्बन्ध-सूत्र (कनेक्टिंग लिंक) की तलाश जीव-विज्ञान के पण्डित आज भी कर रहे हैं, सम्भव है, ये बन्दर वे ही हों।

तिब्बत का प्रारम्भिक इतिहास केवल वहां के उपाख्यानों में उपलब्ध है, अतएव प्रामाणिकता से वह रहित है। पर पूर्व में कोशल के प्रसिद्ध सम्राट् प्रसेनजित् के जिस राजकुमार के तिब्बत के राजासन पर बैठने की चर्चा की गई है, उसके शासन-काल से तिब्बत के प्रामाणिक इतिहास का प्रारम्भ होता है। राजकुमार अपने पिता के देश को त्यागकर हिमालय गया और वहाँ—बोददेश (तिब्बत) में तद्देशीय बारह जातियों के मुखियों ने मिलकर उसे अपना राजा बनाया—शासक निर्वाचित किया। तिब्बत-वासियों को इस बात का गर्व हुआ कि उनके शासक आर्य-वंश के हैं और इसी कारण आगे चलकर वे अपनी राजकुमारियों को भगवती कहने और मानने लगे, उन्हें थामी (देवी) संज्ञा से विभूषित कर वे उनकी पूजा करने लगे।

इसके बाद कुछ काल के लिए राज्य-वंश की वंशावली भंग-सी हो जाती है। पुनः तातार वंश के राजाओं से इसका प्रारम्भ होता है। इस वंश के राजाओं में सबसे अधिक प्रसिद्धि ग्नाम-रिस्रौंग वटसन (६२०) ने पाई, जिनके शासन-काल में तिब्बत ने चीन से अंकगणित और चिकित्सा-शास्त्र उपलब्ध किये। देश में गौ, याक और भेड़ के वंशों की इतनी वृद्धि हुई कि उसने अपने राजप्रासाद के निर्माण में जल की जगह इनके दूध का प्रयोग किया। उसके पुत्र गाम-पो के राज्यकाल में तिब्बत की बड़ी तरक्की हुई। देश की छोटी-मोटी सामन्तशाहियों के स्थान पर उसने एक केन्द्रीय शासन की स्थापना की। तिब्बत की वर्तमान राजधानी ल्हासा का भी निर्माण उसने ही किया। वह बड़ा ही मेधावी व्यक्ति था, दूरदर्शी भी, पराक्रमी तो था ही। देश की विभिन्न शक्तियों का दमन कर उसने देखा कि जब तक तिब्बत में किसी लिखित भाषा का प्रचलन नहीं होता है, यह सभ्यता के शिखर पर आरूढ़ नहीं हो सकता। उसका एक योग्य, बुद्धिमान मंत्री था—संभोता। उसे उसने भारतवर्ष भेजा कि वह वहाँ की भाषाओं, लिपियों और व्याकरण का अध्ययन कर तिब्बत के लिए एक उपयुक्त लिपि और

व्याकरण बनाए। संभोता ने भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों में घूमकर बड़े-बड़े विद्वानों से बातचीत कर, अंत में एक लिपि और व्याकरण का सृष्टि ही नहीं की बल्कि संस्कृत के कई महान् पुस्तकों का अनुवाद तक कर डाला। विक्रमशिला (वर्तमान बिहार के भागलपुर जिले का एक स्थान) विश्वविद्यालय के प्रख्यात मनीषी और पंडित अतीश, को भी वह अपने साथ तिब्बत लेता आया।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रवेश भी गाम-पो ही के कारण हुआ। प्रचलित धर्म बोन-पो के कारण वह देश भर का धर्म न बन सका। अड़चनों काफी थीं, फिर भी वह प्रगतिशील बना रहा। उसके इन प्रयत्नों में उसकी दो पत्नियों—रानियों—ने बड़ी सहायता पहुँचाई। वे थीं—

१. नेपाल के महाराज ज्योतिवर्मा की राजकन्या।

२. चीन के बादशाह की राजकुमारी।

ये दोनों ही कट्टर बौद्ध थीं। गाम-पो ने तब अपने बाहु-बल से राज्य का विस्तार किया। यही बात महाराज प्रसेनजित् के पुत्र के तिब्बत के राजासन पर आसीन होने के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

इस वंश के राजाओं ने राज्य-विस्तार को जारी रखा। उन्होंने तातारों को पराजित कर चीन पर भी आक्रमण किये। चीनियों ने इसका बदला लिया। तिब्बत पर धावा बोलकर ल्हासा को जलाया। वर्षों तक ये झगड़े चलते रहे।

ठि-मेसग-तों नामक उक्तवंशीय एक शासक ने दूर-दूर तक बौद्धधर्म का प्रचार किया। उसने अपने पुत्र के पाणिग्रहणार्थ चीन के तत्कालीन बादशाह की एक परम सुन्दरी राजकन्या उपलब्ध की। पर जब तक वह राजकुमारी वहाँ पहुँची, उसके पुत्र का देहान्त हो गया। अन्त में अनेक तर्क-वितर्क के बाद उसने स्वयं उससे शादी कर ली। उसके गर्भ से तिब्बत के सबसे प्रसिद्ध बौद्ध शासक, ठि-सोंग, का ७३० में जन्म हुआ। राज्यारूढ़ होकर उसने देखा, कि सौ साल बीतने पर भी तिब्बत में बौद्ध-धर्म काफ़ी जड़ नहीं पकड़ पाया है और इसका मुख्य कारण देश में किसी ऐसे स्थान का, जहाँ से बौद्ध-धर्म का अंतहीन श्रोत प्रवाहित होता रहे—अभाव है। अतएव उसने अपने पूर्वज गाम-पो—जो महाराज हर्ष का समकालीन था—

के चरण-चिह्न पर कदम रखकर, भारतवर्ष से किसी महान व्यक्ति के बुलाने की बात सोची और नालन्द विश्वविद्यालय के प्रख्यात बौद्ध-विद्वान शान्त-रक्षित का आह्वान किया।

भारतवर्ष में तब पालवंशीय महाराज गोपाल के द्वारा बौद्ध धर्म का वृक्ष पुनः हरा-भरा हो चुका था। बिहार का नव-निर्मित ओदन्तपुरी-मठ तथा पुर्नसंगठित विक्रमशिला का विश्वविद्यलय ज्ञान-वितरण में लगा हुआ था।

शांतरक्षित ने महाराज ख्रि-सोंग का आमंत्रण स्वीकार किया और तिब्बत पहुँचकर योगाचार बौद्ध-दर्शन का वह प्रचार करने लगे। ख्रि-सोंग ने उनके कहने पर ल्हासा से प्रायः पैंतीस मील की दूरी पर एक मठ का निर्माण भी किया। वह मठ तिब्बत का सबसे पहला मठ था, जो देखने में हू-ब-हू ओदन्त-पुरी के मठ-जैसा था। शांतरक्षित का गहन दर्शन, जिसका सम्बन्ध मस्तिष्क से था, तिब्बतियों को प्रभावित न कर सका। अतः अंत में यह कहकर कि वहाँ के लिए तांत्रिक बौद्ध-दर्शन ही अधिक उपयुक्त होगा, वह भारत लौट आये और तंत्र-विद्या के पंडित, पद्मसंभव, के बुलाने की राय दी। तिब्बत का प्रचलित धर्म बोन-पो एक प्रकार की जादू या प्रेत विद्या थी जिसमें मंत्रों का प्रमुख स्थान था। यही बात तांत्रिक बौद्ध-मत के साथ भी थी। अतएव पद्मसंभव ने वहाँ अधिक साफल्य प्राप्त किया। पद्मसंभव ने सोचा यदि यहाँ बौद्ध-धर्म को बोन-पो मतावलम्बियों को परास्त करना है—और इसमें शक नहीं कि उनका बौद्ध-धर्म के प्रति घोर विरोध था; और वे इसका पाँव न जमे, इसके लिए कुछ भी करने को तैयार न थे—तो यह आवश्यक है कि उनके स्तर पर ही लड़ाई लड़ी जाय, मंत्र और चमत्कारों से काम लिया जाए। यही उन्होंने किया भी। योगाचार के स्थान पर वज्रायण बौद्ध-धर्म का, जिसके आधार तीन 'म'-कार—मंत्र, मंडल और मुद्रा—थे, प्रचार किया। तिब्बती बौद्धों का सबसे बड़ा मंत्र 'ओं मणि पद्मे हुं' की तभी सृष्टि हुई। इसका अर्थ है—पद्म में ही मणि है।

पद्मसंभव ने चमत्कार भी दिखलाये और कुछ ही दिनों में तिब्बतवालों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। पचास वर्ष तक वह धर्म-प्रचार में लगे रहे। बौद्ध-धर्म के पाँव तिब्बत में पूरी तरह जम गये। पर बोन-पो

देवी-देवताओं और राक्षसों से वह अप्रभावित न रहा। वे इसमें घुस आये। तिब्बती बौद्ध-धर्म का एक खास ढाँचा या स्वरूप होने का यही मुख्य कारण है। तिब्बत के साथ-साथ हिमालय के अन्य पहाड़ी देशों—नेपाल, सिक्किम, भूटान—में भी बौद्ध-धर्म के तांत्रिक स्वरूप ही का बोलबाला हो गया।

तब शांतरक्षित ने पुनः तिब्बत में पदार्पण किया और बौद्ध-धर्म के बहुतेरे ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया।

महाराज ख्रि-सोंग की मनोकामना पूर्ण हुई।

ख्रि-सोंग का पुत्र मुनि बत्सन-पो संसार में साम्यवाद का प्रयोग करने वाला सर्वप्रथम व्यक्ति था। क़ानून बनाकर उसने देश के सारे धनी व्यक्तियों की दौलत ले ली और उसे ग़रीब लोगों के बीच समान रूप से बाँट दी ताकि देश में न तो कोई ग़रीब रहे, न धनी; सभी एक-से हो जाएँ। अपने शासन-काल में तीन बार उसने यह प्रयोग किया, पर हरेक बार, कुछ दिनों के बाद, उसने देखा कि ग़रीब और भी अधिक निर्धनता को प्राप्त हो गये हैं और धनी प्रचुरताधिक्य को। अन्त में विवश होकर उसे अपने उद्योग को त्याग देना पड़ा।

आश्चर्य है कि संसार के इस बड़े महत्त्वपूर्ण प्रयोग की वर्तमान इतिहास-ग्रन्थों में कहीं चर्चा नहीं की गई। तिब्बती और चीनी भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों के पृष्ठों ही में वह पड़ा रहा।

इसके बाद तिब्बत के आपसी झगड़ों ने उस देश को कई छोटे-छोटे राज्यों में बाँट दिया। अन्त में खो-रे नाम के एक शासक ने पुनः सारे देश पर अपनी सत्ता स्थापित की। उसके पौत्र ने भारतवर्ष से अनेक प्रसिद्ध बौद्ध पण्डितों को तिब्बत में आमन्त्रित कर बुलाया, बहुत-से बौद्ध-धर्म के ग्रन्थ भी मंगाये और एक बहुत बड़े मठ-पुस्तकालय का निर्माण किया। उसके उत्तराधिकारी विद्या और धर्म के प्रबल पोषक हुए। उन्हीं में से एक ने भारतवर्ष से शाक्य पण्डित और दीपशंकर श्रीज्ञान को तिब्बत में आमन्त्रित कर बुलाया था और उनका अतिशय सम्मान किया था।

इसके पाँच वर्षों के बाद ही विख्यात मंगोल विजेता कुबलाखाँ ने तिब्बत के सारे पूर्वीय हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया और वह चीन की राजगद्दी पर जा बैठा। उसने पूर्वोक्त शाक्य के भ्रातृ-पुत्र, जो एक बहुत बड़े बौद्ध

विद्वान पण्डित थे, को चीन बुलाया और उन्हें बारह साल तक चीन में रखा। अन्त में तिब्बत के एक बड़े हिस्से को दान देकर उन्हें तिब्बत वापस भेजा तभी से शाक्य-पा लामा वहाँ के शासक हुए। क्रमशः इक्कीस लामाओं ने वहाँ शासन किया। तत्पश्चात उनकी शक्ति कमजोर पड़ गई और फाग-मो-दु ने राजगद्दी को अपने अधीन कर चीन के तत्कालीन बादशाह की अनुमति से एक राजवंश की स्थापना की, जो बारह पीढ़ियों तक शासन करता रहा।

चीन में मंगोल वंश का अन्त हुआ और वहाँ की राजगद्दी मिंग वंश के हाथ आयी। पर मंगोल वंशीय राजाओं ने तिब्बत के शासन में हस्तक्षेप करना न छोड़ा। वहाँ तब तक एक लामा शासन की जगह पर कई लामाओं के शासन स्थापित हो चुके थे। उनमें से एक सादेनम लामा को मंगोल राजाओं ने वज्र दलाई लामा की उपाधि १५७९ में प्रदान की, पर विभिन्न लामाओं के स्थानीय शासन भी पूर्ववत् चलते रहे। पाँचवे दलाई लामा की नाबालगी की अवस्था में पंचन या पनछेन लामा ने चीन के मंचुवंशीय बादशाह का साथ दिया, जिससे मंगोल बिगड़ उठे और उनके सरदार गुसरी खाँ ने तिब्बत पर चढ़ाई कर दी। उसने सभी लामाओं को पराजित और पदच्युत कर पाँचवे दलाई लामा को सारे तिब्बत का एक-मात्र शासक बनाया। चीनी सरकार ने भी शासन-विधान को स्वीकार किया और तब से आज तक तिब्बत में वही शासन-विधान चालू रहा है।

संक्षेप में तिब्बत का यही इतिहास है। जाहिर है कि तिब्बत के साथ हमारा संबंध बहुत घनिष्ठ और पुराना है। तिब्बत का प्रथम लोकपाल और लामा-शासक (शाक्य पंडित के भ्रातृ-पुत्र) दोनों ही भारतीय थे। यही नहीं, भारतवर्ष के बड़े-बड़े विद्वान् बौद्ध-पंडितों ने वहाँ समय-समय पर जाकर धर्म-प्रचार किया, मठों के निर्माण में सहायता पहुँचाई और बौद्ध-धर्म के ग्रंथों का संस्कृत से तिब्बती भाषा में अनुवाद कर ज्ञान-विस्तार में सहायता दी।

कहते हैं, तिब्बती चित्रकला का आधार भी भारतीय चित्रकला ही है। तिब्बती राजदूत रत्नभद्र ने दसवीं सदी के अन्त में काश्मीर से ३२ चित्रकारों को तिब्बत ले जाकर इसकी नींव डाली थी। यही नहीं, जब बौद्ध-

विरोधी बोन-पो धर्मावलम्बियों ने—जिनके धर्म का आधार जादू और पिशाच विद्याएँ थीं और जिन्हें बौद्ध-तिब्बती 'काला टोपवाले' कहने लगे थे—विद्रोह कर महाराज थ्रि-सोंग के वंशज को गद्दी से उतार दिया, जिसके परिणामस्वरूप उस देश में बौद्ध-धर्म कमजोर पड़ गया, तब (१० वीं सदी के अन्त में) पुनः भारत से महापंडित अतीश दीपंकर ने जाकर बौद्ध-धर्म को बचाया। दूसरी ओर जब भारत पर मुसलमान आक्रमणकारियों के कारण दुदिन की घटनाएँ घिर आयीं तब तिब्बत ही इस देश के बौद्धों और धर्म-ग्रन्थों का संरक्षक बना। विक्रम-शिला विश्वविद्यालय के जलाये जाने की कथा इतिहास-प्रसिद्ध है। १३ वीं सदी के आरम्भ में बख्तियार खिलजी ने बिहार जाकर वहाँ के दो प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों की इमारतों और ग्रंथागारों को लूटा और जलाया था। वे थे नालन्द और विक्रमशिला के विश्वविद्यालय। उस विपत्ति के समय विक्रमशिला के बौद्ध-विद्वानों ने रक्षा का कोई उपाय न देखकर तिब्बत की राह पकड़ी। वे अपने साथ उन उन पुस्तकों को, जिन्हें उस उथल-पुथल में वे ले जा सकते थे, लेते गये। इनमें सबसे प्रमुख थे विक्रम-शिला के मुख्याध्यक्ष महापंडित श्रीभद्र स्वयं। तिब्बत ने बड़े आदर के साथ एवरेस्ट पर्वत से पचास मील की दूरी पर अवस्थित शाक्य-मठ में इन्हें रखा। जिस तरह लाल-चीन के सताये हुए वर्तमान लामा को आज भारत ने शरण दी है, उसी प्रकार बख्तियार खिलजी के सताये हुए हमारे कई महापंडितों और अमूल्य ग्रंथों को तिब्बत ने शरण दी थी। हमारे सम्बन्ध-सूत्र बहुत पुराने हैं, अटूट हैं; और यही कारण है कि आज इस देश के एक छोर से दूसरे छोर तक तिब्बत के प्रति सहानुभूति की लहर इतने जोर से तरंगित हो उठी है।

६

चीन में बौद्ध-धर्म का प्रवेश और प्रसार

बात बहुत पुरानी है। चीन में जिन दिनों तेड्-खानदान की बादशाहत थी, उन्हीं दिनों—महाराज चो-वांग के शासनकाल में—एक दिन देश के दक्षिण-पश्चिमीय भाग में एक अलौकिक ज्योति दिखायी पड़ी। ज्योति बड़ी प्रखर थी, और उसके आविर्भूत होते ही सारा देश प्रज्वलित हो उठा। सभी इस अलौकिक घटना को देखकर अप्रतिभ हो गये, और महाराज ने ज्योतिषियों को बुलाकर इसका फल पूछा। वे बड़ी देर तक तर्क-वितर्क और आपस में परामर्श कर बोले—"राजन्! पृथ्वी के जिस भाग में इस अभूतपूर्व ज्योति का उद्‌भव हुआ है। उस ओर किसी बड़े महात्मा का जन्म होनेवाला है। उनका चलाया हुआ धर्म आज से करीब एक हजार वर्ष के बाद चीन देश में भी प्रतिष्ठा-लाभ करे और फैलेगा।" ज्योतिषियों के इस वचन को सुन-कर चो-वांग ने इस आश्चर्यजनक घटना को राज-पंजिका में लिखवा दिया और कुछ दिनों में इसकी स्मृति भूल-सी गई। उसी वर्ष भारतवर्ष के महाराजा शुद्धोदन के घर बुद्धदेव ने जन्म लिया।

पूर्वोक्त घटना के बहुत दिनों बाद हूण-वंश के महाराजा मिंग-ती यूंग ने आधी रात के समय स्वप्न में आकाश से एक तेजस्वी व्यक्ति को अपने राज-सिंहासन की ओर उतरते देखा। मिंग-ती यूंग ने सुबह ही इस स्वप्न की चर्चा अपने मन्त्रियों से की। मन्त्रियों में फू-ई नाम का कोई व्यक्ति था वह प्रसिद्ध इतिहासज्ञ था। उसकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीक्ष्ण थी। उसने महाराज चो-वांग के शासन-काल में घटी उस अलौकिक घटना की याद दिलायी, और कहा—"बहुत दिन हुए, पश्चिम देश में बुद्ध नाम के किसी महापुरुष ने ईश्वरीय अंश लेकर जन्म ग्रहण किया था। सम्भव है, इस स्वप्न का उससे कोई सम्बन्ध हो। महाराज ने पुरानी राज-पंजिकाओं के पन्ने उलट कर देखे, चो-वांग के राज्य-काल में घटी उस घटना को पूरे १०१० वर्ष हो

चुके थे। उक्त दोनों घटनाओं में घनिष्ठ संयोग देखकर वह बड़े आनन्दित हुए, और उन्होंने वांग-सुन नाम के एक दूत को अठारह साथियों के साथ बौद्ध-धर्म की खोज में भारतवर्ष भेजा। गेरी, यूची, तार-तार तथा बैक्ट्रियन, ग्रीक, आदि, जातियों के देशों की यात्रा कर वे हिन्दुस्तान की सरहद पर आ पहुँचे। गांधार में उन दिनों मगध के दो बड़े विख्यात अर्हत् निवास कर रहे थे। एक का नाम मातंग और दूसरे का नाम भरण पंडित था। चीन के राजदूत ने उन दोनों से सांजलि प्रार्थना की कि वे चीन जाकर बौद्ध-धर्म का प्रचार करें। मातंग और भरण, दोनों ही ने उसके आमन्त्रण को बड़े हर्ष से स्वीकार किया, और यात्रा के लिये तैयारियाँ करने लगे। बौद्ध-धर्म की कुछ आवश्यक पुस्तकों और मूर्तियों को साथ लेकर वे चीन के लिए रवाना हुए।

लो-यांग पहुँचकर इन लोगों ने एक मन्दिर में विश्राम किया, जो खास उन्हीं के लिये बनाया गया था। उनके साथ एक सफ़ेद घोड़ा भी था, जो मन्दिर ही में उनके साथ ठहराया गया। सफ़ेद घोड़े के उस मन्दिर में ठहरने के कारण उसका नाम पी-मा-स्सी (पी=श्वेत, मा=अश्व, स्सी=मन्दिर) पड़ा। वांग-सुन के साथ, सन् ६७ ई० में, वे चीन के राज-प्रासाद के सम्मुख उपस्थित हुए। महाराज मिंग-ती यूँग ने बड़े हर्ष और उत्साह से बाहर आकर उनका स्वागत किया। अपने साथ लाई बहुत-सी चीजें उन्होंने महाराज के सम्मुख उपहार में रखीं, जिन्हें मिंग-ती यूँग ने बड़े आदर और आनन्द के साथ ग्रहण किया। उनमें एक बुद्ध भगवान् की मूर्ति भी थी। उसका सादृश्य बहुत कुछ उस व्यक्ति से मिलता-जुलता था, जिसे मिंग-ती यूँग ने स्वप्न में आकाश से उतरते देखा था। अतएव उन्हें वह मूर्ति पाकर और भी खुशी हुई। अब वह इस पशोपेश में पड़े कि बौद्ध-मत को ग्रहण करें या नहीं। अन्त में बहुत सोच-विचार के बाद वह इस निर्णय पर पहुँचे कि वे दोनों—बौद्ध और ताओसी—मतों की परीक्षा लें, और उस परीक्षा में जो सफल हो वह चीन में राजा और प्रजा की उपासना का अधिकारी बने। तदनुसार महाराजा मिंग-ती यूँग ने यह आज्ञा दी कि दोनों धर्मों के धर्म-ग्रन्थ आग में डाले जाएँ। इनमें जिस धर्म की पुस्तक को अग्नि स्पर्श न करेगी, वह हमारी पूजा और आश्रय का अधिकारी होगा। ईश्वरीय

लीला अथवा दैवयोग से बौद्ध-धर्म की एक भी पुस्तक आग में न जली। अतएव विजयश्री उसे ही प्राप्त हुई। मिंग-ती यूँग, उसके मन्त्रियों और चीन के अधिकांश विशिष्ट लोगों ने बौद्ध-धर्म को अंगीकार किया। मिंग-ती यूँग ने आवेश के साथ कहा—"सिंह के गुण लोमड़ियों में नहीं आ सकते। मशाल की ज्योति सूर्य और चन्द्र की ज्योति के समान नहीं हो सकती। सिन्धु ही पृथ्वी का परिवेष्टन कर सकता है, ताल नहीं। छोटे से पहाड़ में सुमेरु पर्वत की शोभा नहीं आ सकती। धर्म के पुनीत मेघ संसार को घेर लेंगे, और उनके वारि-बिन्दुओं से सब लोकों में बीज अंकुरित हो उठेंगे। हे मनुष्यो और अन्यान्य चर प्राणियो ! विजेता के सन्निकट आ घिरो, क्योंकि संसार के कोने-कोने से उन विभूतियों का समूह आनेवाला है, जिनका इस संसार में अब तक नामो-निशान न था।"

मिंग-ती यूँग की इन बातों को सुनकर लोग खूब आनन्दित और उत्साहित हुए, और सभी बुद्ध और संघ की शरण गये। बौद्ध-मत का इस प्रकार चीन में प्रवेश हुआ, और चो-वांग और मिंग-ती यूँग के स्वप्नों की सचाई प्रतिपादित हुई सबने देखी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मातंग और भरण पण्डितों द्वारा चीन में बौद्ध-धर्म का प्रवेश हुआ। उन दोनों के सदुद्योग से चीन में बौद्ध-धर्म का खूब विस्तार भी हुआ। बौद्ध-ग्रन्थों का चीन की प्रचलित भाषा में अनुवाद कर उन्होंने चीन-निवासियों का उपकार तो किया ही, पर बौद्ध-धर्म की भी कम सेवा नहीं की। तब तक लोग अन्धेरे में पड़े थे। मातंग और भरण पण्डितों ने मानो उन्हें ज्योति दिखा दी। धार्मिक-ग्रन्थों के अध्ययन से बौद्ध-धर्म के प्रति लोगों का प्रेम दिन दूना, रात चौगुना बढ़ने लगा। कुछ ही दिनों में अनुवाद-ग्रन्थों की बाढ़-सी आ गई। संस्कृत और पाली के सैकड़ों ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ। स्वयं मातंग ने प्रायः चालीस सूत्रों का और लो-यांग में रहते हुए भरण पण्डित ने 'दश-भूमि-सूत्रों' का अनुवाद किया, जिसकी वहाँ के विद्वत्समाज ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

महाराज मिंग-ती यूँग के उत्तराधिकारी ने भारतवर्ष के कई और पण्डितों को चीन में आमन्त्रित किया। उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर भारतवर्ष से आचार्य नन्द, आर्यकाल, स्थविर चिलुकाक्ष, श्रमण सुविनय

पण्डित गणपति, आदि, विद्वान् चीन गये। उन्होंने भी चीनी भाषा में संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। आचार्य नन्द को इन अनुवादकों की श्रेणी में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। फिर तो इनके बाद भारतवर्ष से बहुत-से पण्डितों ने आकर चीन में संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद का कार्य आरम्भ किया। कुछ ही दिनों में बौद्ध-धर्म के अधिकांश ग्रन्थ चीनी भाषा में अनूदित हो गये। इससे बौद्ध-धर्म के प्रसार में बड़ी सहायता मिली।

चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ में हान-वंश के शासकों पर बौद्ध-धर्म का खूब प्रभाव पड़ा और उनके भक्तिपूर्ण आश्रय में वह और भी समुन्नत हो उठा। संस्कृत के प्रति लोगों का प्यार कुछ ऐसा बढ़ा कि शांसी और पेंचीली, आदि, प्रान्तों का एक-एक निवासी संस्कृत पढ़ने लगा। कुछ लोगों ने तो इसमें खूब ही योग्यता प्राप्त कर ली। चीन के उत्तर भाग में जो भाषा प्रचलित थी, उस पर संस्कृत की छाप पड़ गई। भारतवर्ष के विद्वानों का चीन में बड़ा आदर होने लगा। हिन्दुस्तान के बौद्ध-विद्वान् बुद्धसंघ को, जिनके सद्गुणों की चर्चा चीन में अब तक होती है, चीन के बादशाह बड़े आदर की दृष्टि से देखते और उनके परामर्श को मानते थे। उनके कहने पर चीन में उन्होंने ८९३ विहारों का निर्माण किया था। सन् ३८१ ई० में चीन के राजप्रासाद में एक बौद्ध मन्दिर स्थापित हुआ और कुछ ही दिनों में देश की अधिकांश जनता बौद्ध धर्मानुयायी हो गयी। यत्र-तत्र नव-निर्मित बौद्ध-विहारों का दृश्य देखने योग्य था। बहुतों के मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि वे बुद्ध भगवान् के जन्म-देश की यात्रा करें। फलत: अनेक चीनी यात्री भारत आये, जिनमें फाहियान, ह्वान-सांग और इत्सिंग के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन् ४०५ ई० में चीन के तत्कालीन शासक ने तिब्बत के विरुद्ध एक फ़ौज भेजी और सेनाध्यक्ष को यह आदेश दिया कि उस समय भारतवर्ष के बौद्धाकाश में जिस किसी महापुरुष की यशोधवलिमा फैल रही हो, उसे निमन्त्रित कर चीन लाने की चेष्टा करें। उन दिनों काश्मीर में पढ़े हुए एक बहुत बड़े विद्वान्, कुमारजीव,[1] तिब्बत की उत्तर-पश्चिम दिशा में कूची

---

१. कुमार जीव (सन् ३३२-४१३)—कुमार जीव भारतीय ग्रन्थों के

नामक राज्य में निवास कर रहे थे। चीन-नरेश के बार-बार निमन्त्रण पर वह सन् ४०८ ई० में चीन पधारे। वहाँ उनका बड़ी धूमधाम से स्वागत हुआ। चीन के बादशाह ने संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य-भार उनको सौंप दिया। इस कार्य में उनकी सहायता के लिए आठ सौ से अधिक पण्डित लगा दिये। इसका निरीक्षण बादशाह स्वयं किया करते थे। बौद्ध साहित्य के अध्ययन की ओर उनका बड़ा झुकाव था और इसमें उन्होंने काफ़ी पांडित्य भी प्राप्त कर लिया था। अनूदित ग्रन्थों को वह स्वयं शुद्ध करते थे। इस प्रकार प्रायः ३०० पुस्तकों का अनुवाद हुआ। कुमारजीव के आने से इसमें और भी तरक्क़ी हुई। उन्होंने स्वयं कई ग्रन्थों का अनुवाद किया।

कुमारजीव के शिष्यों में एक बालक भी था, जिसकी उम्र सिर्फ़ तीन वर्ष की थी। उसका नाम फाह्यान था। जब वह सयाना हुआ तब उसकी इच्छा भारत जाकर ग्रन्थ-संचय करने की हुई। अतएव उसने भारत की यात्रा की। भारत में वर्षों विचरण करता हुआ वह ग्रन्थ-संग्रह करता रहा, साथ-साथ ज्ञान-संचय में भी वह लगा रहा। पंद्रह साल के बाद वह चीन लौटा। जिस जहाज पर वह लौट रहा था, उस पर दो सौ यात्री थे। एक मास तक तो उनकी यात्रा बड़े आनन्द से कटी, पर उसके बाद एक दिन

चीनी-अनुवादकों में अद्वितीय हैं। उनके अनुवाद के नजदीक स्वेन्-चाङ का अनुवाद ही पहुँचता है। कुमारजीव के पिता, कुमारायन, एक भारतीय भिक्षु थे। कूचा में जाकर उन्होंने वहाँ के राजा की बहन, जीवा, से विवाह कर लिया। कुमारजीव के पैदा होने पर माँ बच्चे की अच्छी शिक्षा के लिए उसे काश्मीर ले गयी, जहाँ अध्ययन करने के बाद बीस वर्ष की उम्र में माँ के साथ कुमारजीव कूचा लौट आये। भिक्षु बनकर तीस साल तक कुमार जीव ने महायान का प्रचार किया। कुमार जीव की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गयी। चीनी सेना के बंदी होने पर कुमारजीव पहले कू-चाङ में रहे, किंतु सम्राट् के बार-बार आग्रह पर कुमारजीव को उन्हें भेजना ही पड़ा। वह सन् ४०१ ई० में छाङ-अन् पहुँचे। सम्राट् ने उन्हें तुरन्त ऊ-वो-शी (राज-गुरु) बनाया।

—श्री राहुल सांकृत्यायन कृत 'बौद्ध-संस्कृति', पृष्ठ २६७, से साभार उद्धृत।

अचानक बड़े जोर से आँधी आयी। यात्रियों में आतंक-सा छा गया। फ़ाह्यान ने बुद्ध भगवान् का ध्यान किया और यात्रियों ने भी अपने-अपने इष्ट-देव की आराधना की। कुछ घण्टों के बाद हवा रुक गयी, आकाश स्वच्छ हो गया, और समुद्र का जल पूर्ववत् शान्त, गम्भीर हो गया। भय जाता रहा, पर कुछ लोगों ने यह आवाज उठायी कि इस चीनी फ़ाह्यान के कारण यह बाधा आयी थी, इसे जहाज से उतार दिया जाए। कुछ लोगों ने तो इसका खूब समर्थन किया, पर कुछ लोगों ने इसका विरोध भी किया। अन्त में यह प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ और फाह्यान सकुशल चीन लौटा। चीन आकर उसने अपने साथ लाये हुए ग्रन्थों का सम्पादन किया, जिसमें भारत से आये हुए पण्डित पारससंघ ने बड़ी सहायता पहुँचायी। कुमारजीव की मृत्यु के बाद भी अनुवाद का काम खूब तेजी से चलता रहा। बोधिज्ञान, धर्मरुचि, स्थविर, संघ वर्मा, पं० धर्मरक्ष सरीखे विद्वानों ने बड़ी तत्परता के साथ इस कार्य को सम्भाला।

सन् ५१६ ई० में भारतवर्ष के एक बहुत बड़े विद्वान्, बोधिधर्म ने चीन में पदार्पण किया। सर्वप्रथम नानकिंग जाकर उन्होंने दक्षिण चीन के बादशाह से बौद्ध-धर्म पर शास्त्रार्थ किया, पर उन्हें वह सन्तुष्ट न कर सके। अतएव वह वे-ई राज्य में चले गये। राह में, लो यांग में, वह एक दीवार की ओर मुँह करके नौ वर्षों तक ध्यानस्थ रहे। उनके पांडित्य और धर्म-धुरीणता की चर्चा सुनकर दक्षिण चीन के राजा को पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने बोधिधर्म को अपने राज्य से जाने दिया। उन्होंने बहुत कोशिश की कि वह उनके राज्य में लौट आएँ, पर बोधिधर्म ने उनके इस आमन्त्रण को स्वीकार न किया। वे-ई राज्य में रहकर उन्होंने अपने धार्मिक विचारों का प्रचार किया। उनके धार्मिक विचार प्रचलित बौद्ध-धर्म से भिन्न थे। वह बाह्याडम्बर के घोर विरोधी थे। वह मन शुद्धि और ध्यान को सर्वोच्च स्थान देते थे।

वे-ई राज्य के शासक बड़े दृढ़ बौद्ध-मतावलम्बी थे। वह धर्म-विस्तार में बड़े उत्साह के साथ लगे रहते थे। उन्होंने अपने राज्य में बहुतेरे विहारों का निर्माण किया था और उनमें रहनेवाले भिक्षुओं के जीवन-निर्वाह का सारा खर्च वह स्वयं देते थे। उनके शासन-काल में बौद्ध-मन्दिरों की संख्या

तेरह हजार तक पहुँच चुकी थी। भारतवर्ष के प्रायःतीन हजार बौद्ध-प्रचारक उनके राज्य में धर्म-विस्तार कर रहे थे और उन्हें उनकी सहायता प्राप्त थी। बोधिधर्म का भी उन्होंने खूब सम्मान किया, और हर तरह से उनको सहायता दी। वह स्वयं गुणी थे और गुणियों का आदर करना जानते थे।

वे-ई राज्य में धर्म का प्रसार करते हुए बोधिधर्म परम पद को प्राप्त हुए। चीन में अब भी उनकी वार्षिक जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनाई जाती है। उनका नाम अब तक बड़े आदर और भक्ति के साथ लिया जाता है। उनके पाँच शिष्य थे। पाँचों ही ने उनकी मृत्यु के बाद बड़ा नाम कमाया। उनकी अध्यात्म-शक्ति के सम्बन्ध में तरह-तरह की कहानियाँ प्रचलित हैं।

मगध में उन दिनों शीववद नाम के राजा राज्य करते थे। चीन के समाचार सुनकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। चीन के महाराज वेंती के पास उन्होंने पत्र लिखा, जिसमें उनके सत्कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने लिखा—'स्वर्ग और मर्त्य लोकों में आपने सुख का निर्माण किया है, अगणित प्राणियों की रक्षा की है, और बौद्ध-धर्म का विस्तार कर उनके लिए निर्वाण के अलौकिक सुख की उपलब्धि का साधन प्रस्तुत कर दिया है। अतएव आप धन्य हैं। आपने अपने देश में जिन बौद्ध-ग्रन्थों और बुद्ध भगवान् के वचनों का प्रचार किया है, वे सूर्य की प्रकाशमयी रश्मियों के विकास के समान हैं। सूर्य के चारों ओर रहनेवाले नक्षत्रों के समान बौद्ध-आचार्यों का समूह है। मेरी यह हार्दिक आकांक्षा है कि दोनों देशों के बीच आवागमन का सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता रहे।'

सन् ६२९ ई० में ह्वानसाँग ने भारत की यात्रा की। उसने यहाँ शास्त्रों का अध्ययन और अनेक मूल्यवान ग्रन्थों का संग्रह किया। उसके पांडित्य पर मुग्ध होकर भारतवर्ष ने उसे 'पण्डित' की उपाधि प्रदान की। यह उपाधि किसी और विदेशी को अब तक न मिली थी। चीन लौटकर ह्वानसाँग ने कई पुस्तकों का अनुवाद और सम्पादन किया।

कुछ ही दिनों में चीन और भारत का सम्बन्ध अतिशय दृढ़ हो गया। चीन में बौद्ध-धर्म का खूब विस्तार हुआ। चीन भारतवर्ष को अपना आचार्य

मानने लगा।

दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ, जैसा कालिदास के इस श्लोक से जाहिर है—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पुनः असंस्थितचेतः
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।

(अभिज्ञान शाकुंतलम्)

जा रही यद्यपि आगे देह,
लौटता पीछे चित्त अधीर,
चीन के रेशम की ज्यों ध्वजा,
लौटती पा प्रतिकूल समीर!



उपन्यासकार शरच्चन्द्र चटर्जी

७

बिहार और उपन्यासकार शरच्चन्द्र

मुजफ़्फ़रपुर—

कवि के सम्बन्ध में यह उक्ति कि 'कवयः किं न पश्यन्ति, किं न भक्षयन्ति वायसाः' कवि के कल्पना-लोक में विचरने की ओर इशारा करती है। यह सही है कि कवि अपनी कल्पना ही से बहुत-सी बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और शायद इसीलिए महाकवि शेक्सपीयर ने कवि और पागल को एक ही दर्जे में रखकर कहा है कि दोनों ही में कल्पना की मात्रा बहुत अधिक होती है।

उपन्यास का निर्माता भी कल्पना से काम लेता है, पर उसमें और कवि में बड़ा अन्तर है। कवि अपने घर के किसी कोने में बैठा हुआ—यहाँ तक कि गिरि-कन्दरा में रहकर भी—काव्य-सृष्टि कर लेता है, पर एक सफल उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन के हर प्रकार के अनुभव प्राप्त करे, संसार के विभिन्न प्रकृति के लोगों से मिले, बाजार के धक्के खाए, समाज के उस जीवन तक से सम्बन्ध स्थापित करे जिसे आमतौर से गर्हित—गिरा हुआ—माना जाता है। यही नहीं, यदि उसे इसका वास्तविक अनुभव प्राप्त करना है तो स्वयं कुछ दिनों के लिए वैसा ही जीवन बिताना भी कभी-कभी उसके लिए आवश्यक हो सकता है, जैसा 'यामा दी पिट' के सुप्रसिद्ध लेखक कुप्रिन ने किया था। तभी एक लेखक समाज के हर पहलू की सही तस्वीर बना सकता है, उपन्यास के पात्र-पात्रियों का सही खाका खींच सकता है, उनका यथार्थ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और चरित्र-चित्रण कर सकता है, समाज की रूप-रेखा का यथार्थ अंकन कर सकता है; अन्यथा, उसकी कृति और वास्तविकता में—उसकी कृति में चाहे कितनी रोचकता क्यों न हो, कोसों की दूरी रह जाएगी, उसकी क़लम से जो गौहरे मज़मूँ निकलेंगे, वे बेआबदार होंगे और इस तरह स्थायी साहित्य के निर्माण

में वह असमर्थ रहेगा। उसकी वही दशा होगी, जो जन-जीवन से दूर रहनेवाले नेता की होती है।

इस तथ्य को पूरी तरह हृदयंगम करनेवालों में थे शरत् बाबू, जिन्हें आज इस देश के उपन्यासकारों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। अपनी जवानी के दिनों में उन्होंने इतने तरह के अनुभव प्राप्त किए कि आश्चर्य होता है—साधु-सन्तों का साथ किया, भाँग-गाँजा पिया, जमींदार मित्रों के साथ बन्दूक से शिकार खेला, महफ़िलों में रातें बितायीं, शराब पी, वेश्याओं की सोहबत की, ताश और चौपड़ के खेल में दिन-दिन-भर बिताया, निषिद्ध प्रेम-बन्धन में पड़े, माशूका के लिए लड़ाई की, आधी रात के घने अन्धकार में श्मशान की यात्रा की—गरज यह कि जिसे अंग्रेजी में 'बोहेमियन' जीवन कहते हैं, उसका पूरा मजा उन्होंने लिया। इसी का यह परिणाम है कि उनके उपन्यास के पात्र इतने सजीव मालूम पड़ते हैं, ऐसे जिनसे रोजमर्रा के जीवन में हमारा साथ हुआ करता है। किसी परिस्थिति में मनुष्य के हृदय में कैसी भावनाएँ उठती हैं, इसका यथार्थ चित्रण हमें उनके उपन्यासों में मिलता है।

शरत् बाबू के 'बोहेमियन' जीवन का आरम्भ भागलपुर—जहाँ वह पाले-पोसे गये—से होता है, पर इसकी पूर्णता होती है मुजफ़्फ़रपुर में जहाँ दो वर्ष उन्होंने परकीया-प्रेम, शराब और शिकार में बिताये।

१९०१ ई० में सर्वप्रथम वह मुजफ़्फ़रपुर आए, सो भी एक विचित्र परिस्थिति में। भागलपुर में एक लड़की थी, जिससे वह प्रेम करते थे। पर वह प्रेम करने लगी आबकारी के एक दरोग़ा के साथ। उसी के संग वह भागलपुर से मुजफ़्फ़रपुर भाग आयी। उसका पीछा करते हुए शरत् बाबू मुजफ़्फ़रपुर पहुँचे। यहाँ वह अपने परिचित निशा बाबू के घर पर रुके। निशा बाबू बंगाली भाषा की प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका अनुरूपा देवी के देवर थे। अनुरूपा देवी के साथ शरत् बाबू का पहला साक्षात्कार यहीं हुआ। काफ़ी दिनों तक वह उनके घर पर रहे, फिर एक 'मेस' में चले गये, जो चन्दरबाबू नामक एक व्यक्ति के दवाखाने के सामने पड़ता था और जिसमें तार और पोस्ट आफिस के बाबू रहा करते थे।

मुजफ़्फ़रपुर पहुंचकर वह कई दिनों तक अपनी प्रेमिका की तलाश में घूमते रहे, अन्त में उसका पता पाया, पर उसे लेकर पूर्वोक्त दरोग़ा के साथ

उनकी भिड़न्त हो गयी। हाथा-पायी की नौबत आ गई पर वह उसे वापस लाने में सफल नहीं हो पाए।

उन्हीं दिनों मुजफ्फरपुर में एक नवयुवक जमींदार, महादेव साहु, रहा करता था, जिसकी उम्र अठारह साल की थी। उसकी संगत अधिकतर शहर के बंगाली युवकों के साथ थी। स्वयं बंगला लिखना-पढ़ना, उन्हीं जैसी पोशाक पहनना उसने अच्छी तरह सीख लिया था। इन्हीं बंगाली लड़कों के द्वारा शरत् बाबू से उसका परिचय हुआ। फिर तो दोनों ऐसे घुल-मिल गए कि खाना-पीना, सोना, सभी एक साथ होने लगा। सुरा-पान, वेश्या-गमन, सभी कामों में दोनों एक-दूसरे का साथ देने लगे। क्रमशः महादेव साहु की पत्नी से अनबन हो गयी। साहू के घर पर सारी रात महफ़िलें बैठने लगीं। उसका घर शहर की तवायफ़ों का अड्डा बन गया। पिता कुछ ही वर्ष पहले, अच्छी जमींदारी और कई लाख रुपये छोड़कर मरे थे। बस, वे रुपये पानी की तरह बहने लगे।

महादेव साहु पर शरत् बाबू का इतना रौब बैठ गया कि वह जो-कुछ कहते, वह उसके लिए ब्रह्म-वाक्य हो जाता। 'शरत् दादा' उसके सबसे बड़े आदर्श बन गए। शरत् बाबू उन दिनों अनीश्वरवादी थे। महादेव को वह हमेशा यही समझाते कि ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। महादेव भी, 'शरत् दादा कहते हैं कि ईश्वर नहीं है' कहकर, ईश्वर के अस्तित्व पर सन्देह करने लगा और पूरा नास्तिक बन बैठा। इस बात को लेकर परिवारवालों से उसका काफ़ी खिंचाव हो गया।

महादेव साहु और शरत् बाबू की घनिष्ठता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। शहर में चारों ओर इस बात की चर्चा होने लगी कि भागलपुर से आया हुआ एक बंगाली युवक महादेव को बरबाद कर रहा है; पर इसका उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर कोई असर न हुआ। संयोगवश दोनों के रंग-रूप में भी घनिष्ठ सादृश्य था और देखने में ऐसा लगता कि दोनों एक ही माता-पिता की सन्तान हों।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, महादेव साहु का घर दिन-रात सारंगी के स्वर और तबले की ठमक से निनादित रहने लगा; तवायफ़, नाच-गाना, शराब—इन्हीं में महादेव और उसके साथियों का सारा समय व्यतीत होता

था। पुटी नाम की एक सुन्दर वेश्या थी। बहुधा ये दोनों उसके घर पर रातें बिताया करते थे।

शरत् बाबू के अंतरंग साथियों में एक समवयस्क ब्राह्मण-कुमार था—राधाकान्त। वह रहने वाला मुजफ़्फ़रपुर जिले ही के एक गांव, बाजितपुर का था, जिसकी मृत्यु अभी पिछले दिनों सत्तर साल की उम्र में हुई।

उन दिनों की चर्चा वृद्ध राधाकान्त कुंवर बड़े विस्तार और उमंग के साथ किया करते थे। वह आहें भरते थे कि वे दिन अब न रहे, जब दिन-रात महफ़िलें और कहकहे लगा करते थे। उन्हें यह संसार अब सूना-सूना-सा लगता था।

महादेव साहु के एक अन्य साथी, श्री प्रमथनाथ राय ही भाग्य से अभी जिन्दा हैं। उनकी उम्र अस्सी के किनारे पहुंच चुकी है। शरत् बाबू के मुजफ़्फ़रपुर जीवन-सम्बन्धी पूर्ण बातों का प्रामाणिक पता अब वही दे सकते हैं, बाकी सभी उस धाम के पथिक बन चुके हैं जहां जाकर कोई लौटता नहीं—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते।'

महादेव साहु को शिकार का शौक़ था। बहुधा वह और उसके साथी, जिनमें शरत् बाबू भी हुआ करते थे, निकटवर्ती झील 'भरथुआ चोर' में जल-बत्तखों के शिकार के लिए जाया करते थे।

इन सारी बातों के बावजूद भी शरत् बाबू की प्रतिभा धीरे-धीरे प्रस्फुटित होने लगी। अक्सर शराब की बोतल लेकर वह स्थानीय सरिता के तट पर अथवा एक श्मशान में, जो वर्तमान लंगटसिंह कालिज के पीछे पड़ता था, एकाकी चले जाते और घंटों वहीं बैठे हुए कुछ लिखा करते थे। लिखित चीजों में कहानियां, उपन्यास, व्यक्तियों के स्केच होते थे। महादेव साहु के घर पर विभिन्न प्रकार के लोग उपस्थित होते। कुछ तो रंग-रेलियों में शामिल होनेवाले होते थे और कुछ जमींदारी के काम-काज के सिलसिले में आते थे। शरत् बाबू तो वहां रहा ही करते थे, आगन्तुकों की पूरी दिनचर्या को वह बड़े गौर से देखते, उनकी बातें सुनते और उनके चले जाने पर उनके स्केच लिख-लिखकर साथियों को सुनाते थे, जो रसिकता से परिपूर्ण होते थे, साथ ही उनमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का काफ़ी पुट रहता था। ऐसे लेखों से भरे हुए कई ट्रंक वह अपने साथ मुजफ़्फ़रपुर से जाते

समय लेते गये। चरित्र-चित्रण की उनकी योग्यता तब तक काफ़ी विकसित हो चुकी थी।

शरत् बाबू को संगीत का भी ज्ञान था। वह क्लेरियोनेट बड़ी दक्षता से बजाया करते और सुननेवालों को मुग्ध कर लेते थे।

उन्हीं दिनों उनका परिचय एक सौन्दर्यमयी महिला से हुआ, जो आगे चलकर उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'श्रीकान्त' में मुख्य पात्री बनी। वह थी राजबाला, जिसका 'श्रीकान्त' में राजलक्ष्मी के नाम से उल्लेख है। यद्यपि यह सच है कि तभी मुजफ़्फ़रपुर में महादेव साहू की रंग-महफ़िलों में शामिल होनेवाली एक राजलक्ष्मी नाम की गणिका से भी, जो रहनेवाली पटना की थी, उनका परिचय हुआ था, जो पीछे चलकर काफ़ी घनिष्ठ भी हुआ, पर श्रीकांत की राजलक्ष्मी राजबाला ही है पटनावाली राजलक्ष्मी नहीं। हाँ, पटना की राजलक्ष्मी के जीवन की कतिपय घटनाओं से उन्होंने प्रेरणा अवश्य ली; यही नहीं, उसे आगे चलकर अपने संग रखा भी था पर इस सुप्रसिद्ध उपन्यास की मुख्य पात्री का ढाँचा उन्होंने राजबाला पर ही गढ़ा, राजलक्ष्मी पर नहीं, जो उसके जीवन से पूरी तरह परिचित होनेवालों को 'श्रीकांत' के पढ़ने से साफ़-साफ़ परिलक्षित होता है। हाँ, एक भद्र परिवार की महिला होने के कारण नाम उन्होंने राजबाला न रखकर राजलक्ष्मी ही रखा।

राजबाला मुजफ़्फ़रपुर के एक चिकित्सक, न्यू-डिस्पेंसरी नामक एक एलोपैथिक औषधालय के मालिक, चन्दर बाबू, की पत्नी थी। उसका वंश-परिचय भी एक रोमाण्टिक कहानी है, जो इस प्रकार है—

हाजीपुर मुजफ़्फ़रपुर जिले का एक नगर है, जो नारायणी नदी के तट पर बसा है। पटना से रेल की जो लाइन मुजफ़्फ़रपुर जाती है, वह इस नगर से होकर गुजरती है। आज से प्राय: अस्सी-पिच्चासी साल पूर्व की बात है कि वहाँ एक बंगाली वकील रहते थे, जो नियमानुसार सन्ध्या-काल में हाजीपुर रेलवे स्टेशन पर सैर-सपाटे को जाया करते थे। एक दिन, जब वह प्लेटफार्म पर विचर रहे थे, उन्होंने एक बंगाली दम्पति को ट्रेन से उतरते देखा। ट्रेन चली गयी, पर वे दोनों वहीं खड़े रहे। वकील साहब की उनका परिचय प्राप्त करने की उत्कंठा प्रबल हो उठी। उन्होंने उनसे जाकर उनका नाम-

धाम और हाजीपुर आने का उद्देश्य पूछा। पत्नी चुप रही, पर पति ने कहा कि हम बंगाल के रहनेवाले हैं, कलकत्ता से यहाँ वायु-परिवर्तन के लिए आए हैं, बड़ी कृपा हो यदि आप अपने पास हमें शरण दें। वकील साहब ने प्रस्ताव मंजूर कर लिया और उन्हें अपने घर ले गये। वकील साहब के साथ ये ठहर गए। पति देखने में दुबला-पतला पर गौरवर्ण था; पत्नी मोटी, साँवली पर यौवन-सम्पन्न थी।

दो-चार दिन के बाद पति महोदय एक दिन एकाएक कहीं चले गए, फिर लौटकर नहीं आए। पत्नी अकेली रह गई।

अब सुनिए, यह कौन थे।

स्त्री कलकत्ता के एक तत्कालीन ख्याति-प्राप्त वकील की पुत्र-वधू थी। पुरुष एक छोटा-मोटा व्यापारी था, जिसके प्रेम में पड़कर वह भाग आयी थी। न तो वह उसकी पत्नी थी, न वह उसका पति। जिस तरह भौंरा कभी किसी एक पुष्प के संग नहीं रहता, उसी तरह कामी पुरुष भी किसी एक स्त्री से नहीं बंधा रहता। सो कुछ दिन के बाद वह पुरुष अपनी कामपिपासा पूरी कर, वहाँ से चलता बना। स्त्री वकील साहब के जिम्मे पड़ी। वकील साहब ने उससे शादी कर ली और उससे उन्हें छः सन्तानें हुईं—दो पुत्र और चार पुत्रियाँ। इन्हीं चार पुत्रियों में एक राजबाला थी।

कुछ दिनों के बाद वकील साहब अपने इस परिवार को लेकर मुजफ़्फ़र-पुर चले आए और वहीं प्रेक्टिस शुरू कर दी।

लड़कियाँ सयानी हुईं। उनके विवाह का प्रश्न उनके सामने आया।

उन्हीं दिनों मुजफ़्फ़रपुर के मशहूर दवाखाने 'दि चीप डिसपेंसरी' का एक कम्पाउण्डर, गिरीश, दवाखाने से अलग हो गया; और उसने 'दि न्यू डिसपेंसरी' नामक एक दवाखाना खोला। इसके कुछ ही दिनों के बाद वह अपने घर गया, पर दवाखाने की चाबी वकील साहब के पास छोड़ गया। घर जाकर उसकी मृत्यु हो गई। उसका कोई वारिस नहीं था, अतएव दवा-खाना बन्द पड़ा रहा।

तभी चन्दर नाम का एक व्यक्ति वीरभूम जिले से मुजफ़्फ़रपुर आया और वकील साहब के पास ठहरा। (ऐसा लगता है कि वकील साहब का घर भी वीरभूम जिले ही में था।) वकील साहब ने उसकी शादी राजबाला से

कर दी और दहेज में गिरीश का वह दवाखाना उसे दे दिया, जिसकी चाबी उनके पास थी। अन्दर एकाएक चन्दरबाबू के नाम से एक चिकित्सक तथा दवाखाने का मालिक बन गया और पैसे कमाने लगा।

राजबाला की उम्र उस समय कम थी। उम्र बढ़ने के साथ-साथ उसका सौन्दर्य भी निखरने लगा। कुछ ही दिनों में उसकी अद्वितीय सुन्दरता की शोहरत शहर-भर में फैल गई। जिन्होंने उन दिनों उसे देखा था उनमें एक-दो सज्जन अभी जीवित हैं। उनका कहना है कि वह वास्तव में एक बड़े ऊँचे दर्जे की हसीन औरत थी। देखने में वह गौरवर्ण थी और उसके सभी अंगों से असीम सौन्दर्य टपकता था। स्वभावतः कुछ ही दिनों में नगर के मनचले लोगों की वह हृदयवल्लभा हो गई।

शरत् बाबू का परिचय राजबाला के साथ तब हुआ, जब अनुरूपा देवी के घर से अलग होकर वह राजबाला के घर के सामने एक मेस में आकर रहने लगे थे। शीघ्र ही वह उसके प्रेम-जाल में फंस गए और फिर तो वह रोज ही उसके घर पहुंचने लगे। यदि एक दिन भी वह उसके घर नहीं जाते तो उसका नौकर उनके पास पहुँचता और धीमे से कहता कि मालकिन घंटों से आपका इंतजार कर रही हैं, बुला रही हैं। यह राधाकांत कुँवर की कही हुई है, कानो सुनी बात है और इस बात का परिचायक है कि राजबाला और उनके बीच का प्रेम-सम्बन्ध काफ़ी गहरा हो चुका था। नायक और परकीया नायिका के जिस प्रेम का वर्णन विहारी आदि कवियों ने अपने काव्य में किया है, इस ऊँचाई तक पहुँच गया था!

१६०२ तक शरत् बाबू मुजफ़्फ़रपुर में रहे। वहीं रहते-रहते उन्हें डाक-तार-विभाग में नौकरी मिल गयी, और उनकी नियुक्ति बर्मा में हुई। तदनन्तर वह बर्मा चले गए।

मुजफ़्फ़रपुर के अपने तीन साल के अधिवास में शरत् बाबू ने जिस प्रकार का जीवन व्यतीत किया, वह वांछनीय नहीं था—

किन्तु जल मिट्टी ही में स्वर्ण
प्राप्त करता हं उज्जवल वर्ण,

आग में तपकर ही तो सोने की वास्तविक सुन्दरता निखरती है। शरत् बाबू के लिए यह अनुभवों की आँच थी, जिससे निकलकर वह एक देदीप्य-

मान, सफल उपन्यासकार के रूप में प्रकट हुए। जीवन के इन अनुभवों के फलस्वरूप बर्मा पहुँचते ही उन्होंने कई श्रेष्ठ उपन्यास लिख डाले, जो आज उपन्यास-जगत् की विभूति माने जाते हैं। शरत् बाबू के उपर्युक्त 'बोहेमियन' जीवन पर जब हम ध्यान देते हैं और दूसरी ओर उनकी कृतियों पर तो हमें कवीन्द्र रवीन्द्र की इस उक्ति का स्मरण हो आता है—

जीवन-मंथन से निकला विष,
वह तो तुमने पान किया,
और अमृत जो बाहर आया,
उसे जगत् को दान दिया।

राजबाला की शेष तीन बहनें वकील साहब के साथ लहेरिया सराय, दरभंगा चली गई; वहाँ से वे कलकत्ता गयीं। इनमें से दो, सुशीला और विनोदिनी, आगे चलकर कलकत्ता की प्रसिद्ध नर्तकियाँ हुईं। उन्होंने काफ़ी धन पैदा किया, यूरोप तक की सैर की, बड़ी-बड़ी कारें रखीं, जिन्हें वे खुद चलाती थीं। मैं जिन दिनों कलकत्ता में पढ़ा करता था, ये अक्सर इडेन-गार्डेन में सैर-सपाटे को खुद कार चलाती हुई आया करती थीं।

चौथी बहन कालीदासी से कलकत्ता के एक बड़े अफ़सर के पुत्र का प्रेम हो गया। वह उससे शादी करना चाहता था, पर उसके माता-पिता राजी न हुए। अन्त में उस लड़के ने आत्महत्या कर ली, और उसी के शोक में कालीदास ने भी आत्मघात कर लिया।

मुजफ्फ़रपुर में उन दिनों प्रायः प्रति वर्ष जाड़ों में प्लेग का प्रकोप हुआ करता था। १६२० में राजबाला के पति चन्दर बाबू भी उसके चंगुल में फंसे और उनका देहान्त हो गया। राजबाला तब न्यू-डिसपेंसरी को चन्दर बाबू के भांजे नित्यगोपाल सिद्धान्त (उपनाम बंकू) के (जिनकी मृत्यु पिछले वर्ष हुई) हाथ बेचकर कलकत्ते चली गयी। वहीं उसका भी देहावसान हो गया। जीवन के अन्तिम दिनों में वह अपने एक भाई के साथ धर्मतल्ला स्ट्रीट में रहा करती थी।

ऊपर जिन बातों की चर्चा की गयी है, उन्हें दृष्टि में रखकर यदि हम 'श्रीकांत' को पढ़ें, तो हमें यह समझने में देर न लगेगी कि उसकी पृष्ठभूमि कौन-सी है। उसके पात्रों में मुख्य पात्र मुजफ्फ़रपुर के हैं और कतिपय

घटनाएँ भी। श्रीकान्त शरत् बाबू स्वयं हैं तथा इसमें महादेव (जमींदार), राजबाला, नित्यगोपाल (बंकू) जो बाल्यकाल में अपनी मौसी राजबाला के साथ रहा करता था; शिकार, श्मशान (मुजफ्फरपुर की प्रसिद्ध श्मशान-भूमि लकड़ीघाट) आदि सभी चित्रित हैं। शरत् बाबू की क़लम में जादू था, जिसके द्वारा मुजफ्फरपुर की उपर्युक्त सारी घटनाओं और पात्रों को उन्होंने एक अद्भुत ढाँचे में ढाला, जिसे सिवाय उनके शायद ही कोई और इस सुन्दरता के साथ ढाल सकता था। अकबर का यह कथन कि—

ऐ सानये अज़ल, तेरी कुदरत पै मैं निसार,
क्या सूरतें बनाई हैं मुश्ते गुबार से !

शरत् बाबू पर भली-भाँति चरितार्थ होता है, और इसका ज्वलन्त उदाहरण है 'श्रीकांत' की राजलक्ष्मी। यह शरत् बाबू ही की क़लम की करामात थी, जिसने उसे इतना ऊँचा उठा दिया।

भागलपुर—

शरत् बाबू भागलपुर से मुजफ्फरपुर किस परिस्थिति में आए, यह ऊपर लिखा जा चुका है। उनकी माँ भागलपुर के सुप्रसिद्ध गांगुली परिवार की कन्या थीं। वहीं उन्होंने अपने जीवन के प्रारम्भिक दिन बिताए और स्थानीय स्कूल और कालिज में शिक्षा पायी। उनके एक वृद्ध मामा, श्री भूपेन्द्रनाथ गांगुली, ने मुझे एक पत्र में लिखा था—

"मेरे बड़े चाचा, श्री केदार गांगुली, की एक कन्या की सन्तान थे शरत्चन्द्र। उनके पिता श्री मोतीलाल 'घर-जमाई' थे, अतएव वह बंगाली टोला, भागलपुर, के हमारे घर में पाले-पोसे गए।

शरत् के उद्योग से हमारे घर में एक साहित्य-समिति की स्थापना हुई थी जिसके सदस्यों में सुप्रसिद्ध साहित्यिक श्री विभूतिभूषण भट्ट, उनकी बहन निरुपमादेवी, श्री सौरेन्द्रनाथ और श्री गिरीन्द्रनाथ गंगोपाध्याय आदि थे। समिति की बैठकों में केवल साहित्यिक चर्चाएँ हुआ करती थीं। मेरी माँ इस समिति के समर्थकों में थीं, बंगला भाषा और साहित्य में उनका दखल था। वह तीक्ष्ण बुद्धि की थीं, और उन्हें छात्रावस्था में छात्रवृत्ति भी मिली थी।

भागलपुर के विख्यात वकील, राजा शिवचन्द्र बहादुर, का पुत्र कुमार सतीश शरत् का अन्तरंग मित्र था। वह 'आर्गन' बाजा बजाने में बड़ा ही दक्ष था और शरत् बांसुरी बजाने में। मुझे खयाल है कि कुमार सतीश के पुत्र के अन्नप्राशनोत्सव के अवसर पर कलकत्ता के सुप्रसिद्ध मिनर्वा थियेटर के अभिनेता भागलपुर पधारे थे और राजबाड़ी में बड़ी धूमधाम के साथ उन्होंने 'अली बाबा' नाटक खेला था। शरत् ने इसमें 'मुस्तफ़ा' का पार्ट लिया था और इस निपुणता से उन्होंने उसे निभाया था कि दर्शकों में से एक व्यक्ति भी उन्हें पहचान न पाया। इसके बाद बंगाली-टोला में श्री दीनबन्धु बन्दोपाध्याय के घर पर एक अभिनय हुआ। शरत् ने बड़ी कुशलतापूर्वक एक अभिनेता के रूप में इसमें भी भाग लिया था।

शरत् के पिता 'मोती भैया' बाद में ससुराल के मकान से अलग होकर खंजरपुर मोहल्ले में अपनी कन्या अनिला को साथ लेकर रहने लगे थे। उन दिनों उनकी आर्थिक अवस्था बहुत खराब हो चुकी थी। वह अक्सर मेरे बड़े दादा से आर्थिक सहायता ले जाया करते थे।

"कुछ दिनों के बाद शरत् अपने छोटे भाई प्रकाश को लेकर पिताजी के पास आया और उसे उनके पास ही छोड़ गया। पिताजी उस समय एक जमींदार के यहां मैनेजर थे, मैं भी उनके साथ ही रहा करता था। शरत् ने तभी मुझे एक काठ का 'डमबेल' बनवाकर दिया था और व्यायाम की शिक्षा भी दी थी। बाद में एक 'टेरी' का 'स्प्रिंग डमबेल' भी दिया था, जो आज भी मेरे पास है।

"फिर मुजफ्फरपुर से लौटकर, वह मेरे मंझले भाई श्री सुरेन्द्रनाथ से दस रुपए जहाज-भाड़ा के लिए लेकर रंगून चलता बना। वहां मेरी बड़ी बहन अन्नपूर्णा रहा करती थीं, उनके पति वहां के एक सुप्रसिद्ध वकील थे। शरत् कुछ दिनों तक उनके साथ रहा, बाद में एक भाड़े का मकान लेकर स्वतन्त्र रूप से उसमें रहने लगा।

"तब तक की अपनी लिखी हुई रचनाओं की सारी पांडुलिपियां वह मेरे मंझले भाई के पास छोड़ गया था। उन्होंने 'बड़ी दीदी' को 'भारती' नामक एक बंगला की मासिक पत्रिका में छपवा दिया। लेखक का नाम कल्पित था, फिर भी लोग जान गए और इस एक रचना से उसे प्रसिद्धि

मिल गई। एक प्रातःकाल उसने देखा कि वह प्रसिद्ध हो चुका है।

"यशस्वी होकर शरत् कलकत्ता के समीप शिवपुर में रहने लगा। मैं भी उन दिनों कलकत्ता में ही रहा करता था। बहुधा उससे मेरी भेंट हुआ करती थी। उसके उपन्यासों में भागलपुर के बहुतेरे जीवित चरित्रों का चित्रण है।

"विख्यात क्रान्तिकारी श्री विपिनबिहारी गांगुली (जिनके नाम पर बहूबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता का नामकरण हुआ है) मेरे बड़े चचेरे भाई थे। उनके गुप्तवास की अवस्था में शरत् उन्हें 'सव्यसाची' के नाम से आर्थिक सहायता दिया करता था। 'पथेरदावी' में श्री विपिन गांगुली ही का चरित्र चित्रित है।"

"उपर्युक्त पत्र में जिस कहानी या लघु उपन्यास, 'बड़ी दीदी', का उल्लेख है उसके सम्बन्ध में एक रोचक घटना है। कहते हैं कि इसके प्रकाशित होते ही बंगला भाषा की पत्र-पत्रिकाओं के अनेक सम्पादक गुरुदेव महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास पहुँचे और उनसे अपने-अपने पत्रों के लिए कहानी माँगी। गुरुदेव ने कहा, "मैंने कहानियाँ लिखना छोड़ रखा है, दूँ कहाँ से ?" फिर तो उन्होंने कल्पित नाम से लिखी हुई, 'भारती' में प्रकाशित 'बड़ी दीदी' को दिखाया और कहा कि इसका लेखक सिवाय आपके दूसरा कौन हो सकता है ! गुरुदेव ने कहा, "आप विश्वास करें, यह मेरी लिखी हुई कहानी नहीं है।" उन्होंने कहानी को आद्योपान्त पढ़ा और उसे एक बड़ी उच्चकोटि की रचना बताया। इसके बाद ही यह पता चला कि उसका लेखक रंगून-स्थित शरतचन्द्र चटर्जी नामक एक व्यक्ति है। फिर तो, जैसा पूर्वोक्त पत्र में श्री भूपेन्द्र गांगुली ने लिखा है, एक ही दिन में उन्होंने ख्याति प्राप्त कर ली।

शरत् बाबू ने ऐन्ट्रेंस पास करके भागलपुर के टी० एन० जुबली कालिज में नाम लिखाया, पर वह कोई डिग्री प्राप्त न कर सके। शुरू ही से वह स्वच्छन्द प्रकृति के व्यक्ति थे। कालिज की पढ़ाई की अपेक्षा घुमक्कड़पने में उनका दिल अधिक लगता था। माता-पिता के मरने के बाद उनका कोई अभिभावक न रहा, अतएव स्वभावतः उनका आवारापन उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

अक्सर कालिज में पढ़ने के बजाय वह कहीं बैठे हुए छात्रों को क़िस्से सुनाया करते थे। क़िस्से इतने रोचक होते थे कि कालिज के छात्र उन्हें मन्त्र-मुग्ध होकर सुना करते थे। अधिकतर ये कथाएँ किसी और की लिखी हुई, अधिकांशतः बेवर्ली नावेल्स की, होती थीं, पर उन्हें वह ऐसे रंग में रंग डालते कि वे मौलिक-जैसी लगने लगती थीं। ऐसी ही एक घटना मुज़फ़्फ़र-पुर-अधिवास के दिनों में हुई। स्थानीय ज़मींदार महादेव साहु (जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है) के घर पर एक बार राणाघाट (बंगाल) में किस प्रकार एक अविवाहिता लड़की को पुलिसवालों के हथकंडों से बचाया और इस प्रयत्न में पुलिस के साथ उनकी किस प्रकार भिड़न्त हुई, आदि बातों का शरत् बाबू ने अपने साथियों में बड़े विस्तार और रोमाण्टिक ढंग से ज़िक्र किया। इसे सुनकर कृष्णनगर के एक बंगाली युवक, जो मुज़फ़्फ़र-पुर ही में रहा करता था, के मन में उस स्थान को देखने की उत्कण्ठा पैदा हुई जहाँ यह घटना घटी थी। वह राणाघाट गया, पर वहाँ उसे पता लगा कि ये सारी बातें कपोल-कल्पित थीं, न वह थाना था, न वह गली, जहाँ वे सारी घटनाएँ घटी हुई बताई गई थीं।

गर्ज़ यह कि एक कुशल उपन्यासकार होने के बीज शरत् बाबू में शुरू ही से वर्तमान थे। यही नहीं, सच्ची घटनाओं और चरित्रों को वह बड़ी ख़ूबी के साथ अपने कथानक में स्थान देकर उनका ऐसा सुन्दर चित्र तैयार करते थे कि वे काल्पनिक-जैसे लगने लगते थे, पर साथ ही उनके पात्रों के वास्तविक चरित्र का भी बड़े कुशल ढंग से उनमें ख़ाका खींचा होता था। प्रायः उनके उपन्यासों में ऐसे पात्रों का समावेश है जो किसी समय हाड़मांस के थे, जीवित थे और जिनके सम्पर्क में वह आ चुके थे। इसका सबसे प्रमुख दृष्टान्त 'श्रीकान्त' है। इसमें जिन चरित्रों और घटनाओं की चर्चा है, उनमें से अधिकांश सत्य हैं और मुज़फ़्फ़रपुर और भागलपुर से सम्बद्ध हैं।

भागलपुर में उन दिनों बंगालियों का एक बड़ा सुसंगठित समाज था और वे अधिकांशतः बंगाली टोला मुहल्ले में रहा करते थे। शरत् बाबू का ननि-हाल भी यहीं था। उनके नाना और मामा स्थानीय बंगाली-समाज के नेता थे। उन्हीं दिनों समुद्र-यात्रा से लौटे हुए एक व्यक्ति को लेकर बंगाली समाज में काफ़ी खलबली मच गई। उसका विवरण इस प्रकार है—

राजा शिवचन्द्र बहादुर भागलपुर के एक विख्यात बंगाली वकील थे। वकालत से काफ़ी धनोपार्जन कर उन्होंने 'राजा बहादुर' की उपाधि प्राप्त की थी। बड़े ठाठ-बाट से रहा करते थे। उनकी फिटन के साथ-साथ तलवार लिए हुए घुड़सवार सिपाही चलते थे। वह विलायत गये, लौटने पर बंगाली समाज ने उनका जाति-बहिष्कार कर दिया। कोई उनके साथ खाने को राजी न हुआ। बात यहाँ तक बढ़ी कि यदि किसी भोज में वह निमन्त्रित होते तो आमन्त्रित अतिथि आसन छोड़-छोड़कर चल देते थे। इस बहिष्कार-आन्दोलन के मुखियाओं में प्रमथनाथ बन्दोपाध्याय, मोहिमचन्द बन्दोपाध्याय, बृजेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय, सरकारी वकील दीनबंधु बन्दोपाध्याय और शरत् बाबू के नाना केदारनाथ गंगोपाध्याय थे।

एक दिन राजा शिवचन्द्र के घर में बाहर से आयी हुई एक बंगाली महिला का देहान्त हो गया। उनके बहुत कोशिश करने पर भी समाज का कोई व्यक्ति शव उठाने को राजी न हुआ। उन्हीं दिनों शरत्चन्द्र मजूमदार नाम के कोई डाक्टर भागलपुर में प्रैक्टिस करते थे, पीयूष-पाणि चिकित्सक माने जाते थे। बंगालियों से फीस नहीं लेते थे। उन्हें यह बात अच्छी न लगी। उन्होंने यह धमकी दी कि यदि शव को बंगाली समाज के लोग नहीं उठाएंगे तो भविष्य में वह बिना फ़ीस के किसी का इलाज न करेंगे। मामला ढीला पड़ा और कुछ लोगों ने जाकर शव को उठाया, मृत व्यक्ति के दाह-संस्कार में भी वे शामिल हुए। शरत् बाबू ने 'श्रीकान्त' के प्रथम भाग के तीसरे परिच्छेद में इस घटना की चर्चा बड़े रोचक ढंग से की है और समाज के नेताओं को आड़े हाथों लिया है। विलायत से लौटे हुए जिस व्यक्ति का वहाँ उल्लेख है, वह हैं राजा शिवचन्द्र गांगुली, और समाज के नेता वे हैं, जिनकी नामावली ऊपर दी जा चुकी है। स्पष्ट है कि शरत् का आचरण उनके ननिहालवालों को पसन्द नहीं था। शायद यही कारण है कि गांगुली परिवार के ज्येष्ठ लोगों ने यह आदेश दे रखा था कि घर की कोई अविवाहिता तरुणी कन्या शरत् बाबू के साथ लगाव न रखे और मिलना-जुलना, बोलना-चालना न करे। राजू नामक किसी आवारा युवक के साथ शरत् का घनिष्ठ सम्पर्क इसके मुख्य कारणों में से एक था।

भागलपुर में उन दिनों फुटबाल की दो प्रसिद्ध टीमें थीं—एक बंगाली

खिलाड़ियों की, दूसरी मुसलमानों की। अक्सर जब मुस्लिम खिलाड़ी हारने लगते थे, तब वे बंगालियों पर आघात कर बैठते थे। ऐसे ही एक अवसर पर दोनों दलों के बीच मारपीट हो गई। शरत् बाबू दर्शकों में थे, फिर भी उन्हें गुण्डों का सामना करना पड़ा। तभी राजू नामक एक तरुण व्यक्ति ने आकर उन्हें बचाया ही नहीं बल्कि गोल-पोस्ट का डंडा उखाड़कर मुस्लिम टीम के खिलाड़ियों की खूब खबर भी ली। समवयस्क शरत् बाबू उसकी वीरता से प्रभावित होकर उसके मित्र बन गये और कुछ ही दिनों में दोनों के बीच काफ़ी घनिष्ठता हो गयी।

राजू सुरेन्द्रनाथ मजूमदार नामक एक स्थानीय व्यक्ति का छोटा भाई था। उन दिनों मजूमदार महाशय डिप्टी कलक्टर थे। वह आगे चलकर पुरी के जिलाधीश भी हुए। कुछ दिनों तक, आज से प्रायः चालीस साल पहले, मुजफ़्फ़रपुर में भी डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद पर वह नियुक्त थे। एक विख्यात संगीतज्ञ होने की उनकी ख्याति थी। तभी मुझे भी उन्हें देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। दरअसल वह बड़े ही कुशल गवैया और वादक थे, साथ ही रईस-मिजाज भी। उनके रहन-सहन, पोशाक, आदि, सब में नफ़ासत थी। 'श्रीकान्त' का इन्द्रनाथ राजू और दर्जीपाड़ा (कलकत्ता) से आए हुए, नाव से गिरनेवाले सज्जन सुरेन्द्रनाथ मजूमदार ही हैं, जिनका बड़ा मनोरंजक खाका इस पुस्तक में शरत् बाबू ने खींचा है। उनके इस शहरी तर्ज, फ़ैशन-प्रियता, भीरुता, आदि, का वर्णन उन्होंने अत्यन्त रोचक ढंग से किया है।

आवारगी में राजू शरत् बाबू का भी गुरु था। उसने एक छोटी-सी नाव रख छोड़ी थी, जिसे वह स्वयं चलाया करता था। बहुधा रात में नाव पर चढ़कर वह गंगा में डाले हुए मछुओं के जालों में से मछलियाँ चुरा लाता था। एक दिन स्टीमर से टकराकर नाव टूट गई पर वह बच गया। बाँसुरी बजाने में उसे कमाल हासिल था, अक्सर नाव पर बैठा हुआ वह बाँसुरी की तान छेड़ा करता था। शरत् बाबू ने वेणु-वादन उसी से सीखा था, और जब-तब मुजफ़्फ़रपुर में 'साहु-पोखरा' (तालाब) की सीढ़ियों पर बैठे हुए अर्धरात्रि में बाँसुरी बजाया करते थे। तभी सत्यजीवन बैनर्जी नामक एक युवक बंशी की ध्वनि सुनकर उनके पास आया था और उनसे वेणु-वादन की

शिक्षा ग्रहण की थी; सुरापान की भी। बाद में वह मुज़फ़्फ़रपुर का विख्यात वेणु-वादक माना जाने लगा था।

राजा शिवचन्द्र बहादुर के पुत्र, कुमार सतीश, ने एक नाटक-मंडली बनायी थी। शरत् बाबू इसके प्रमुख सदस्यों में थे। अक्सर नाट्य-मंच पर भी बाँसुरी बजाकर दर्शकों को वह मोहित किया करते थे। नाट्य-मंडली के प्रमुख अभिनेताओं में तो वह थे ही।

राजू मछलियों की चोरी, अपने लिए नहीं, एक बंगालिन महिला-विशेष के लिए करता था। मछलियाँ बेचकर वह उसे आर्थिक सहायता पहुँचाता था। वह महिला एक विशिष्ट परिवार की कन्या थी। विवाह के कुछ ही दिनों बाद उसका पति अकायक ग़ायब हो गया और वह वियोग के दिन बिताने लगी। वर्षों बाद एक दिन उसके घर के सामने की सड़क पर एक मुसलमान सपेरा सांपों का खेल दिखा रहा था। वह बाजा बजाता, सांप उसकी तान पर नृत्य करते। भीड़ लग गई। वह महिला भी कौतूहलवश वहाँ पहुँची। उसे पहचानने में देर न लगी। सपेरा कोई और नहीं, उसका पति ही था। फिर तो समाज की लोकलाज छोड़कर वह तब से उस सपेरे के साथ ही रहने लगी। राजू मछलियाँ बेच-बेचकर उसे आर्थिक सहायता पहुँचाया करता था।

भागलपुर में शायद उन दिनों साँप बहुत हुआ करते थे। अनुसंधान से पता चलता है कि उन्हीं दिनों साँप का मन्त्र जाननेवाला एक अन्य सपेरा भी वहाँ रहा करता था। उसका नाम था राधामित्र। राधामित्र का डेरा भी बंगाली टोला ही में था। वह शराबी था और शराब पीकर लोगों के जनानखाने में घुस आया करता था। एक बार ऐसा ही करने पर उपेन्द्रनाथ मुखर्जी नामक एक विशिष्ट व्यक्ति ने उसे नशे की दशा में ट्रेन पर चढ़ाकर रवाना कर दिया और फिर वह लौटकर भागलपुर नहीं आया। शरत् बाबू के साथ इसकी भी जान-पहचान थी।

राजू के साथ मिलकर शरत् बाबू का घुमक्कड़पन और भी बढ़ गया। राजू के आवारापन से क्रोधित होकर उसके भाई ने एक दिन उसे खूब पीटा। दूसरे दिन लोगों ने देखा कि राजू लापता है। इसके बाद राजू की फिर किसी को कोई ख़बर न मिली।

राजू ही 'श्रीकान्त' का इन्द्रनाथ है, और सपेरे की स्त्री 'जीजी'।

'श्रीकान्त' शरत् बाबू की आत्मकथा है, और इसके पात्र वे हैं जो किसी दिन हाड़-माँस के शरीर में वस्तुतः उपस्थित थे। पर हम भली-भाँति इसका आनन्द तभी उठा सकते हैं जब लेखक और इन पात्रों के वास्तविक जीवन की कथाओं से हम अवगत हों। शरत् बाबू ने प्यारी नामक नर्तकी की चर्चा करते हुए एक जगह लिखा है—"बाई जी पहले तो ठिठककर खड़ी हो गई। दूसरे ही क्षण जरा निकट आकर अत्यन्त मीठे स्वर में साफ़ बंगला बोली में उन्होंने कहा—रुपया लिया है, मुझे तो गाना ही पड़ेगा, किन्तु आप इन पन्द्रह-सोलह दिनों तक इनकी (राजा साहब के लड़के की) मुसाहबी करेंगे? जाइए, कल ही आप अपने घर चले जाइए।" इस कथन में हम मर्मस्पर्शी आत्मीयता का सच्चा स्वरूप देखेंगे, यदि हमें इस बात का पहले ही से पता हो कि एक बार सचमुच ही मुजफ्फ़रपुर में राजबाला ने शहर के रईस जमींदार, महादेव साहू, के घर पर शरत् बाबू की भर्त्सना की थी कि वह विशिष्ट परिवार में जन्म पाकर भी एक जमींदार की मुसाहबत कर रहे हैं। इसका यही कारण था कि उन दोनों के परिवारों के घर बंगाल के एक ही जिले में थे।

हम स्वयं भले ही बुरे हों, पर यदि हम अपने किसी आत्मीय को कोई बुरा काम करते देखते हैं तो हमें रंज होता है। यही शायद राजबाला के साथ भी हुआ। महादेव एक धनवान् व्यक्ति था, जिसका दरबार मुसाहबों से भरा रहता था। शरत् बाबू के साथ उसके मुसाहबों का व्यवहार वांछनीय नहीं होता था। उदाहरणार्थ, एक बार का क़िस्सा है कि शरत् बाबू, जिन्हें बहस-मुबाहसों का मर्ज-सा था, महादेव के एक बंगाली-भाषी साथी से अनीश्वरवाद पर तर्क करते हुए बोल उठे—'छोकड़ा! तोमार काछे कि प्रमाण कि ईश्वर आछे?' (अर्थात्, छोकरे, तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि ईश्वर है)। उत्तर में वह भी कह उठा कि 'आपनार काछे कि प्रमाण कि आपनि बापेर बेटा?' (आपके पास क्या प्रमाण है कि आप अपने पिता के पुत्र हैं?) इस उत्तर को सुनकर सभी उपस्थित लोग ताली पीटकर हँस पड़े। शरत् बाबू क्रोध से लाल होकर वहाँ से उठ गये। यह संभव है कि ऐसे ही किसी मौके पर राजबाला के मन में वे भाव जगे हों, जिन्हें उसने एकान्त में

शरत् बाबू के सामने प्रकट किये हों और उसने उन्हें अन्यत्र चले जाने की सलाह दी हो।

भागलपुर में कुछ समय रहकर वह रंगून चले गए, जहाँ उनके जीवन के तृतीय परिच्छेद का आरम्भ हुआ। उनके रंगून-जीवन की बातें वही बता सकता है, जो उनका वहाँ साथी रहा हो। कहते हैं, रंगून में तभी एक दरिद्र बंगाली परिवार रहा करता था, जिसकी एक कन्या थी जो अविवाहिता थी। शरत् बाबू ने स्थानीय बंगाली समाज से चन्दा लेकर उसके विवाह का सारा प्रबन्ध कर दिया। एक दूल्हा भी तय कर लिया, पर विवाह में जब दो दिन ही शेष रह गये, तब उस लड़की ने सहसा उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—"मैं किसी के साथ विवाह न करूँगी, यदि करूँगी तो तुम्हारे ही साथ।" विवश होकर अन्त में उन्हें उसके साथ गन्धर्व विवाह करना पड़ा। शायद जीवन के अन्तिम दिनों तक वह उनके साथ रही भी! 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी में मुख्यतः राजबाला (जिसकी चर्चा की जा चुकी है) का चरित्र-चित्रण है, पर साथ ही यह भी सही है कि उसका ढांचा तैयार करने में शरत् बाबू ने केवल राजबाला ही को अपने सामने नहीं रखा था। पटने की एक बंगालिन तवायफ़, भागलपुर की एक षोड़षी, जिसके प्यार में पागल होकर वह मुजफ़्फ़रपुर आये, मुजफ़्फ़रपुर की पुटी नामक नर्तकी और रंगून की यह लड़की जो आजीवन उनकी सहचरी बनी रही, ये सभी उनके सम्मुख थीं। इन सबके चरित्र में जो गुण थे उन्हें लेकर ही उन्होंने राजलक्ष्मी की सृष्टि की। कइयों के चरित्र-गुण से एक की सृष्टि उन्होंने केवल 'श्रीकान्त' ही में नहीं, कई और उपन्यासों में भी की है। यह उनकी खास प्रणाली थी और इसमें उन्हें अद्‌भुत कुशलता प्राप्त थी।

न-जाने शरत् बाबू में क्या आकर्षण था कि स्त्रियाँ शुरू ही से उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट होती रहीं। यही नहीं, अपने हृदय की सारी बातें वे उनसे खोल-खोलकर कह देती थीं। यही कारण है—और इसके साक्षी उनके सारे उपन्यास और कहानियाँ हैं—कि स्त्री-हृदय में कब और कैसी भावनाएँ जागृत होती हैं, इसका सही चित्रण जैसा शरत् बाबू के उपन्यासों में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। अनेक वासनाओं, कामनाओं, इच्छाओं और

अन्तर्द्वन्द्वों का क्रीड़ा-स्थल है नारी-हृदय। निस्सन्देह इनकी तह तक पहुँचने में वह नारी-सम्पर्क के कारण ही समर्थ हो सके थे, और इसका परिणाम यह हुआ कि समाज के नारी-जीवन में शरत् बाबू ने एक इन्क़लाब-सा ला दिया। उनकी लेखनी ने बंगला समाज की रूपरेखा ही बदल डाली। बीसवीं सदी के आरम्भ तक बंगीय नारी का स्थान घर तक ही सीमित था और उसके हृदय में केवल दो ही भावनाएँ स्थान पाती थीं—पति-सेवा और सन्तान-पालन। पुरुष के सामने वे हर प्रकार से अपने को निम्न समझती थीं। उनका जीवन दुःखों से भरा हुआ था।

इस स्थिति में शरत् बाबू ने क्रान्ति पैदा की। उनके नारी-चरित्र घर के खिलौने नहीं, स्वतन्त्र-चिन्तन से युक्त, पुरुष से समानता रखनेवाले जीव हैं, जिनके मस्तिष्क और हृदय में वे ही भाव जागृत होते हैं, जो पुरुष के हृदय में। शरत् बाबू के सभी उपन्यास इस तथ्य की पुष्टि करते हैं, ख़ास तौर पर 'शेष प्रश्न'।

यही नहीं, गिरी हुई नारी में भी उच्च भावनाएँ जगह रखती हैं, उसमें भी अच्छाइयाँ हैं, इसी बात को बड़े सुन्दर ढंग से उन्होंने दर्शाया है। तात्पर्य यह है कि शरत् बाबू ही को यह श्रेय है कि उन्होंने नारी-सम्बन्धी समाज के दृष्टिकोण को बदला और नारी-जाति में स्वतन्त्र चिन्तन और आत्माभिमान की भावनाएँ पैदा कीं। शरत् बाबू ने केवल उच्च घराने की नारियों अथवा 'बाई जी' कहलानेवाली स्त्रियों ही से लगाव नहीं रखा, बल्कि समाज की निम्न श्रेणी की औरतों से भी संपर्क स्थापित कर उनकी मनोभावनाओं को जानने की चेष्टा की। कहते हैं, मुज़फ़्फ़रपुर के अपने अधिवास के दिनों से वह घण्टों घर की नौकरानियों, साग-सब्ज़ी-मछली बेचनेवालियों के साथ गप्प लगाया करते थे और इस प्रकार नारी-हृदय के अन्तस्तल तक पहुँचने में उन्होंने सफलता प्राप्त की और नारी के चरित्र-चित्रण में, उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में, कमाल हासिल किया। औरतों पर वह बहुत शीघ्र अपना प्रभाव डाल देते थे, जिसके परिणामस्वरूप वे स्वच्छन्दता से, बेतकल्लुफ़ी के साथ, उनके आगे अपना दिल खोलकर रख देती थीं।

मुज़फ़्फ़रपुर आकर उन्होंने हिन्दी लिखनी-पढ़नी आरम्भ की, हिन्दी बोलना तो वह जानते ही थे। पर रंगून पहुँचकर उन्हें हिन्दी सीखने की सुविधा

नहीं रही। अपने एक खत में उन्होंने महादेव साहु को लिखा—"भाई महादेव, यहाँ आकर हिन्दी भूलता जा रहा हूँ।"

महादेव साहु के साथ उनका पत्र-व्यवहार काफ़ी अर्से तक चलता रहा, फिर वह बन्द हो गया। इधर फ़िजूलखर्ची के कारण महादेव की आर्थिक दशा उत्तरोत्तर गिरती गई, वह ऋण से लद गये। उन्हीं दिनों उनके एक साथी, परेश बाबू, ने एक दिन महादेव से कहा कि शरत् बाबू कलकत्ता आकर रहने लगे हैं और अपनी पुस्तकों के कारण मालामाल हो रहे हैं। महादेव साहु ने कहा—"परेश, तब तो मैं उन्हें जरूर लिखूंगा कि वह मेरी आर्थिक सहायता करें।" उन्होंने लिखा भी, पर उनसे उत्तर न पाकर वह अतिशय मर्माहत हुए।

८

शरत् बाबू के सम्बन्ध में कुछ और बातें

मैंने अपने पिछले लेख में प्रसिद्ध उपन्यासकार शरत बाबू के भागलपुर और मुजफ़्फ़रपुर सम्बन्धी जीवन की चर्चा की है। वे दिन उनकी तरुणावस्था के थे, अनियन्त्रित स्वच्छन्दता के; फिर भी जैसा कि इन लेखों से ज़ाहिर है—उनकी वह तरुणाई केवल खेलकूद और आवारगी ही में न व्यतीत हुई बल्कि उनके उन भावी गुणों का ढाँचा भी उन्हीं दिनों तैयार होता रहा जो आगे चलकर उनकी महान् ख्याति के कारण बने। अच्छाइयों और बुराइयों से भरा हुआ उनका जीवन सदा रहस्यपूर्ण बना रहा। शरत् बाबू की कतिपय कृतियाँ उनकी आत्म-कथा-सी होने पर भी उन्होंने साफ़गोई से अपनी बातें कभी किसी से नहीं कहीं और यही कारण है कि आज उनके व्यक्तिगत जीवन के चित्रांकन में उनकी जीवनी लिखनेवालों को इतनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। दरअसल वह उन व्यक्तियों में थे जिनकी आत्मा स्वर्ग से पुकार-पुकारकर यह कह सकती है कि—

मुर्दम् ज़ ग़लतफ़हमिए मर्दुम् मुर्दम्,
ऐ काश कसे हरांचे हस्तम् दानद्।

—दुनिया की नासमझी से मैं मारा गया। × × × × मैं जैसा था वैसा किसी ने न समझा।

उदाहरणार्थ, शरत् बाबू के ईश्वर-सम्बन्धी विचारों को लीजिए। वह अक्सर लोगों से इस बात पर कि ईश्वर नहीं है जोर देते हुए बहस किया करते थे; और इससे यह धारणा आम तौर पर फैली हुई है कि वह अनीश्वरवादी थे पर उन्हीं के सम्बन्ध में उनके एक वृद्धावस्था-प्राप्त मामा, श्री भूपेन गांगुली ने, मुझसे एक घटना का जिक्र किया था जो इस प्रचलित विचार के बिलकुल विपरीत बैठती है। उनके शब्द इस प्रकार थे—

"शरत् से मेरी अन्तिम भेंट 'खान्तावर-पानीत्रास' नामक गांव में हुई

जहाँ नदी के किनारे उसका बड़ा-सा दुमंजिला मकान था। मैं कई दिनों तक उसके साथ रहा। वह सुबह चाय में दो-चार बूंद 'माइनम गलेसिया' डाल-कर पीता था, फिर पैसे लेकर बैठता और आनेवाले भिखारियों में उन्हें बांटा करता था। वह उन दिनों सुरा-पान करना छोड़ चुका था, उसकी जगह काफ़ी परिमाण में अफ़ीम खाया करता था। घर में राधाकृष्ण की युगल-मूर्ति थी जिनकी पूजा-अर्चना के लिए एक पुजारी नियुक्त था। कभी-कभी वह पुजारी अस्वस्थ हो जाता, तब शरत् स्वयं अपने हाथों उनकी सेवापूजा करता था। एक बार मैं बरामदे में बैठा हुआ था जब शरत् मन्दिर के भीतर से पूजा करके बाहर निकला, मैंने देखा कि उसकी आँखों से अविरल अश्रु-धारा निकल रही है।''

और यह वही शरच्चन्द्र हैं जिसके सम्बन्ध में यह धारणा है कि वह नास्तिक था।

मैंने उनके मामा से तभी शरत् बाबू के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें पूछी थीं, और उनके उत्तरों को नोट कर लिया था। वे अभी मेरे सम्मुख हैं। उनमें से कुछ पाठकों के मनोरंजनार्थ नीचे दिए जाते हैं—

''शरत् का छोटा भाई प्रकाश था, जो अधिक सुरापान के कारण कल-कत्ता-बालीगंज में अल्पवयस ही में काल-कवलित हो गया। मेरे पिता के पास उसे रखकर शरत् बर्मा चला गया था।''

''बर्मा से लौटकर जब वह शिवपुर में रहा करता था तब मैं एम० ए० और लॉ की परीक्षाओं की तैयारी कर रहा था। मैं अक्सर उससे मिलने शिवपुर आया करता था। बर्मा से आई हुई एक महिला उसके साथ रहती थी, उसने मुझे बताया था कि यह मेरी वधू है, बल्कि एक दिन एक सोने का गहना भी, जो अभी-अभी प्रस्तुत होकर आया था, मुझे दिखाया और कहा कि यह मैंने अपनी पत्नी के लिए बनवाया है। वह मोटी और सांवले रंग की थी, मुझे देखते ही घूंघट काढ़ लिया करती थी। बड़ी शर्मीली थी।''

प्रसिद्ध लेखक या कवि के सम्बन्ध में हम प्रकृतितः यह जानना चाहते हैं कि वह किस प्रकार लिखता है। मैंने भी शरत् से एक बार यह पूछा, जिसका उत्तर उसने इन शब्दों में दिया था—''लोकेरा मने करे कि शरत् बोसे और सरसर करे लिखे चले जाए, किन्तु ता नय। अनेक समय एकटा

Sentence लिखते शरतेर घरेर मध्ये हय त पंचास बार पाइचारी करते हय, तबे ठीक भावे लिखते पारे।" (लोग सोचते हैं कि शरत् बैठता है और सरसर लिखे चला जाता है, किन्तु ऐसा नहीं है। कई बार एक पंक्ति लिखने के लिए शरत् को पचास बार घर के भीतर चहलक़दमी करनी पड़ती है, तब ठीक तरीके से वह लिख पाता है।)

और उन दिनों वह दिन में नहीं, रातों में लिखा करता था।

शक नहीं कि शरत् बाबू की इस लेखन-क्रिया का ही फल है कि उनके उपन्यास की पंक्तियों में ऐसा प्रवाह है और वे इतनी गठीली हैं कि उन्हें पढ़ने से ऐसा लगता है मानो किसी शब्द-संगतराश ने उन्हें काफ़ी तराश-ख़राश के बाद तैयार किया हो, और तभी वे इतनी सुन्दर और मार्मिक हो पाई हैं। साथ ही वे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से भरी हुई भी हैं और सजीव भी।

शरत् बाबू के राष्ट्रीय विचार उग्र थे, राष्ट्रीय भावनाओं से उनका हृदय ओत-प्रोत था। गांधी जी से अहिंसा और चर्खा के सिद्धान्तों से सहमत न होते हुए भी उन पर उनकी अगाध भक्ति थी और कभी-कभी सार्वजनिक उत्सवों में चर्खा लेकर भी वह बैठ जाते थे। लोकमान्य तिलक को वह 'भारतेर तिलक' कहा करते थे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री विपिनबिहारी गांगुली अक्सर उनसे पैसे ले जाया करते थे। एक बार इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने अपने उपर्युक्त मामा से हँसकर कहा था कि विपिन जभी मेरे पास आता है, दोनों पाकिट में पिस्तौल रखकर, मानो पिस्तौल के बूते पर वह पैसा वसूल करना चाहता है।

शरत् बाबू अपने जीवनकाल ही में काफ़ी धनी हो चुके थे। दो बड़ी-बड़ी मोटरें उसकी गवाही दिया करती थीं। फिर भी ऐशो-आराम में वह अपना समय नष्ट नहीं करते। अन्त काल तक वह घण्टों लिखा करते थे। बहुधा वह दूसरों की रचनाओं का भी देर तक बैठे हुए संशोधन करते रहते, पर इस बात को वह गुप्त रखते थे। गांगुली महोदय ने मुझे बताया कि एक दिन वह अकस्मात् उनके शिवपुरवाले मकान के अध्ययनकक्ष में चले गये तब उन्होंने शरत् बाबू को बंगला के प्रसिद्ध वर्तमान लेखक श्री······की एक रचना का संशोधन करते पाया। रचना आज प्रसिद्ध हो चुकी है।

गांगुली महोदय ने तब मुझे वे डम्बल दिखलाए जिन्हें शरत् बाबू ने उन्हें

दिया था और कहा कि गांगुली परिवार में वह पाले-पोसे गये, इस बात को उन्होंने सदा स्मरण रखा और जब उसके बीच अनबन हो गई तो स्वयं भागलपुर आकर पारिवारिक सम्पत्ति का विभाजन कराया था।

शरत् बाबू के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें कही और लिखी गई हैं पर श्री भूपेन गांगुली की उपर्युक्त बातें एक खास महत्व रखती हैं, उनके चरित्र पर नया प्रकाश डालती हैं, चूँकि वह उनके घनिष्ठ सम्बन्धियों ही में नहीं थे बल्कि उनका उन्होंने साथ भी दिया था; स्वभावतः वह अधिक विश्वसनीय भी हैं, क्योंकि—

सहवासोहि विजानीयात् चरित्रं सहवासिनाम्।

आशा है, गांगुली महोदय की कही हुई ये कुछ बातें शरत् बाबू के चरित्रांकन में सहायक होंगी।[1]

---

१. रूस-मास्को-में गोर्की-सदन (Institute) नामक एक संस्था है जिसका वार्षिक खर्च साठ लाख रुपया है। इसमें प्रायः दो सौ व्यक्ति प्रतिदिन काम करते हैं। इसका उद्देश्य गोर्की के जीवन और रचनाओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना है, साथ-साथ संसार की विभिन्न भाषाओं में उनकी पुस्तकों का अनुवाद प्रकाशित करना भी। खेद है कि हमारे देश में ऐसी एक भी संस्था क़ायम न हुई, और यही कारण है कि आज तक हम अपने सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार शरच्चन्द्र तक की प्रामाणिक जीवनी न प्रकाशित कर पाये।

९

बिहार के दो सूफ़ी शायर

बाबू अवधबिहारी सिंह और श्री रामप्रसाद खोसला

भर्तृहरि की प्रसिद्ध उक्ति है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥

जो रससिद्ध कवीश्वर होते हैं उनका यश शरीर के जरा-मरण-भय से विमुक्त हो जाता है अर्थात्, अपनी कृति के कारण वे अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं। निस्सन्देह ऐसे ही रससिद्ध कवीश्वरों में थे सूफी सन्त बाबू अवधबिहारी सिंह। साथ ही वह और भी कुछ थे—

ज़ालिम में थी इक बात और इसके सिवा भी !

वह महामानव थे, जिनके हृदय में प्रेम की पावन निर्झरणी निरन्तर बहा करती थी। जो उनके सम्पर्क में आया, वह उनके स्नेह-पाश में बंधे बिना न रह सका। ऐसी थी उनमें वह शक्ति, जो दूसरों को उनकी ओर आकर्षित करती थी। अजातशत्रु थे वह—सभी उनके मित्र थे, कोई उनका दुश्मन न था।

मुजफ्फरपुर (बिहार) जिले के एक गांव में आज से प्रायः ८६ वर्ष पूर्व उन्होंने जन्म लिया था एक अच्छे, कुलीन, सुसम्पन्न परिवार में। घर पर प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर, अरबी के ख्याति-प्राप्त विद्वान् मौलाना अब्दुल अज़ीज़ रहीमाबादी से उन्होंने फ़ारसी और अरबी की शिक्षा पायी। पता नहीं इसके बाद फिर उन्होंने कहीं तालीम पायी या नहीं, पर इतना ज़रूर है कि उनमें स्वाध्याय की अपूर्व लगन थी। आगे चलकर वह फ़ारसी और अरबी के उद्भट विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हुए। उन्हें हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी, संस्कृत, मराठी, गुजराती, आदि भाषाओं का ज्ञान भी था। कहते

हैं, उन दिनों भारतवर्ष में उनके जैसा अरबी का कोई दूसरा विद्वान् न था। हिन्दुस्तान ही नहीं, मिस्र, ईरान और अरब तक से लोग कभी-कभी उनके पास अरबी पढ़ने आया करते थे। देश के कई हिस्सों से मुकद्दमों में पेश किए गये अरबी भाषा के क़ागज़ात उनके पास कोर्ट द्वारा अर्थ-विश्लेषण के लिए भेजे जाते थे।

मुजफ़्फ़रपुर के जी० बी० बी० कालिज में वह अरबी-फ़ारसी के अध्यापक थे और एक लम्बे अर्से तक इस पद पर आसीन रहे। स्वर्गीय रामप्रसाद खोसला (एम० ए०, कैन्टब) बहुत दिनों तक इस कालिज के अध्यापक और प्रिंसिपल रहे। वह बाबू साहब के घनिष्ठतम मित्रों में से थे और स्वयं अच्छे शायर भी थे।[1]

दोनों मित्र बहुधा घण्टों एक-दूसरे को अपने क़लाम सुनाया करते थे। सुना है कि कुछ दिन हुए प्रिंसिपल खोसला के उर्दू क़लाम का एक संग्रह उनके सुपुत्र ने छपवाया है, पर परलोकगत प्रोफेसर अवधविहारी सिंह की कविताओं का संग्रह, जो उर्दू-फ़ारसी के किसी भी शायर की कृतियों से टक्कर लेतीं, अफ़सोस है, अब तक न निकल सका। प्रसिद्ध विद्वान् आलोचक, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा, से उनकी भेंट जीवन के अन्तिम दिनों में हुई और वह उनके क़लाम सुनकर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने बाबू साहब से बार-बार अनुरोध किया कि वह अपनी कुछ रचनाएँ उन्हें दें। वह स्वर्गीय पारसनाथसिंह के द्वारा बाबू जी के पास बराबर तकाजा भिजवाते रहे, कई बार मुझे भी उन्होंने इस सम्बन्ध में चिट्ठियां लिखीं;

---

१. एक बार इन पंक्तियों के लेखक को चरितनायक ने अपने कुछ सुंदर शेर सुनाए थे, जो कि उन्होंने खोसला साहब पर लिखे थे। बहुत सुंदर शेर थे वे, पर खेद है कि उनमें से केवल एक ही शेर आज मुझे स्मरण है—

बगुलबन बुलबुलो कुमरी बसरवे बोस्तां नाजब,
हुमाना दरसगाहे मा बमिस्टर खोसला नाजब।

—'जिस तरह बुलबुल को गुलाब के बाग़ पर और कुमरी (पक्षी) को बाग़ के सरवे नामक वृक्ष पर नाज है, उसी तरह हमारा विद्यालय मिस्टर खोसला पर नाज करता है।'

पर बाबू साहब टाल-मटोल ही करते रहे, कभी अपनी कविताएँ लिखकर न दीं। अन्त में सन् १९३० में ६४ साल की उम्र में वह इस असार संसार से चल बसे। पद्मसिंह जी की यह मनोकामना पूरी न हुई। बाबू साहब के शरीर-त्याग के बाद भी शर्मा जी मुझे और पारसनाथ जी को उनकी रचनाओं के संकलन के सम्बन्ध में ताक़ीद-पर-ताक़ीद भेजते रहे, दर्जनों ख़त भेजे पर हम इस काम को पूरा न कर पाये। अन्त में दो-तीन साल के भीतर स्वयं पं० पद्मसिंह जी ने भी अपनी जीवन-लीला संवरण कर ली और यह काम अधूरा ही रह गया। स्वर्गीय पंडित जी का लिखा हुआ सन् १९२८ का एक ख़त मेरी आँखों के सामने है, जो इस प्रकार है—

गुरुकुल कांगड़ी (बिजनौर)
१८–८–१९२८

प्रिय राजेश्वर बाबू,

नमस्कार !

प्रोफेसर अवधबिहारी सिंह जी इस संख्या में न जा सके। इसका अफ़सोस है। उनकी जीवनी भी तैयार हो जानी चाहिए। यह काम आप अपने ज़िम्मे लीजिए। दुर्गापूजा की छुट्टियों में मुज़फ़्फ़रपुर जाकर उनके चित्र, चरित्र और काव्य का संग्रह कीजिये। 'ज़माना' (कानपुर) के जुलाई नम्बर में सम्मेलन की चर्चा में मेरे भाषण से प्रोफेसर साहब के सम्बन्ध की पंक्तियां उद्धृत हुई हैं।

भवदीय
पद्मसिंह शर्मा

बीस वर्ष के बाद, स्वर्गीय प्रोफेसर साहब के फ़ारसी के कुछ क़लाम, उनके एक वयोवृद्ध साथी के घर पर मुझे उपलब्ध हुए। मैंने उसी समय एक लेख हिन्दी 'आजकल' में लिखा और अपनी बरसों की आकांक्षा—आंशिक रूप ही में सही—पूरी की। मुझे इस बात से परम सन्तोष हुआ कि मेरे उस लेख ने बहुतों का ध्यान बाबू साहब की ओर आकृष्ट किया। उनके कई पुराने शागिर्दों को, जिनके बूदोबाश का मुझे पता भी न था, उनकी याद ने तड़पा दिया। कइयों ने मेरे पास प्रशंसा और धन्यवाद के ख़त भेजे और बाबू जी के विषय में अपने संस्मरण भी।

कटक (उड़ीसा) से श्री असगर अली साहब ने लिखा—

"स्वर्गीय बाबू साहब प्रकृतितः उन लोगों में थे, जो संसार की ख्याति से भागते हैं। वह इतने उच्च श्रेणी के कवि हैं, यह किसी को उन्होंने कभी जानने न दिया। यही नहीं, वह एक बड़े ऊंचे दर्जे के अरबी, फ़ारसी और उर्दू के विद्वान्, हकीम और सन्त भी थे।"

एक दूसरे सज्जन, श्री कृष्णकुमार खोसला, जो जमशेदपुर स्थित इस्पात के कारखाने में एक उच्च पदाधिकारी हैं, लिखते हैं—

"उनकी (स्वर्गीय बाबू साहब की) स्मरण-शक्ति विलक्षण थी, और वह धारावाहिक रूप से बड़े-बड़े काव्य-ग्रन्थों की पंक्तियां सुना जाया करते थे। मैं मन्त्र-मुग्ध-सा होकर उन अवतरणों अथवा उनकी रचित कविताओं को सुना करता था। उनकी रचनाएँ मुझ पर आश्चर्यजनक नशे का-सा असर डालती थीं। दो वर्षों तक मैं उनके चरणों में बैठकर फ़ारसी सीखता रहा। वह एक पहुंचे हुए सूफ़ी थे, जो अधिकतर अध्यात्म-जगत् के वायु-मण्डल में विचरा करते हैं। हाफ़िज़ और रूमी की आत्माओं की झलक, मानो, उन्होंने अपने में मुझे दिखा दी। बाबू साहब उन लोगों में से थे जो संसार की सारी चीजों में परमात्मा का प्रतिबिम्ब प्रतिक्षण देखा करते हैं, और इसीलिए उन्होंने यूनानी चिकित्सा-शास्त्र का खास तौर पर अध्ययन किया। धनी और गरीब दोनों की समभाव से इस शास्त्र के द्वारा उन्होंने सेवा की। एक बार मैं साइकिल से गिर पड़ा, जांघ में चोट आयी, जिसके परिणामस्वरूप, मेरी लापरवाही के कारण, जंघे में 'एक्ज़मा' निकल आया और वह धीरे-धीरे मेरे चेहरे और कानों तक छा गया। डाक्टरी इलाज किया, पर 'मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की', वह अच्छा न हुआ। डाक्टरों ने कहा कि कम-से-कम दो वर्ष इसके अच्छे होने में लगेंगे, पर अच्छा होगा भी, यह नहीं कहा जा सकता। उसी दिन सन्ध्या-काल में बाबू साहब मेरे पिता जी से मिलने आये। मेरे पिता जी ने डाक्टरों की कही बातें उनसे कह सुनाई। बाबू साहब ने तुरन्त ही बाग़ के माली के द्वारा कुछ पौधे मंगवाये और दो-तीन वनस्पतियां बाजार से। फिर दो लेप तैयार कराये—एक जंघे के लिए, दूसरा चेहरे के लिए। अपने हाथों से उन्हें लगाया और कहा कि दो सप्ताह में यह रोग निर्मूल हो जाएगा। ऐसा ही हुआ। दो सप्ताह ही में मैं रोग-मुक्त हो गया। ऐसे एक नहीं, दर्जनों दृष्टान्त हैं जब डाक्टरों के

असफल हो जाने पर बाबू साहब ने अपनी चिकित्सा द्वारा कठिन-से-कठिन रोग अच्छे कर दिये थे।"

"उनकी सारी रचनाओं पर रहस्यवाद की छाप है। प्रकृति उनके लिए दर्पण थी जिसमें वह परमात्मा की सूरत देखा करते थे।"

इसी प्रकार से, दो-एक ने नहीं, अनेक सज्जनों ने बाबू साहब के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। और सबकी यही एक आरज़ू थी कि बाबू जी की अधिक-से-अधिक रचनाएँ प्रकाशित की जाएँ ताकि वह संसार के दृष्टि-पथ पर आ सकें।

मित्रों के इस अनुरोध पर मुझे अकबर (इलाहाबादी) की कुछ पंक्तियाँ याद हो आयीं। सोचा, कवि की इस वाणी में कितना सत्य भरा है!

हुजूमें बुलबुल हुआ चमन में,
किया जो गुल ने जमाल पैदा,
कमी नहीं क़द्रदाँ की 'अकबर'
करे तो कोई कमाल पैदा।

सही है, यह दुनिया अभी क़द्रदानों से खाली नहीं हुई। स्वर्गीय बाबू साहब की कृतियों की खोज में मैं लगा रहा हूँ, पर जैसा अपने पूर्वोल्लिखित लेख में मैंने लिखा था, उन्होंने अपनी रचनाओं का कभी संग्रह नहीं किया, अतः कार्य-सिद्धि के रास्ते में असाधारण कठिनाइयाँ हैं।

पहली दिक़्क़त तो यह है कि स्वर्गीय बाबू साहब अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में हमेशा लापरवाह रहे, किसी खास बही में उन्हें लिखकर उन्होंने नहीं रखा। जब दरिया-ए दिल मौज पर आया; गौहरे-मजमूं बाहर निकले, उन्हें कागज के छोटे-मोटे टुकड़ों पर लिख डाला और फिर इस बात की फ़िक्र न रखी कि उन्हें कहीं सुरक्षित रखें। जहाँ-कहीं भी वे लिखी गयीं, वहीं उन्हें उन्होंने डाल दिया। उनके परिवारवालों ने उनका मूल्य न समझा और उनकी सुरक्षा का कोई प्रबन्ध न किया। नतीजा यह हुआ कि आज उनके परिवारवालों के पास उनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं है। (अफ़सोस कि ऐसे महान् शायर की परख और क़द्रदानी से उन्होंने अपने को वंचित रखा है!)

बाबू साहब को अपनी कविताएँ स्मरण थीं और समय-समय पर वह

उन्हें सुनाया भी करते थे। यदि काव्य-प्रेमियों और छात्रों का मन चाहा तो वे उन्हें लिख लेते थे। इन्हीं लोगों से उनकी कृतियाँ प्राप्त हो सकती हैं, पर इसमें भी यह कठिनाई है कि उनके साथी और प्रेमी अधिकतर काल-गत हो चुके हैं, तथा छात्र न जाने कहाँ-कहाँ—पाकिस्तान, आदि—को चले गए। फिर भी आशा है कि उनकी कुछ रचनाएँ इन सज्जनों से मिल जाएँगी, और मेरे लिए यह सम्भव होगा कि मैं उन्हें साहित्य-संसार के सामने रखूँ।

'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा'—

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना भगवान रामचन्द्र की प्रसन्नता के लिए नहीं, अपने अन्तःसुख के लिए, की थी। इस एक पंक्ति में तुलसीदास ने जो विचार प्रकट किया है, वह हजार शब्दों में भी इस सुंदरता के साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता था। कवि की रचना का परमोद्देश्य क्या होना चाहिए, यह उन्होंने बताया है। किसी लौकिक पुरुष की कौन कहे, स्वयं भगवान् तक के प्रसन्नार्थ, वह काव्य की रचना नहीं करना चाहते। कितना उच्च भाव है यह !

इस देश में सदा से दो प्रकार के कवि होते आये हैं—(१) वे जो आत्म-सुख के लिए लिखते हैं; और (२) वे जो किसी सांसारिक पुरुष की प्रशस्ति में काव्य के द्वारा भौतिक लाभ की कामना करते हैं। प्रथम श्रेणी के कवि न तो धन-दौलत की, न यश की न प्रशंसा की, न जन-आदर या राज्य-सम्मान की चाह रखते, वरन् इनसे दूर भागते हैं। ऐसे कम हैं; पर इस योग्य वे ही हैं, जिनकी साहित्य-मन्दिर में आरती उतारी जा सकती है। हर देश को, हर भाषा को, ऐसे मानव-रत्न को—चाहे उनकी संख्या कम ही क्यों न हो—जन्म देने का गौरव प्राप्त है। इसी दिल्ली में जौक जैसे महाकवि ने जन्म लिया था, जिन्होंने जीवन के सारे दिन गरीबी में काटे, पर धन-प्रलोभन को अपने पास न आने दिया। दक्षिण (हैदराबाद) से, जहाँ निजाम के दरबार में शायरों की उन दिनों सबसे ज्यादा पूछ थी—कद्र थी—आये हुए आमंत्रण को उन्होंने बार-बार अस्वीकार किया; लाख कोशिशें करने पर भी वह वहाँ न गये। उन्होंने लिख भेजा—

गर्चे हैं मुल्के दकन में
आज दिन क़द्रे-सुखन,
कौन जाए 'ज़ौक़' पर
दिल्ली की गलियाँ छोड़कर।

और यह ज़ौक़ दिल्ली में किस तरह ग़रीबी के दिन बिता रहे थे—वह 'फटेहाल' थे, यह 'आबे-हयात' में पढ़िए—

''एक तंगो-तारीक मकान था, जिसकी अंगनाई इस क़दर थी कि एक छोटी-सी चारपाई एक तरफ़ बिछती थी, दो तरफ़ इतना रास्ता रहता था कि एक आदमी चल सके। ज़ौक़ खरेरी चारपाई पर बैठे रहते थे, लिखे जाते थे या किताब देखे जाते थे। गर्मी, जाड़ा, बरसात तीनों मौसमों की बहारें वहीं बैठ गुज़र जाती थीं। कोई मेला, कोई ईद और कोई मौसम बल्कि दुनिया के शादी-ओ-ग़म से इन्हें कोई सरोकार न था। जहाँ अव्वल रोज़ बैठे, वहीं बैठते, और जभी उठे कि दुनिया से उठे।''

ऐसे ही लोगों में थे बाबू साहब, और उनके परम अन्तरंग मित्र श्री रामप्रसाद खोसला, जो काव्य-वाटिका के उत्तम पुष्प होकर भी वह ख्याति न प्राप्त कर सके जो उनसे कहीं निम्न श्रेणी के धतूरे जैसे कवि-कुसुमों को उर्दू-साहित्य में प्राप्त हुई। संयोग ऐसा कि इन दोनों को, भिन्न प्रान्तों में जन्म लेकर भी, एक ही स्थान पर रहने का मौक़ा मिला। एक दूसरे के बड़े निकट आ गये, दोनों घनिष्ठतम मैत्री के अटूट सूत्र में बंध गए।

प्रोफ़ेसर अवधबिहारी सिंह ने ज़्यादातर फ़ारसी और अरबी में अपने क़लाम लिखे। कम ही उम्र में वह फ़ारसी भाषा के एक कुशल शायर सनजर के सम्पर्क में आये और उन्हीं से पिंगल-शास्त्र की शिक्षा उन्होंने पायी। सनजर साहब की शायरी भी बड़े ऊँचे दर्जे की थी। अफ़सोस कि उनके कलाम भी आज विस्मृति की गोद में जा पड़े हैं।

बाबू साहब की प्रतिभा कुछ ही दिनों में मुखरित हो उठी। फ़ारसी के बड़े-बड़े विद्वान् उनकी रचनाएँ देखकर उछल पड़ते और कहते कि फ़ारसी के हिन्दुस्तानी शायरों में विरले ही ऐसे होंगे, जिन्होंने इतनी गहराई के कलाम लिखे हों। पर उन्होंने कभी अपनी काव्य-प्रतिभा के विज्ञापन की चेष्टा न की, बल्कि अपने मित्रों तक से—सिवाय दो-चार अन्तरंगों के—वह

अपनी रचनाएँ छिपाते रहे। उनके लिखने का ढंग भी कुछ न्यारा था। कभी तैयार होकर, कागज-कलम लेकर लिखने वह न बैठते। जब कभी भावों की उछाल आयी, उसी समय उन्हें जो कुछ भी सामने मिला—किताब का पृष्ठ या कागज़ का टुकड़ा—उसी पर उन्हें पद्य-बद्ध कर रखा। रचनाओं को सुरक्षित रखने की ओर उन्होंने कभी ध्यान न दिया। यही कारण है कि उनके कलाम इतने पुरदर्द हैं, उच्च भावनाओं से ओत-प्रोत हैं, दिल पर असर डालनेवाले हैं। 'वह बात दे जुबां में कि दिल पर असर करे', इस सिद्धान्त ही पर उनके सारे कलाम आधारित हैं।

जिन दिनों वह स्कूल के छात्र थे, उन्हीं दिनों एक मुशायरे में उन्होंने अपनी एक रचना पढ़ी थी, जिसे सुनकर उपस्थित कवि-समाज चकित रह गया था। वह इस प्रकार थी—

अब्र गिर्यां तर बुवद्
या चश्मे दरिया जाये मन।
या तपां तर बर्क़ या
सीमाब या रग हाये मन।
शब से यह तर या विलत्
या जंगिया या आबनूस।
मूये तो या खाले तो
या चश्म या शबहाये मन।

(यह पानी पड़ रहा है, वृष्टि हो रही है, या मेरी आँख-रूपी नदी का प्रवाह है।)

यह तड़पती हुई बिजली है या कि पारा
है या मेरी रगें हैं, यानी मेरी
रगें बिजली की तरह तड़प रही हैं या
पारे की भाँति थरथरा रही हैं।
तेरा दिल रात की अंधेरी है या कोई
हब्शी अथवा आबनूस का वृक्ष है।
मेरी रातें तेरे विरह में काली हैं,
अन्धकार से आच्छादित हैं—काली

तेरे केशों की तरह या आँखों की-सी।

फ़ारसी की इन कुछ पंक्तियों से, जो शायर की बाल्यकालीन रचना है, पाठक उनकी काव्य-प्रतिभा का अन्दाजा लगा सकते हैं।

बाबू साहब के अधिकांश कलामों में उनके सूफ़ियाना ख्यालात साफ़-साफ़ परिलक्षित हैं। जब कभी भावावेश—'हाल'—की दशा को वह प्राप्त होते थे, जब कभी, महाकवि अकबर के शब्दों में, 'वज्दे-आरिफ़' (ब्रह्मज्ञान-जनित भावावेश) की हालत उपस्थित होती थी, तब वह पेंसिल लेकर सामने जो-कुछ भी पाते—कागज का टुकड़ा, पुस्तक, आदि—उसी पर छन्द-बद्ध रूप में अपने हृदय के उमड़े हुए भावों को लिख डालते थे। उस वक्त उनकी दशा वही होती थी जिसका अकबर साहब ने इन दो शेरों में बड़ा ही सुन्दर खाका खींचा है—

वज्दे-आरिफ़ की हक़ीक़त कुछ सुना दूँ आपको,
गो कि मेरी असल क्या इक बन्दए-ना-चीज हूँ।
नाचती है रूह इन्सानी बदन में शौक़ से,
जब कभी पा जाती है परतौ कि मैं क्या चीज हूँ।

'परतौ' (प्रकाश) की प्राप्ति उन्हें पूर्णरूपेण थी और इसके नशे में वह घण्टों विभोर रहा करते थे, वाह्य-ज्ञान से रहित होकर, यहाँ तक कि उनके पास बैठे हुए लोगों तक का उन्हें ज्ञान नहीं रहता था।

वह अरबी, फ़ारसी, उर्दू, तीनों भाषाओं में समान रूप से कमाल लिखते थे। उनकी फ़ारसी की एक गजल देखिए, कितनी भावपूर्ण है—

अह्दे-तिफ़्ली बूद मारा-नौ-बहारे ज़िन्दगी,
सीन-ए मादर मरा बूद मै-गुसारे ज़िन्दगी।
गिरिय-ए मन बूद गोया गिरिय-ए अब्रे-बहार,
ताज़गी मी जुस्त अजबे सब्ज़ा ज़ारे ज़िन्दगी।
जोशिशे बालीदगी बूदे ज़े नौरश आँ चुनाँ,
सब्ज़ा मी जोशीद गोई जाबजारे ज़िन्दगी।
दर कनारश बूद मे ग़लतां चू गौहर दर सदफ़,
या चो शबनम बर गुलेतर दरबहारे ज़िन्दगी।
दस्ते शफ़क़त अफ़सरो औरंगे मन दोशे पिदर,

बाबू अवधबिहारी सिंह की अपने हाथ से लिखी हुई
फ़ारसी की एक गजल

बूदा अम इस्कन्दरो जम दर दयारे ज़िन्दगी।
महदे मन अन्दर हवा मी रफ्तो मी आमद कि बूद,
चूँ सुलेमां बहराए अज रोजगारे ज़िन्दगी।
हम चुनां आमद शवावो अहदे तिफली दर गुजश्त,
नै ग़लत गुफ्तम् ग़लत बस ख़ार ज़ारे ज़िन्दगी।
नागहां हर दो बिरफ्तन्दो मरा बिगुज़ाश्तन्द,
नाल बर आतश जे ताबे शोलाज़ारे ज़िन्दगी।
गाह बूदम् मन असीरे फ़िक्रे दुनिया-ए दनी,
गह शिकारे नफ्से शूमे देवसारे ज़िन्दगी।
दर रसीद आख़िर चो पीरी यकबयक चुं रहज़ने,
ख़ुशदिली-ओ ऐश बुर्द अज मायादारे ज़िन्दगी।
जिस्मे मन अज़ नातवानाई चुं ख़र दर गिल बिमान्द,
अज तवानाई के बूदे शहसवारे ज़िन्दगी।
आँ के ऊ बरखुद हमी नाज़िद अज फ़ज़लो हुनर,
गश्ता अस्त अकनू चे मायां शर्मसारे ज़िन्दगी।
नीस्त 'बेदिल' ना उम्मीद असला जे रहमतहाय-ऊ,
मि रसद बेमाया सू-ए किर्दगारे ज़िन्दगी।

—बचपन का ज़माना मेरे लिए ज़िन्दगी का नौ-बहार था। माँ का सीना मेरी ज़िन्दगी के लिए साक़ी के समान था, अर्थात् मुझे आनन्द में विभोर करनेवाला था।

—मेरा रोना मौसम-बहार के बादलों के रोने के समान था, उन बादलों के, जिनके रोने अर्थात् बरसने से मोती पैदा होते हैं। (यह एक लोक-विश्वास है।) उस रोने से मेरी ज़िन्दगी का हरा-भरा क्षेत्र मानो ताज़गी प्राप्त करता था।

—उनके दूध से मैंने विकास पाया, बालीदगी पाई, उसी तरह जैसे कि ज़िन्दगी के चश्मे से चरागाह लहलहाता हुआ-सा नज़र आता है।

—जीवन के बसन्त-काल में उनकी गोद में मैं उसी तरह लोटता था जैसे मोती सीपी के अन्दर लोटता है या शबनम गुलाब के ताज़े फूल पर।

—उनके प्रेम का हाथ मेरे लिए मुकुट था और पिता का कन्धा राज-सिंहासन था। मैं अपनी जिन्दगी की दुनिया में सिकन्दर बना हुआ था।

—हवा में मेरे पालने का झूलना ऐसा था, मानो मैं जिन्दगी की दुनिया का, सुलेमान की तरह, लाभ उठा रहा हूँ।

—इस तरह जवानी के दिन आए, बचपन के दिन गुज़र गए। जवानी क्या आई, जीवन के काँटों की झाड़ी आई।

—सहसा दोनों ही विलीन हो गए और मेरे जीवन की आग की अंगीठी पर पाँव के तलवे रख गए।

—कभी तो मैं इस दुखमय जीवन की चिन्ताओं में फँसा रहता था या कभी जिन्दगी के दानव का शिकार बन जाता था।

—अन्त में लुटेरे की भाँति यकायक बुढ़ापा आ पहुँचा और मेरी जिन्दगी के खजाने से दिल की खुशी और आराम हर ले गया।

—मेरी जिन्दगी की शक्ति समाप्त-सी हो गई। मेरा शरीर दुर्बलता से ऐसा लगता मानो कीचड़ में कोई गधा फँसा हुआ हो अर्थात् बेबसी की दशा को प्राप्त हो।

—वह जो अपने गुणों के कारण गर्वान्वित था अब अपने जीवन से लजाया हुआ-सा हो रहा है।

—पर 'बेदिल' (यह उनका उपनाम था) अपने मालिक से निराश नहीं है, यद्यपि वह उसके समीप बिना किसी पूँजी के खाली हाथ ही जा रहा है।

अब उनकी फ़ारसी ही की एक और ग़ज़ल देखिए, कितनी सुन्दर है—

चेहरा बर अफरोख्तन्
पैदा ओ पिनहां सोख्तन्
कारे मरदा नस्त चू
शमे गुदांजा सोख्तन्।
बर न गुफ्तन् हाले खुद
जिनहार दर पेशे तबीब,
दर्द रा कर्दन ब सामा
कारो दरमां सोख्तन्।

मरहमे काफ़ूर रा बर
ताके निसियां सोख्तन् ।

(वह चेहरा बाहर से तो खुश नजर आता है, पर अन्दर से तेरे गम में जल रहा है। वीरों का काम है कि वे दीपशिखा की भाँति, चिराग की तरह स्वयं जलते रहें, पर दूसरों को प्रकाश दें। मुझे अपना हाल किसी भी वैद्य-हकीम से कहना वाजिब (उचित) नहीं, चूँकि दर्द ही तो मेरा इलाज है, यानी दर्द ही खुद अपना इलाज बन गया है। विस्मृति को ताक पर काफ़ूर के मरहम में रखकर जला डाला है मैंने।)

फिर देखिये, कोयल की 'कू-कू' पर वह क्या कहते हैं—

ईन 'कूकू' हस्तबल 'हूहू' बगोशम् मी खुरद्
जिके लाहूती बजेरे गुम्बदे अख़फर कुनद् ।

(वह कोयल की 'कू-कू' की आवाज नहीं, यह तो खुदा की याद है—'हू'[1] हू' की आवाज है जो इस नीले आसमान के नीचे मैं सुन रहा हूं।)

पाठक अब उर्दू की इन तीन गजलों पर दृष्टि डालें और देखें कि ये कितनी सुन्दर हैं, कितनी मार्मिक हैं! मानो, साधक ने इन पंक्तियों में अपना दिल खोलकर रख दिया हो। साधक-हृदय की पीड़ा इनमें साफ़-साफ़ परिलक्षित है, वह जो युग-युग से भक्त हृदय को भगवद्-विरह में तड़पाती रही है।

(१)

अगर अपने दिल पे ज़ालिम, हमें एख़्तयार होता,
न वह जाँकनी ही होती, न यह इन्तज़ार होता।
मेरा तीर आह गर्चे है फ़लक-रसा व लेकिन,
उसे कारगर समझते जो जिगर के पार होता।
तेरा हुस्न इस जहाँ में जो न होता परतौ-अफ़गन,
न ये फूल दिल लुभाते, न ये सब्ज़ा-ज़ार होता।
न रट लगाती कोयल, न पपीहा शोर करता,
न वह मारी-मारी फिरती, न यह बेक़रार होता।

---

१. हू = परमात्मा, ईश्वर।

न यह अब्रे ज़ार होता, न यह बर्क़ मुसकुराती,
न ये पत्थर आह करते, न कहीं शरार होता।
न हिमाले अपने सर को सू-ए आसमां उठाता,
न तेरी झलक का या रब ! इसे इन्तज़ार होता।
न कलेजा उसका फटता, न यह गंगा बह निकलती,
न वह खुले दिल से रोता, न यह लालाज़ार होता।
कोई ऐसी जां पे रहते, कोई बन हो या कि पर्वत,
तू ही चारासाज़ होता, तू ही ग़मगुसार होता।
जो क़ज़ा गले से मिलती, तो लिपट के उससे सोते,
न कोई उठाता लाशा, न कहीं मज़ार होता।
है यह आरज़ू-ए 'बेदिल' कि वह काश खाक होता,
तो गोबार बन के दामन पै तेरे निसार होता।

(२)

बैठा हूं और आंख है दर पर लगी हुई,
एक आग-सी है सीने के अन्दर लगी हुई।
अबरू है या कमान क़सीदा बदस्ते हुस्न,
या चाल में है तेगे दो पैकर लगी हुई।
रोता हूं उसकी आह में और क़तराहाए-अश्क,
दाने हैं मोतियों के, हैं झालर लगी हुई।
क्योंकर जमे निगह सफ़े मिज़गां हैं रूबरू,
रुख़सारे दिलरुबा के बराबर लगी हुई।
बेहिस पड़ी हुई नज़र आती है यह ज़मीं,
है तो किसी की इसको मुक़र्रर लगी हुई।
काफ़िर नहीं जो आस तेरे दर से टूट जाये,
कांसा है और आंख है दर पर लगी हुई।
सीधी तो राह एक ही होगी तेरी तरफ़,
कहने को तो हैं राहें बहत्तर लगी हुई।
बेवजह यह तड़प नहीं मरकज़ में है ज़रूर,
'बेदिल' किसी के पांव की ठोकर लगी हुई।

यह ग़ज़ल १९३० में लिखी गई थी, जब वह कालिज में कक्षा में बैठे हुए थे।

(३)

लाख कोशिश की मगर दिल का न अर्मां निकला,
दर्द दिल का न मसीहा से भी दरमां निकला।
सोजे दिल मिस्ले चिराग़ तहेदामां ही रहा,
नाला निकला तो धुआं बनके परीशां निकला।
क्या हुआ इससे जो यों कोई रहा बेसामां,
हसरत उस पर है जो बे-सरो-सामां निकला।
हुस्ने यूसुफ़ में ख़ुदा जाने था किसका जलवा,
आज तक फिर न कोई यूसुफ़े कनआं निकला।
मौत आई तो मुझे बे-सरो-सामां पाया,
दम जो घबराया हुआ निकला तो आसां निकला।
यों तो इस्लाम का दावा है हर एक को लेकिन,
वक्त आया तो कोई भी न मुसलमां निकला।
कोई बावफ़ा नहीं आता है कि जिससे पूछूं,
यों तो निकला नहीं, पर यां कोई अरमां निकला।

कितनी पुरदर्द हैं इस ग़ज़ल की अन्तिम पंक्तियां!

स्वर्गीय बाबू साहब की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनमें एक खूबी ही नहीं, कई और खूबियां भी थीं जो उनकी महानता को बढ़ाती थीं। एक महान् कवि के अतिरिक्त वह सफल चिकित्सक भी थे, तिब्बी और आयुर्वेद दोनों ही में वह दखल रखते और लोगों का—खास कर गरीबों का—मुफ़्त इलाज किया करते थे, वह भी बड़ी कामयाबी के साथ। सफलता, मानो, उनके हाथों में लिखी थी।

पर सबसे बड़ी बात जो उनमें थी, वह थी उनकी आध्यात्मिक गहराई। स्वभाव से तो फ़क़ीर थे ही वह, एक सिद्ध महापुरुष भी थे। एक पहुँचे हुए सूफ़ी महात्मा भाऊ साहब के वह मुरीद थे। वह स्वयं भी पहुँचे हुए संत थे। पर ज़िन्दगी-भर वह छिपे रुस्तम बने रहे, किसी को उन्होंने अपनी आध्यात्मिक पहुँच की टोह न दी। बड़े-बड़े पहुँचे हुए हिन्दू-मुसलमान महात्मा

उनके पास आया करते थे। पर उनसे भी वह इस बात को गुप्त ही रखते, किसी को बताते नहीं, सिवा अपने दो-एक अन्तरंग साधक मित्रों के। आध्यात्मिक जगत् में उनकी पहुँच कितनी ऊंची थी, इसकी एक नहीं, अनेक मिसालें पायी जाती हैं। आदमी देखकर उसके हृदय के भावों को जान लेना उनके बाएँ हाथ का खेल था। प्रेतादि बुरी आत्माएँ उनकी उपस्थिति और नाम ही से घबराती थीं। इसके भी अनेक दृष्टान्त हैं। उनके भ्रातृ-पुत्र ने मुझे एक आँखों-देखी घटना सुनाई थी, जो इस प्रकार है—

"मुंगेर शहर में एक मौलवी साहब रहा करते थे। उनका एक पुत्र था, जो एक जिन द्वारा पीड़ित था। जब वह किसी पुस्तक को लेकर पढ़ने बैठता, तब एक लम्बी दाढ़ीवाले मौलवी वहाँ आकर बैठ जाते और तब तक बैठे रहते जब तक वह पढ़ना छोड़ न दे, फिर वह विलीन हो जाते। लड़का भय से सूखता जाता था। अन्त में एक दिन मौलवी साहब बाबू साहब की शरण में पहुँचे। बाबू साहब ने सारा क़िस्सा सुना और एक पुर्जे पर अरबी में कुछ लिखकर दिया कि जब जिन आये तो लड़का उसे यह दे दे।

लड़के ने ऐसा ही किया। पुर्जा उसके सामने रख दिया। उसे देखते ही वह चिल्ला उठा, बोला——मैं तो सिर्फ़ पुस्तक सुनने आता था, किसी प्रकार का नुक़सान तो पहुँचाता नहीं था। खैर, मुझे हुक्म है तो मैं जाता हूँ। मेरा कोई क़ुसूर नहीं, क़ुसूर नहीं''''''और यह कहता हुआ वह अन्तर्धान हो गया, फिर कभी लौटकर न आया।"

उनकी दीक्षा किस प्रकार हुई, इसकी भी एक रोचक कहानी है।

एक अर्से से बाबू साहब के हृदय में गुरु-प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा सुलग रही थी। गुरु की खोज में वह बहुत भटके, बहुतेरे स्थानों की यात्रा की, पर असफल रहे। अन्त में किसी ने उन्हें बताया कि कलकत्ते के गंगा-तट पर अच्छे-अच्छे महात्मा मिला करते हैं। बस फ़ौरन वह कलकत्ते जा पहुँचे और प्रतिदिन जाह्नवी-तट पर घण्टों बिताने लगे। एक दिन जब वह गंगा के किनारे, विषण्ण-चित्त हो, विचरण कर रहे थे, एक साधू उनके पास आया और बोला—"तू गुरू के लिए इतना व्यग्र क्यों हो रहा है, घर वापिस जा, मुजफ़्फ़रपुर ही में तुझे गुरू मिलेंगे।" उसने उन्हें उसी दिन कलकत्ता त्याग देने का आदेश दिया। बाबू साहब घर वापिस आ गए।

मुजफ़्फ़रपुर आकर वह घण्टों बन्द कमरे में भगवान से गुरु-प्राप्ति की याचना शुरू करने लगे, पर कोई गुरु न मिला।

एक दिन किसी मित्र ने आकर उनसे कहा कि शहर में एक मुसलमान फ़क़ीर आए हैं, जिनके यहाँ रात-दिन स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी रहती है। वह भीड़ लगानेवाले साधुओं के विरोधी थे, फिर भी मनोरंजन के उद्देश्य से वह एक दिन शाम के वक़्त उनके पास जा पहुँचे। एक उच्चासन पर संत महाराज आसीन थे, धूनी जल रही थी और सैकड़ों स्त्री-पुरुषों ने उन्हें घेर रखा था। बाबू साहब भी वहीं कुछ दूर पर बैठ गये और प्रसाद-वितरण का नजारा देखने लगे। लोग तरह-तरह की याचनाएँ—धन, सन्तान, आदि की—करते और उनसे उन्हें दुआ मिलती। बाबू साहब को यह बात अच्छी न लगी, वह अपनी छड़ी उठाकर घर वापिस आने को उठ खड़े हुए। इतने ही में जोर से उस फ़क़ीर ने उन्हें पुकारा—"अवधबिहारी!" वह बड़े चकित हुए, सहमकर रुक गये।

फ़क़ीर ने गरजकर कहा—'बेवकूफ़! तूने रात-दिन रो-रोकर मेरे यार को तंग कर दिया और जब मैं तेरे पास आया तब तू चला जा रहा है। जिसे जिस चीज की भूख होती है उसे वही दी जाती है, इसमें रंजिश की कौन-सी बात है? आ, मेरे पास बैठ।"

उन्होंने फ़ौरन जाकर उस फ़क़ीर के चरण छुए। यही सूफ़ी सन्त झाऊ साहब थे, जिन्होंने उन्हें दीक्षा दी। मुसलमान सन्त के मुरीद होने के कारण उनकी साधना-प्रणाली मुसलमानी ही रही। रहन-सहन, बनाव-ठनाव सब में मुसलमानियत थी, नमाज तक पढ़ते, पर साथ ही यज्ञोपवीत और शिखा-सूत्र भी धारण करते थे। नतीजा यह हुआ कि उनकी मृत्यु का सम्वाद जब शहर में फैला तो हजारों की संख्या में हिन्दू-मुसलमान उनके शव के लिए इकट्ठे हो गये। हिन्दू उनके शव को गंगा-तट ले जाना चाहते थे, मुसलमान कब्रिस्तान को। दंगे की नौबत आ पहुँची, अन्त में रामप्रसाद खोसला और हाक़िम-हुक्कामों के बीच-बचाव से मामला सुलझा और उनके परिवारवालों ने हिन्दू रीति से उनकी दाह-क्रिया सम्पन्न की।

फ़क़ीरी उनकी हर बात में भरी पड़ी थी। एक बार जब उनके परिवार की महिलाएँ तीर्थाटन को गयी हुई थीं, कुछ शीत से सताये हुए भिक्षुओं

को देखकर बाबू साहब ने उन महिलाओं के तमाम कपड़े सन्दूकों से निकाल कर भिखारियों को बाँट दिए। उनके हृदय-औदार्य के ऐसे एक नहीं, सैकड़ों उदाहरण हैं, जो उनकी महानता के सूचक हैं।

सन् १९३० में बाबू साहब ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उनके बहुतेरे अन्तरंग साथी तब तक काल-कवलित हो चुके थे। एक बार इनका जिक्र करते हुए उन्होंने एक शेर सुनाया था—

बयाने दर्द उलफ़त हो तो क्योंकर हो,
न ज़ुबां दिल के लिए हैं, न दिल ज़ुबां के लिए।

प्रत्यूष-काल में उन्होंने शरीर छोड़ा। इसके पूर्व प्रायः आधी रात तक वह अपने एक घनिष्ठ मित्र, प्रोफेसर माजिद (जो अभी जीवित हैं) के घर पर तरह-तरह की बातें करते रहे। क़यामत (प्रलय) के दिन क्या होंगे, इसकी चर्चा होती रही। फिर अपने बिछुड़े हुए साथियों का जिक्र करते हुए अपने शरीर की ओर संकेत करके उन्होंने यह हृदयग्राही शेर पढ़ा—

जो एहबाब थे वो सब चल बसे,
रहे न कोई हबीब बाक़ी,
रफ़ू करे कोई कहाँ तक इसको
नहीं गिरेबां में चाक बाक़ी।

इसके बाद ही उन्हें तबीयत में कुछ गड़बड़ी मालूम हुई और वह घर चले आये। रास्ते में प्रसिद्ध सूफ़ी फ़क़ीर कम्बलशाह के मजार पर कुछ क्षण ठहरे, सिजदा किया और घर आकर लेट गये। दो बजे के क़रीब हृदय में पीड़ा का अनुभव उन्होंने किया और बजाय इसके कि वह कराहें, बिलकुल चुप लेट गये। देखने से यह तनिक भी प्रतीत न होता था कि उनके अन्दर किसी क़िस्म की शारीरिक पीड़ा है। उसी अवस्था में उन्होंने स्वर्गारोहण किया। बड़ी सादगी से मरे वह।

बकौल अक़बर के—

"उठाई छड़ी, चुपके से चल दिये अक़बर,
रखते नहीं हैं काम कभी टीमटाम से!"

सो बगैर किसी टीमटाम के वह भी चलते बने।

बाबू साहब ने अपने जीवन में न तो कभी किसी की खुशामद की और

न किसी से झगड़े ही। सादगी, सचाई, ईमानदारी—इनके साथ उन्होंने अपना जीवन बिताया और सबकी इज्जत करते रहे, किसी का अपमान उन्होंने न किया। उन्होंने धन, यश और ख्याति की कभी कामना न की। उन्होंने न कभी अपनी तस्वीर उतरवायी, न किसी को उतारने दी। आज के युग में जब कि जन्म-दिन मनाने और अभिनन्दन-ग्रन्थों की भरमार है, लोग पैसे खर्च कर-करके औरों से अपना अभिनन्दन कराते हैं—राजनीति और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में—ऐसे महान् पुरुष की गाथा, जो ख्याति से उसी तरह भागता रहा जैसे किसी संक्रामक रोग से, और जिसने अपने गुणों को संसार की पैनी दृष्टि से सदैव छिपाकर ही रखा, एक अजीब-सी चीज मालूम होती है। पर दिव्य-प्रेम की शराब पीने और उसके नशे में मस्त रहनेवाले यदि सांसारिक ख्याति और सम्मान को तृणवत् समझें तो इसमें आश्चर्य ही क्या? इस दिव्य-प्रेम की शराब का जिन्होंने रस-पान किया है, वे संसार की दृष्टि में बहुधा पागल-से ही प्रतीत होते हैं, पर—

किया जिन्होंने मुग्ध, लीन हो,
उसका रस-आस्वादन,
वही जान सकते, क्यों भाता,
हमें यही पागलपन।

स्वर्गीय बाबू अवधविहारी सिंह भी ऐसे ही जनों में से थे जिन्हें कभी यह फ़िक्र न हुई कि दुनिया हमें क्या समझती है। हिन्दू होकर भी मुसलमानों की तरह रहे क्योंकि उन्होंने एक मुसलमान फ़क़ीर के हाथों दिव्य-प्रेम की शराब पी थी, साथ ही अपना हिन्दुत्व भी क़ायम रखा। उनकी इस विचार में दृढ़ निष्ठा थी—

हर क़ौम रास्तराहे, दीनें व क़िबलागाहे।

अर्थात्, हर क़ौम यानी प्रत्येक धर्मवाले सीधी राह पर हैं, सबके ध्येय और मार्ग सच्चे हैं, ठीक हैं।

खेद है कि उन्हें जीवन-काल में हम पूरी तरह समझ न पाये। कोई तो उन्हें अरबी-फ़ारसी का आलिम-फ़ाज़िल समझता रहा, कोई उर्दू और फ़ारसी का शायर। पर इन सारी चीजों से बढ़कर जो चीज उनके अन्दर थी, उसका पता किसी ने न पाया। दरअसल वह क्या थे, यह किसी ने न

समझा—

ज़ाहिद बख्याले खेश मस्तम् दानद,
काफ़िर बगुमां ख़ुदापरस्तम् दानद;
मुर्दम् ज़ ग़लतफ़हमिए मर्दुम् मुर्दम्,
ऐ काश कसे हर्राचे हस्तम् दानद्।

"कर्मकांडी ने तो मुझे अवधूत माना, काफ़िर ने अपनी दृष्टि के अनुसार मुझे ईश्वर-भक्त समझा। दुनिया की नासमझी से मैं मारा गया। मैं जैसा था वैसा किसी ने न समझा।"

प्रोफेसर श्री रामप्रसाद खोसला, जो आगे चलकर पटना कालिज के प्रधानाध्यापक (प्रिंसिपल) के पद पर आसीन हुए, रहनेवाले पंजाब के थे। (१८८१ में जालन्धर जिले के राहोन नामक गाँव में उनका जन्म हुआ।) पर जीवन के बहुत दिन उन्होंने बिहार में—ख़ास कर मुज़फ्फ़रपुर में—बिताये। उच्च शिक्षा विलायत के केम्ब्रिज में प्राप्त कर उन्होंने अपने में विलायती बू न आने दी, वह विशुद्ध भारतीय रहे। शिष्टता और सादगी के अवतार थे वह। वह छात्रों से इतना प्यार करते थे कि कालिज का एक-एक छात्र उनकी बातों पर मर-मिटने को तैयार रहता था। प्रोफेसर श्री अवधबिहारी सिंह से उनकी बड़ी मैत्री थी और उनके समान ही वह भी विज्ञापन से दूर भागते रहे,उन्होंने कभी किसी की दरबारदारी न की, कालिज गये या घर पर बैठे रहे और यदि भावों का प्रवाह उठा तो उन्हें छन्दबद्ध करते रहे। उनके जीवन का यही क्रम रहा। सूफ़ी भावनाएँ थीं उनकी। संसार में रहकर भी आत्मा-रूपी हंस मानसरोवर के स्वप्न देखता रहा। उनकी ये पंक्तियाँ देखिये, दिल की बेचैनी का वे किस तरह ज़ाहिर करती हैं—

दरिया का किनारा हो या कोह का दामां हो,
या वादि हो सूनी-सी सुनसान बयाबां हो,
दुनिया से परे और दूर एक शहरे ख़मोशां हो,
आये न नज़र कोई ऐ इश्क वहाँ ले चल।
मैं दूर चला जाऊँ इस महफ़िले हस्ती से,
इस आलमे बातिल से इस वहम परस्ती से,

इस जामे खुमार आगीं[1] इस आरिजे मस्ती से,
हो चैन, जहाँ दिल को ऐ इश्क वहाँ ले चल।
जो राज है हस्ती का, वह दिल पै हुवैदा[2] हो,
देखें न जिसे आँखें वह वहम में पैदा हो,
कुदरत के करिश्मों पर दिलवाला,[3] वो शैदा[4] हो,
आराम से फिर गुजरे ऐ इश्क वहाँ ले चल।
महफूज जहाँ हूँ मैं उल्फ़त की बलाओं से,
माशूक के गम्जों से और उसकी अदाओं से,
गैरों की जफाओं से और अपनी वफाओं से
जी चाहे जहाँ तेरा ऐ इश्क वहाँ ले चल।
हर वक्त जहाँ छाया हो आलमे खामोशी[5],
हर फर्दो बशर जिस जां हो मायले बेहोशी,
याद आये न कोई भी हो ऐसी फरामोशी,
एक दश्ते तगाफुल[6] हो ऐ इश्क वहाँ ले चल।
कुछ फिक्र न हो दिल को गर खाक नशीं हो,
तूफ़ाने मुसीबत हो या ऐश का सामां हो,
जमईयते खातिर हो या हाल परीशां हो,
हो फिक्र न दुनिया की ऐ इश्क वहाँ ले चल।
गोशाहो कनायत[7] का दुनिया का न डर मुझको,
कुछ खौफ़ न हो दिल में, कुछ हो न खतर मुझको,
कुदरत हो तमाशाई देखे न बशर मुझको,
दिल की न हो रुसवाई ऐ इश्क वहाँ ले चल।
हर वक्त जहाँ चलती जन्नत[8] की हवाएँ हों,
दिन-रात जहाँ छाई वहदत[9] की घटाएँ हों,
कानों में जहाँ रहती दुनिया की सदाएँ हों,
हो आलमे तनहाई ऐ इश्क वहाँ ले चल।

---

१. परिपूर्ण। २. जाहिर। ३. आसक्त। ४. अनुरक्त। ५. विस्मृति।
६. गफ़लत का जंगल। ७. सन्तोष। ८. स्वर्ग। ९. अद्वैतवाद।

महफ़ूज रहूँ जिस जाँ मयनारे मुहब्बत[1] से,
ऐ मन हो जहाँ जाकर दिल आतिशे वहशत से,
कुछ दिन जो हैं अब बाकी कट जायें वो राहत[2] से,
और आग बुझे दिल की ऐ इश्क वहाँ ले चल।
'नाशाद'[3] का दिल शाद हो कुदरत के नजारों से
सूरज के शवाओं से और रात के तारों से,
महताब[4] की किरनों से, बिजली के इशारों से,
हो दिल को सकूँ[5] हासिल ऐ इश्क वहाँ ले चल।

उनकी एक और गजल देखें, कितनी पुर असर है—

काँप उठता हूँ मैं बर्के नागहाँ को देखकर
पाँव रखता हूँ जमीं पर आसमाँ को देखकर।
कारवाँ[6] के साथ चलने की नहीं ताकत मगर,
हाँ, बढ़ा जाता हूँ गर्दे कारवाँ को देखकर।
क्या इसे मालूम महफ़िल में कोई है या नहीं,
कैसे लैला को पुकारा सारवाँ[7] को देखकर।
गो नहीं ताकत कि मैं अर्शे बरीं[8] तक उड़ सकूँ,
शौक उछल पड़ता है लेकिन आसमाँ को देखकर।
ठोकरें हर गाम[9] पर खाता हूँ राहे इश्क में,
फिर संभल जाता हूँ शौके रहरवाँ को देखकर।
गरचे हूँ गुमराह मंजिल पर पहुँच जाऊँगा मैं
रहबरों[10] के पाँव के चलते निशाँ को देखकर।
हौसले से ऐ बशर कटती है मंजिल इश्क की,
पस्त-हिम्मत तू न हो कोहे गिराँ को देखकर।
बैठ जाता हूँ जहाँ साया घना आया नजर,
हूँ ठहर जाता कभी आबे रवाँ को देखकर।

---

१. प्रेम की अग्नि। २. आराम। ३. कवि का उपनाम। ४. चाँद। ५. विश्राम। ६. ऊँटों का काफ़िला। ७. ऊँट हाँकनेवाला। ८. सप्तम आकाश। ९. कदम। १०. रास्ता चलनेवाले।

एख्तेतामे[1] राहे हस्ती देखकर क्यूं खुश न हूँ,
मुर्ग खुश होता है अपने आशियां[2] को देखकर।
गर नहीं दिल में हवस सिज्दे की फिर 'नाशाद' क्यू,
सर झुका जाता है संगे आस्तां[3] को देखकर।

अपनी पुत्री को, जिसे वह दिल-ओ-जान से प्यार करते थे, मृत्यु पर उन्होंने एक कविता लिखी थी—'क़ौस-ए-क़ज़ह' (इन्द्र-धनुष)। देखिये, वह कितनी करुणापूर्ण है—

क्या खुशनुमा है झूला परियों के झूलने का,
सामान क्या बना है दुनिया को भूलने का।
क्या लाल, पीले, नीले रंगों से तू रंगा है,
हीरे से, मोतियों से, लालों से तू सजा है।
तू हूरे आसमां को गोदी में है खेलाता,
फिरदौस[4] की दुलहिन को है शौक से झुलाता।
सुनता है अर्शे आजम[5] के तू सदा फंसाने,
नगमें वह कुदसियों के तकदीस[6] के तराने।
हूरान अर्श तुझसे पेंगें बढ़ा रही हैं,
घूंघट उठा के अपने मुखड़े दिखा रही हैं।
ऐ आसमां के झूले एक बात राज की है,
गोया कि एक हेकायत[7] सोजो गुदाज की है।
गर तू बुरा न माने तो मैं जुबान खोलूं,
गर गौर से सुने तो एक बात मुंह से बोलूं।
एक भोली-भाली सूरत दुनिया से उठ गई है,
तारा थी आंख का वह तारों में जा बसी है।
वह झूलने को आये तो प्यार से झुलाना,
गर खेलना वह चाहे हाथों में तू खेलाना।
हँस-हँस के मीठी-मीठी बातें उसे सुनाना,

---

१. अन्त। २. घोंसला। ३. पत्थर की चौखट। ४. स्वर्ग। ५. उच्च आकाश। ६. पवित्रता। ७. किस्सा।

उकता-गई अगर हो वो उसका तू लगाना।
सर जेरे बारे मिन्नत 'नाशाद' का रहेगा,
और ता अबद[1] ये भूले तू भुलता रहेगा।

इन चन्द शब्दों ही से, आशा है, पाठकों को पूर्वोक्त दोनों शायरों के उच्च काव्य-गुण का पता लग जाएगा। खेद है कि इनके कलाम दो-चार मित्रों तक ही सीमित रहे, प्रसार न पा सके, फलतः इन्हें जो स्थान साहित्य में मिलना था, वह इन्हें न मिला। कारण—दोनों नाम और प्रतिष्ठा से कोसों दूर भागते रहे। काश, इन दोनों की सभी रचनाएँ प्रकाश में आ जातीं।

१. सृष्टि-पर्यन्त।

: १० :

पारसनाथ सिंह

बीते दिनों के सम्बन्ध में जब आदमी लिखने बैठता है तब वह एक बड़ी परेशानी की अवस्था को पहुंच जाता है, खास कर यदि उसका विषय दिवंगत प्रियजन हो। चलचित्र की भाँति बीती हुई बातें—बीती हुई घटनाएं—आँखों के सामने एक-एक कर गुजरने लगती हैं, स्मृतियाँ जागृत और मूर्तिमान् हो उठती हैं, कलेजा आहें भरने लगता है। एक प्रसिद्ध कवि की तरह वह चिल्ला उठता है—

हा हंत ! हंत ! क्वगतानि दिनानि तानि !!

मेरी भी आज कुछ वैसी ही अवस्था है। पारसनाथ जी से मेरा ऐसा निकट का सरोकार रहा, ऐसी घनिष्ठता रही, कि उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना मेरे लिए कठिन ही नहीं, कठिनतम प्रयास है। लेखनी रुक जाती है और आँखें भर-भर आती हैं।

मेरे नेत्रों के सम्मुख सन् १९२८ के वे दिन हैं जब हम दोनों ने साथ मिलकर एक साहित्यिक अनुष्ठान का आरम्भ किया था, भारती पब्लिशर्स लिमिटेड नामक एक पुस्तक-प्रकाशन-संस्था की नींव डाली थी, इस इरादे से कि हम अपनी इस संस्था से, पुस्तक पारिजात सिरीज में, केवल उच्च कोटि ही के ग्रंथ प्रकाशित करेंगे। इस सदुपयोग में सबसे पहला और बहुमूल्य सहयोग स्वर्गीय पं० श्री पद्मसिंह शर्मा से—जिनकी हम दोनों पर असीम कृपा रहा करती थी—प्राप्त हुआ था। हम अपने सिरीज की पहली पुस्तक में शर्मा जी के लेखों का संग्रह रखना चाहा। बातें तय हो गईं। इसके संकलन का भार पारसनाथ जी के कन्धों पर डाला गया। बिड़ला ब्रदर्स के व्यापारिक कार्यों में व्यस्त श्री पारसनाथ सिंह ने जिस सुन्दरता के साथ इस कार्य-भार को सम्भाला, वह जितना स्तुत्य था उतना ही आश्चर्यजनक भी था। जिन्होंने इस संग्रह, 'पद्म पराग', का अवलोकन किया है, वे ही इस कथन की

सार्थकता समझ पायेंगे।

मेरे सामने पारसनाथ जी का १७-६-२९ का लिखा हुआ एक पत्र है जिसे उन्होंने श्री पद्मसिंह जी को लिखा था। इसमें फुल्स्केप साइज के पूरे पाँच पृष्ठों में 'पद्म पराग' की छपाई का सारा कार्यक्रम और लेखों की प्रस्तावित क्रमिक-सूची लिखी हुई है। इससे उनकी कार्य-दक्षता और विवरण-प्रियता का पूरा परिचय मिलता है। संकलन में भी, जो आगे चलकर 'पद्म-पराग' के नाम से प्रकाशित हुआ, उन्होंने अद्भुत कुशलता का परिचय दिया और पद्मसिंह जी के इस भय को कि 'नश्तर में कहीं रग पर छुरी न चल जाय' पूर्ण रूप से दूर किया। जहाँ घटाने की जरूरत थी घटाया, पर लेखों की सुन्दरता को अक्षुण्ण रखा।

पारसनाथ जी महाकवि अकबर की शायरी के अनन्य प्रेमी थे। १९२८ ही से उनकी यह उत्कट अभिलाषा थी कि अकबर की कविताओं का एक सुन्दर संग्रह नागरी-लिपि में प्रकाशित किया जाए। श्री पद्मसिंह शर्मा से वह बार-बार अनुरोध करते रहे कि वह उनकी कविताओं का एक संकलन कर दें जिसमें ऐसी कविताओं का भी समावेश रहे, जो अप्रकाशित थीं। जिन दिनों, १९२९ में, कलकत्ते में पद्मसिंह जी पारसनाथ जी के घर पर टिके थे, उन्होंने इस कार्य को आरम्भ भी किया। वह बोलते जाते और मैं अथवा पारसनाथ जी उसे लिखते जाते; पर दुर्भाग्यवश कई बाधाएँ आ पहुँची, और यह सिलसिला अधिक दिनों तक जारी न रह सका।

पद्मसिंह जी को महाकवि अकबर की ऐसी सैकड़ों कविताएँ कंठस्थ थीं, जो उन्हें कवि से स्वयं प्राप्त हुई थीं और जो छापे में न आ सकी थीं। उनमें से कुछ मेरे पास एक कापी में लिखी पड़ी हैं, जो शायद अब तक अप्रकाशित हैं—कम-से-कम नागरी लिपि में वे अंकित न हो पायी हैं। उदाहरण के लिए, उनकी निम्न कविता लीजिए—

खुदी औ बे-खुदी दोनों हैं
अक्से-सूरते जाना
उसी को जल्वागर पाते हैं
जिस आलम में जाते हैं।



श्री पारसनाथ सिंह



पं० पद्मसिंह शर्मा

खिलाया ग़म, पिलाया खूने-दिल
महमानबाज़ी का,
तेरे एहसानमन्द ऐ चर्ख़ !
हम दुनियां से जाते हैं।

ये अधिकतर उनकी आध्यात्मिक कविताएं हैं।

पारसनाथ जी का प्रयत्न जारी रहा और वह पद्मसिंह जी को इस सम्बन्ध में बार-बार लिखते रहे। जिस पत्र का ऊपर उल्लेख है, उसी के अन्त में उन्होंने लिखा—"अब अकबर की कविताओं का संग्रह मुझे दीजिए। उनके स्मारक-स्वरूप हम दो भक्तों से कुछ बन जाए तो अच्छा है। जिन्दगी का क्या ठिकाना !" फिर एक दूसरे खत में उन्होंने लिखा—

"आप अकबर की कविताओं का संग्रह अवश्य कर दें। यह मेरा आवेदन, निवेदन, प्रार्थना, याचा सभी-कुछ है।"

पद्मसिंह जी, पर, यह संग्रह न कर पाये, कुछ बरसों के भीतर ही वह एक सांघातिक रोग के चंगुल में जा फंसे और हमें रोता छोड़कर इस संसार से चले गये। पारसनाथ जी की यह तमन्ना पूरी न हो पाई। किन्तु प्रायः चौबीस वर्षों के बाद इस कार्य को उन्होंने स्वयं ही पूरा किया और हिन्दी-संसार को 'महाकवि अकबर—व्यंग और विनोद' जैसी सुन्दर पुस्तक प्रदान की।

पत्र-लेखन भी एक कला है और इसमें सन्देह नहीं कि पारसनाथसिंह इस कला में पारंगत थे। उनके पत्रों का संग्रह हिन्दी संसार के लिए एक मूल्यवान वस्तु होगी। वह गद्य में पत्र जिस सुन्दरता के साथ लिखते थे, पद्य में भी वैसी ही।

स्वर्गीय पण्डित जी से (पं० पद्मसिंह शर्मा से) उनकी परम मैत्री थी, घनिष्ठता थी, प्रेम था, जैसा निम्नलिखित खत से जाहिर होगा—

शिमला
१ जुलाई, २६

पूज्य पण्डित जी, प्रणाम।

कृपा-पत्र के लिए अनेक धन्यवाद भेजता हूं। स्वीकार करेंगे।

'—जब जिन्दा था' इसका क्या अर्थ ? आप जिन्दा नहीं तो और कौन

जिन्दा है ? जिन्दा तो आप तब तक रहेंगे जब तक संसार में हिन्दी भाषा और साहित्य की चर्चा है। बहुत से जो अपने को जिन्दा समझते हैं मेरी दृष्टि में मरे हुए से भी बदतर हैं। जीना सार्थक तो आप जैसे पुरुषों ही का है। अवश्य ही अपने शारीरिक और मानसिक क्लेशों के कारण आपने ऐसा लिखा है, पर यह तो सुवर्ण की अग्नि-परीक्षा है। इस ताप में पड़कर भी आप आप ही रहेंगे। जब तक संसार में 'जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है' तब तक आप, 'कभी जिन्दा था, पर अब नहीं हूँ' यह कहकर दूसरी श्रेणी में नहीं बैठ सकते।

× × ×

कटिंग्स मैंने चाव से पढ़े। कलकत्ते के दंगे के सम्बन्ध में आपने खूब निर्भीकता से लिखा है। वह देश और जाति का बड़ा अपकार कर रहे हैं। कलकत्ते की यूरोपियन एसोसिएशन में तो उनका एक प्रकार से अपमान-सा हुआ। फिर भी जहाँ नहीं जाना चाहिए वहाँ दौड़े चले जाते हैं।

"अधोऽधो गंगेयं पदमुपगता स्तोकमथवा।
.........भवति विनिपातः शतमुखः।"

आपका,
पारसनाथ

स्वर्गीय पण्डित जी के एक लेख की पांडुलिपि मेरे पास है। इसमें श्री पारसनाथ जी का जिक्र जिन शब्दों में किया गया है, वह पण्डित जी के ख़यालात उनके सम्बन्ध में क्या थे, इसका बड़ा ही सुन्दर इजहार है। पण्डित जी ने लिखा है—

"हाँ, तो जिनका (पारसनाथ जी का) यह जिक्रे-खैर है, वह भी एक ऐसे ही छिपे रुस्तम हैं। जब उमंग आती है, लहर उठती है, कोई घटना कुछ कहने को विवश कर देती है तब उनकी क़लम उठती है और कुछ लिख डालती है। ऐसी कई घटनाएँ समय-समय पर आई हैं जिन पर उन्होंने लिखा है और खूब लिखा है, पर उसे कभी सुरक्षित नहीं रखा, लिखा और फेंक दिया। जब कभी सफ़र में होते हैं और मौज आती है तब किसी भेदी मित्र को पद्य में पत्र लिखते हैं। बातें सीधी-सादी होती हैं पर एक बाँकेपन को लिए हुए। विचार का वायुयान अनन्त की ओर नहीं उड़ता, घटना के मैदान

ही में चमकर काटता है; और वह वहीं पहुँचता है जहाँ उसे उतरना चाहिए। पढ़नेवाला जब पढ़ता है तब मालूम होता है कि सामने बैठे वह बेतकल्लुफी से बातें कर रहे हैं, घटना का एक चित्र-सा खिंच जाता है, मामलाबन्दी की तसवीर आँखों के सामने आ जाती है, शब्दों का आडम्बर नहीं, अलंकारों की घटा नहीं, नीरव भाषा का भाषण नहीं, मूक आह्वान नहीं, बेतार की वीणा की झंकार नहीं, अन्तर्वेदना का रोना नहीं, 'आह' या 'वाह' कुछ भी नहीं, फिर भी एक बात होती है जो दिल में गुदगुदी पैदा करती है, चुटकी लेती है और समझनेवाले को लोट-पोट कर देती है, उसमें परिहास और व्यंग्य होता है पर इतना जितना कि आटे में नमक या चाय में चीनी।"

यह बड़े ही परिताप का विषय है कि हिन्दी भाषा का, अंग्रेजी का भी, ऐसा ओजस्वी लेखक साहित्य-वाटिका से निकलकर व्यापार-व्यवसाय की गंदली गली में जा बसा, पर वहाँ भी उसने अपना सिक्का जमाया और बड़े-बड़े सफल व्यापारियों से भी कार्य-क्षमता में, कुशलता में, किसी क़दर कम न साबित हुआ। पारसनाथ जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वह जिस काम में हाथ डालते, उसी में निपुणता का परिचय देते थे।

व्यापार-क्षेत्र में सफलता प्राप्त की, पत्र-सम्पादन और संचालन में अद्भुत प्रतिभा दिखलाई, 'जगत्सेठ'—जैसे ग्रन्थ को लिखकर अपने इतिहास-ज्ञान का परिचय दिया। समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख उनकी गद्य-लेखन-शैली की श्रेष्ठता और मनोरंजकता की गवाही देते हैं—मतलब यह कि इन सारी चीजों में उनकी ऊँचे दर्जे की पहुँच थी। पर एक बात जिसका पता, सिवा उनके कुछ अन्तरंग मित्रों के, औरों को न लग सका था वह यह थी कि उनमें उच्च श्रेणी की काव्य-प्रतिभा भी थी। उनकी सामयिक कविताएँ और तुकबन्दियाँ भाषा-काव्य-सौष्ठव के साथ-साथ रोचकता से परिपूर्ण हुआ करती थीं। इसके कुछ नमूने पाठकों के मनोरंजनार्थ नीचे दिये जाते हैं।

आज से प्रायः २८-२९ वर्ष पूर्व की बात है। हमारे शहर के सदर अस्पताल में एक लेडी डाक्टर, मिस 'क' नियुक्त होकर आईं, जो रहने वाली किसी और प्रान्त की थीं और जिन्हें देखकर महाकवि बिहारीलाल के एक दोहे की बार-बार याद आती थी—

इक भीजे चहले परे बूड़े बहे हजार,
किते न अवगुन जग करत बय-नय चढ़ती बार।

उनके यहाँ रहते हुए एक साल भी न हो पाया था कि एक दिन हमने सुना कि वह इस्तीफा दिए बिना या किसी से कुछ कहे-सुने बिना कहीं चली गयीं, एकायक गायब हो गयीं। पीछे चलकर पता लगा कि उनका कोई प्रेमी था—कालिज का साथी—जो आया और रातों-रात उन्हें लेकर चलता बना। शहर में इससे काफ़ी खलबली मची। जो इस यौवना पर फ़िदा थे, वे हाथ मलते रह गये। अस्पताल के अधिकारी सोचने लगे, जनाना वार्ड का अब हम क्या करें, किस पर भार सौंपें ? पर सबसे जटिल समस्या यह उपस्थित हुई कि वह स्थानीय सरकारी पशु-चिकित्सालय में एक कुतिया छोड़ गयीं, जिसके इलाज का बिल पचास-साठ रुपयों के क़रीब होता था। इस कुतिया का क्या हो और इस बिल का भुगतान कौन करे ? चिकित्सालय के डाक्टर ने शहर के अनेक गण्यमान लोगों के पास कुतिया और प्रस्ताव भेजे कि वे बिल के रुपये चुकाकर इसे अपने पास रख लें, पर कोई इसके लिए राजी न हुआ; और अन्त में वह कुतिया अस्पताल के धांगड़ के हाथों पड़ी। पारसनाथ उन दिनों हम लोगों के मेहमान थे। उनका हृदय शायद द्रवित हो उठा और उन्होंने एक लम्बी-सी कविता उस कुतिया पर लिख डाली, जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

सभी रईसों ने ठुकराया, रखने से इन्कार किया,
बोली कुतिया—'धिक् है मुझको, क्यों था मैंने जन्म लिया।'
घर-घर घूमी कुतिया 'लैली', मिला न 'मजनूं' उसे यहाँ,
कहा भूंककर उसने—'मेरी मौत ! बता तू रुकी कहाँ ?'
पर न मरी अब तक वह, दुःख के आंसू रोज बहाती है,
मिली दान मेहतर को, उसकी ही कुतिया कहलाती है।

× × ×

कुतिया जहाँ-कहीं तू होवे, जल्दी तेरा समय कटे,
और नगर यह कई युगों तक, तुम दुखिया का नाम रटे।

बरसों के बाद, आज से प्रायः डेढ़ साल पहले, अचानक उपर्युक्त मिस 'क' के साथ मेरी भेंट दिल्ली में हुई, जब वह मेरे एक साथी संसद्-सदस्य

की पत्नी के रूप में मिलीं। मुझे तुरन्त ये पंक्तियाँ स्मरण हो आयीं, और उस विगत दिन की याद चलचित्र की भाँति मेरी आँखों के सामने आकर खड़ी हो गयी, जब इनके अन्तर्धान होने पर शहर में खलबली मच गयी थी।

उसी साल लखनऊ की 'सुधा' पत्रिका का साहित्यांक धूमधाम से निकलने जा रहा था। स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा ने संपादन-भार अपने कन्धों पर ले लिया था। पारसनाथ जी से उन्होंने लेख का तकाजा किया। उत्तर में निम्नलिखित पत्र पद्य में पारसनाथ जी ने उन्हें लिखा:—

खाक छान दिल्ली की श्रीमन्! यहाँ आपका खत आया,
सुधा-समुद्र उमड़नेवाला समाचार यह शुभ पाया।
किन्तु मुझे क्यों मिला निमन्त्रण? अमृत कहाँ मैं पा सकता?
और हाथ में लिये जहर का प्याला क्योंकर आ सकता?
बरसों के अन्वेषण से भी मुझे सुधा-रस मिला नहीं,
है मुझको सन्देह, धरा पर मिल सकती वह वस्तु कहीं।
केवल विष है पास—आपकी सेवा में मैं क्या लाऊँ?
सुधा-सिन्धु रखनेवाले को कौन मदद मैं पहुँचाऊँ?
सम्भव है कुछ यही गरल इस हिन्दी का उपकार करे,
विष ही विष की दवा, भला फिर क्यों विष से संसार डरे?
किन्तु लोग भय खाते विष से—अच्छा था जो विष खाते,
भवसागर में रहते पर भय-सागर पार पहुँच जाते।
पर, यह आशा निरी दुराशा, भय भारत का अधिपति है,
हो दासत्व दूर क्योंकर जब उलटी सबकी मति-गति है?
जो सचमुच संजीवन रस है उसे नहीं हम अपनाते,
पर जो रस है प्राण-विघातक उसे ग्रहण करते जाते।
मिला सदा स्वातन्त्र्य उसी को जिसमें सत्साहस-बल था,
सत्य-प्रेम के जल से जिसका परिप्लावित अन्तस्तल था।
क्या साहित्य हमारा वैसे साहस का परिचय देता?
अथवा सत्योपासक वैसा यहाँ एक भी है नेता?
जीवन से साहित्य हमारा कोसों पीछे पड़ा हुआ,
बरसों पहले जहाँ खड़ा था वहीं आज भी अड़ा हुआ।

परम्परा के अन्धभक्त हम, नहीं किसी की सुनते हैं,
सड़े-गले सूतों से 'स्थायी' वस्त्र-काव्य का बुनते हैं।
नया जो कुछ है निन्दनीय है, भले-बुरे का ज्ञान नहीं,
हितकर और ग्राह्य बातों की ओर किसी का ध्यान नहीं।
अन्धों के नेता हैं अन्धे, कैसे राह दिखायेंगे?
हमें मृत्यु के मुख-गह्वर में, यह निश्चित पहुंचायेंगे।
छन्दों तक की वर्ण-व्यवस्था हम पर शासन करती है,
कूड़ा-पन्थ यहाँ भी देखें कब तक दशा सुधरती है।
और अगर कोई उत्साही कुछ व्यक्तित्व दिखाता है,
नया भाव या नया ढंग कुछ निज रचना में लाता है,
तो सनातनी कहने लगते—'यह तो छायावादी है',
मानो वह उच्छृङ्खल अथवा साहित्यिक उन्मादी है।
भाव-अभाव जहाँ हो ऐसा—समालोचना ऐसी हो,
उस भाषा की, कहें आप ही, और अवस्था कैसी हो?
है आशा बस नवयुवकों से, वे साहित्य-सुधार करें,
और ज्ञान-धन का संचय कर हिन्दी का भण्डार भरें।
मत झूठा अभिमान करें वे, मत निन्दा का भय मानें,
पश्चिम से है हमें सीखना अभी बहुत कुछ, यह जानें।
बर्न्स, बायरन, शेली जैसे कवियों के अनुगामी हों,
हाँ, आपत्ति नहीं कुछ भी जो भूषण के भी हामी हों,
लिखें अवश्य, पढ़ें पर उससे अधिक, और यह नियम रहे—
जीवन-ग्रन्थ विशाल, उलटते उसके भी कुछ पृष्ठ रहें।
मूल्य नहीं कुछ अन्य जनों की बातों को दुहराने का,
मूल्य सदा होता तथ्यों को अपने हाथों पाने का।
पूछें कवि से—ताजमहल के पीछे क्यों बेकार पड़ा?
बुरा विषय यह भूमि नहीं है जिस पर वह है अभी खड़ा।
नाटककार को सूत्रधार या नटी नहीं विस्मृत होती,
पर उसके सब पात्रों के मुँह स्वाभाविकता है रोती।
कृत्रिमता ही कला नहीं है, ढाँचा प्राण न ला सकता,

शास्त्र-सूत्र-अवलम्बन से ही गुणगरिमा को पा सकता।
नकल-नवीसी छोड़ हमारे लेखक मौलिक ग्रन्थ रचें,
महापाप दासत्व किसी का, उससे वे सब काल बचें।
अपनी आँखों दुनिया देखें, जिससे अनुभव खूब बढ़े,
और लिखें जो-कुछ वे, उस पर कुछ तो पक्का रंग चढ़े।
बस थोड़े में यही निवेदन पत्रोत्तर में करता हूँ,
अनधिकार चर्चा कुछ कर दी—अनौचित्य से डरता हूँ।
क्षमा चाहता, निकल गई हो
जो प्रसंगवश बात कठोर।
और आप साहित्य सम्भालें,
मैं जाता जीवन की ओर।

किस रोचक ढंग से अपने साहित्यिक विचार उन्होंने इस पत्र में प्रकट किये हैं !

१९२९ का ग्रीष्म-काल था। मैंने उनके पास, कलकत्ते, कुछ आम और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् सर आर्थर बेरिडल कीथ सम्बन्धी एक लेख, एक पत्रिका के लिए, उनके अनुरोध पर भेजे। इनकी पहुँच उन्होंने इन शब्दों में लिखी—

कीथ-कथा-जल मिला, गया वह
भरने सम्पादक की गागर,
मिले आम्र-फल, उनसे पूरित
हुआ उदर का खाली सागर।
श्यामल पत्र मिले, ये घन हैं;
मन-मयूर को नाच नचाते,
किन्तु यहाँ से सबके बदले,
केवल धन्यवाद हैं जाते।

कलकत्ते में जोरों का 'डेंगू' ज्वर फैला हुआ था। मैं भी उसके चंगुल में जा फँसा। डाक्टरों ने कहा, फ़ौरन कलकत्ते से बाहर चले जाओ। उसी रात घर के लिए रवाना हो गया। बीमार था, अतएव पारसनाथ जी घर तक (उत्तर बिहार) पहुँचाने आये। घर पर उन दिनों एक मुक़द्दमा चल

रहा था, जिसके सम्बन्ध में अक्सर मेरे मंझले भाई और उनके एक कारिन्दा आपस में खानगी मशवरे किया करते थे। पारसनाथ जी ने कलकत्ते पहुँचकर जो पत्र भेजा, उसमें रोचक ढंग पर इसकी भी चर्चा की और लिखा—

क्या वे दोनों अब भी मिलते,
नहीं कान तक जिनके हिलते,
किन्तु मन्त्रणा होती ऐसी,
नित्य नये गुल जिससे खिलते ?

एक बार सेठ जुगलकिशोर बिड़ला ने एक बंगाली संस्कृत के पण्डित-शास्त्री को शुद्ध घी का एक टिन भेंट किया। घी विशुद्ध था, फिर तो ब्राह्मण का जाति-गुण लोभ रोके न रुक सका, लगे शास्त्री जी नियमित रूप से घी-भरे टिन की याचना करने। पारसनाथ जी ने अपने एक मित्र श्रीराम शर्मा (मारवाड़वाले, 'विशाल भारत' के सम्पादक नहीं!) को लिखा—

पीपा-नभ में घृत-घटा, लख नाचे मनमोर,
देखें कब तक भेजते, वह दिन जुगलकिशोर !
पीपा नहीं, पपीहरा, पड़ा हठी से काम,
पीपा-प्रण पूरा करें, समझदार श्रीराम !

एक बार दैनिक 'स्वतन्त्र' के दफ्तर में भूख लगी, तो उन्होंने अपने एक सहकर्मी सम्पादक के पास, बगल के कमरे में, लिखकर भेजा—

लगी है भूख,
मुँह गया है सूख,
रखते थे तुम किसमिस पास,
उसकी भी क्या तज दूँ आस ?

ऐसे दो-चार नहीं, दर्जनों दृष्टान्त मैं अपनी स्मृति से उनकी काव्य-कला और रोचक तुकबन्दियों के दे सकता हूँ, परन्तु स्थानाभाव से इस प्रसंग को यहीं समाप्त करना पड़ता है। गम्भीर विषयों पर भी उन्होंने कविताएँ लिखीं, महाकवि रवीन्द्रनाथ की बहुत-सी कविताओं का अनुवाद किया, पर उसकी यहाँ विस्तार से चर्चा न कर केवल महाकबि की एक छोटी-सी, कविता का हिन्दी-अनुवाद पेशे-नजर करता हूँ। पाठक देखें कि किस आडम्बर-रहित सुन्दर भाषा में यह लिखी गयी है—

(भक्ति-भाजन)

रथ-यात्रा में भीड़ बड़ी है, धूमधाम है आज तमाम,
प्रेममग्न हो पथ पर, देखो, करता भक्त-समाज प्रणाम।
पथ अपने को देव समझता, रथ अपने को लेता मान,
मूर्ति समझती देव स्वयं को, हँसते मन-ही-मन भगवान!

पारसनाथ जी के अनेक लेख और कविताएँ 'सरस्वती' में उन दिनों प्रकाशित हुई थीं जब वह बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर इलाहाबाद में क़ानून की शिक्षा पा रहे थे—यानी, वह एल-एल० बी० के विद्यार्थी थे। हिन्दी के वयोवृद्ध लेखक श्री देवीदत्त शुक्ल ने, जिन्हें स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादन-काल में 'सरस्वती' के संपादकीय विभाग में काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, पारसनाथ जी की चर्चा करते हुए मुझसे कहा था कि एक बार द्विवेदी जी ने उन्हें पारसनाथसिंह के एक लेख को दिखाते हुए कहा कि यह हिन्दी के एक नये उदीयमान लेखक की रचना है। इनके कई लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुके हैं। इन लेखों से यह स्पष्ट है कि आगे चलकर यह व्यक्ति हिन्दी-जगत् का एक महान् यशस्वी लेखक प्रमाणित होगा। द्विवेदी जी के ये वाक्य अक्षरशः सत्य होते, यदि पारसनाथ जी बिड़ला ब्रदर्स के धन-चक्कर में न पड़ जाते।

पारसनाथ जी का प्रवेश बिड़ला जी के यहाँ श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी द्वारा हुआ था। वाजपेयी जी ने निःसन्देह उन्हें बिड़ला जी के पास पहुँचाकर अपने मित्र श्रीघनश्यामदास बिड़ला का बड़ा उपकार किया; पर हिन्दी-जगत् की इससे कितनी क्षति हुई, यह स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में आप ऊपर सुन ही चुके हैं। अब देखिए कि स्वर्गीय शर्मा जी ने उन्हें अपने एक पत्र में क्या लिखा था—

"आप पर कुछ लिखने को तबीयत चाहती है। आपको बदनाम किए बिना न मानूंगा। आपका जड़-भरत का-सा मूक जीवन मुझे पसंद है। आपने तो आत्म-गोपन की हद कर दी—

निगाहें कामिलों पर पड़ ही जाती हैं जमाने की।
कहीं छिपता है 'अकबर' फूल पत्तों में निहाँ होकर।

मुझे आपके संबंध में जो-कुछ लिखना है,अपनी जिम्मेदारी पर लिखूँगा।

उसे आपको दिखाने की जरूरत न पड़ेगी। उसमें आपको अपने स्वरूप का आभास दिखाई देगा। आप अपने असली स्वरूप को भूले हुए हैं। यदि आपको कुछ भी स्वरूप-ज्ञान हो गया, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।"

अफ़सोस कि पारसनाथ सिंह को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न हुआ और वह बजाय इसके कि भारती देवी के मन्दिर को अपने कृति-पुष्पों से भरें; नं० ८, रायल एक्सचेंज प्लेस के व्यापार-दफ़्तर में अपनी प्रतिभा के मोती बिखेरते रहे ! यह भी विधि की एक विडम्बना ही थी !

जहाँ तक गद्य का संबंध है, ग़जब की लेखन-शैली पायी थी उन्होंने। हिन्दी-अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में वह बड़ी बेतकल्लुफी के साथ लिखते थे और शब्दों को ऐसे ढाँचे में ढालते कि पढ़नेवाला मुग्ध हो उठता था। शब्दों का चुनाव और शब्द-सौष्ठव उनके बड़े उच्च दर्जे के होते थे।

वैसे तो पारसनाथसिंह से मेरा परिचय और भी पहले से था—दर-असल हम दोनों एक ही जिले के रहनेवाले थे—पर घनिष्ठ संपर्क में हम दोनों तब आये जब वह कलकत्ते के 'दि न्यु एम्पायर' नामक अंग्रेजी दैनिक पत्र के संपादन-विभाग में काम कर रहे थे। फिर 'स्वतंत्र' (हिन्दी दैनिक) में चले गये। उन दिनों मैं भी कलकत्ते में रहने लगा था। शायद ही कोई ऐसा दिन होता जब हम दोनों नहीं मिलते थे। अक्सर शाम को वह आफ़िस से लौटते हुए मेरे यहाँ चले आते और तब बातों का, जिनमें साहित्य-चर्चा मुख्य स्थान पाती थी, कुछ ऐसा सिलसिला बँधता कि वह बिना आधी रात गये समाप्त न होता था। एक बड़े उच्च दर्जे के 'कनवर-सेसनिस्ट' (संलाप-कुशल) भी थे वह। मामूली-से-मामूली बातों को भी इस ढंग से सुनाते कि श्रोता या तो मंत्र-मुग्ध-सा होकर सुनता या हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता था। दरभंगा के खाँ-साहब की उनकी कथाएँ आज भी उनके विस्तृत मित्र-समुदाय में बहुतों को स्मरण होंगी।

पारसनाथ अजातशत्रु थे। उनके मित्रों की संख्या बहुत बड़ी थी। जो उनसे मिला, आप-से-आप उनका मित्र बन गया। मुझे याद नहीं कि उनका कोई विरोधी भी था।

जीवन के अन्तिम दिनों में वह पुनः साहित्य की ओर आ मुड़े थे।

उनके स्वास्थ्य का संहार हो चुका था, डाक्टर मना करते थे, फिर भी विद्या-व्यसन को उन्होंने न छोड़ा। कई पुस्तकें लिखीं, कइयों के लिखने का इरादा दिल में था, पर इसे वह पूरा न कर सके। वह भारतीय गणित-ज्योतिष (Astronomy) पर एक पुस्तक लिख रहे थे, जो अर्ध लिखी ही रह गई। मौत आ पहुँची और असमय में ही उन्होंने संसार से विदा ले ली—

आ गया वक्ते अजल[1] ऐ शौके दुनिया अलविदा[2],
अलविदा ऐ हस्रते दिल, ऐ तमन्ना अलविदा।
श्राज़िमे[3] मुल्के अदम है 'अकबरे' ख़ूनी[4] जिगर,
अलविदा ऐ उम्र, ऐ बज़्मे अहिब्बा[5] अलविदा।

महाकवि अकबर की ये पंक्तियाँ मानो उन्हीं के लिए लिखी गयी हों।

---

१. मृत्यु। २. विदा। ३. इरादा रखनेवाला। ४. जिसका खून हुआ हो। ५. मित्रों की महफ़िल।

: ११ :

एक ग्रामीण आदर्श-पुरुष

बाबू गोपाल जी

बिहार में सारन नाम का एक जिला है। इसी जिले के परसागढ़ नामक एक गाँव में बाबू गोपाल जी (उन्हें लोग इसी नाम से पुकारा करते थे) का जन्म हुआ था—एक ऐसे वंश में जिसका आज से कई सौ वर्ष पूर्व इस जिले पर पूर्ण आधिपत्य था। इस बात का उन्हें जीवन-भर गौरव रहा, और अपने वंश की वंशावली—कुर्सीनामे—के न-जाने कितने संस्करण उन्होंने अपने हाथों से तैयार किये थे। यदि कोई जिज्ञासु इसे देखकर उनके पूर्वजों—राजा प्रेमनारायण, जिन्होंने मुग़ल बादशाह के खिलाफ बगावत कर बारह साल दिल्ली की जेल में बिताए थे, आदि, के सम्बन्ध में कुछ पूछ लेता तो वह गद्गद्-से हो जाते और गर्व-भरे शब्दों में उनके आख्यान सुनाने लगते।

जिन दिनों की चर्चा मैं कर रहा हूँ, उन दिनों वह वृद्ध हो चुके थे, प्राय: ७०-७५ साल के, पर लिखने-पढ़ने में जवानों के भी कान काटते थे। जब देखिए, तभी ७५ साल का यह वृद्ध हाथ में कंडे की क़लम लेकर अपने जीर्ण-शीर्ण मौरूसी मकान के बरामदे अथवा कमरे में बैठा हुआ कुछ लिख रहा है। निजी खेत न होने के कारण वह खेती नहीं कर पाये, पर कृषि-शास्त्र से उन्हें अपार प्रेम था। जिस किसी मासिक पत्रिका अथवा दैनिक या साप्ताहिक पत्र में कृषि-सम्बन्धी लेख अथवा समाचार नज़र आता, उसकी वह फौरन नक़ल कर डालते और अपने संग्रहागार में उसे रख छोड़ते थे। हालत यहाँ तक आ पहुँची थी कि गाँव के पढ़े-लिखे लोग, जिनके पास पत्र-पत्रिकाएँ आया करती थीं, उन्हें देखते ही अपनी पत्र-पत्रिकाएँ छिपा लेते थे।

उज्ज्वल चरित्र

गौर वर्ण, दुबला-पतला शरीर, चेहरे से उनके अद्भुत पवित्रता टपकती थी। आजन्म उन्होंने कोई बुरा काम न किया। रुपये-पैसे के कई प्रलोभन उन्हें दिये गये, जिन्हें साधारणतः लोग अस्वीकार नहीं करते, पर अपनी गरीबी के बावजूद भी उन्होंने ऐसे प्रस्तावों को पैरों से ठुकरा दिया, क्योंकि ऐसे सभी प्रस्ताव उनकी उज्ज्वल वंश-महिमा पर धब्बा लगानेवाले थे। काश, आज हिन्दू जाति अपने पूर्वजों की मर्यादा से इसी प्रकार अपने को गौरवान्वित समझती और ऐसा कोई काम न करती जिससे उसके नाम की सफ़ेद चादर पर कालिख लगती। परम वैष्णव बाबू गोपाल जी के जीवन पर ध्यान देते ही श्री मैथिलीशरण गुप्त की ये प्रख्यात पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं—

> वाचक ! प्रथम सर्वत्र ही
> 'जय जानकी' जीवन कहो,
> फिर पूर्वजों के शील की
> शिक्षा-तरंगों में बहो।

यह वृद्ध महापुरुष भगवद्-भक्ति और पूर्वजों की शील-शिक्षा की तरंगों में आजन्म बहता रहा, इसमें सन्देह नहीं।

जन्म-स्थान

परसागढ़ में एक अति प्राचीन गढ़ है, जिसके चारों ओर पानी से भरी हुई खाई अब तक विद्यमान है। वहाँ के बाबुआनों के घर बुरी तरह लट-पट हैं—यह जिसे किसी जमाने में राजप्रासाद होने का गर्व प्राप्त था, पर आज जिसके अधिकांश भाग अर्ध-खण्डहर की अवस्था को प्राप्त हैं। ऐसा ही एक खण्डहर में परिणित घर बाबू गोपाल जी का निवास-स्थल था। गुर्बत के कारण उनकी खेती की तमन्ना पूरी न हो पाई, पर इस घर के सामने के सहन में वह अपनी कृषि के सारे अभाव पूरा करने के उद्योग में लगे रहे। दस गज में धान की क्यारी, पाँच गज में गेहूँ की फ़सल, साग-सब्जी आदि, सारी चीजें वह इतनी-सी ही जमीन में उपजाते रहे, वह भी आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से, हिन्दी की कृषि-विषयक पुस्तकों के सहारे। उनके इस उद्यम को देखकर कभी तो दर्शक के हृदय में उनके प्रति अगाध प्रशंसा के भाव

जागृत होते, कभी आँखें भर आती थीं। अपनी इस खेती और बागवानी की उपज वह खुले-हाथों दूसरों को बाँटा भी करते थे।

वह स्वभाव के दानी थे, पर उनके हाथ हमेशा खाली रहे, उनकी देने की तमन्ना पूरी न हुई, दिल की दिल ही में रह गई। ऐसे ही जनों को देखकर शायद उर्दू के किसी शायर ने लिखा था—

कस्साम[१] ने क़िस्मत में मेरी
लिख के गदाई,[२]
फ़र्माया कि दिल इसका
अमीराना बना दो।

उनके इसी खण्डहरवाले मकान के प्रांगण-द्वार से एक बार लक्ष्मी आकर लौट गयी। यह भी एक दर्दनाक क़िस्सा है। उनकी उम्र उस समय ७० से अधिक हो चुकी थी। एक दिन अपने आंगन में वह एक खुरपी के सहारे जमीन गोड़ रहे थे, तब उनकी वह खुरपी एक धातु के घड़े से जाकर टकरायी और टन-सा शब्द हुआ। उनके हृदय-स्पन्दन की गति भी साथ-साथ तेज हो उठी। उन्होंने मिट्टी हटाई तो एक अति-प्राचीन तांबे का घड़ा नजर आया। गेलीलियो को सर्वप्रथम अपने नव-निर्मित प्रेक्षण-यन्त्र से नक्षत्र को देखकर भी वह खुशी न हुई होगी, जो इस वृद्ध पुरुष को इस प्राचीन कलश को देखकर हुई। अवश्य ही सदियों से गड़े हुए इस घट में सोना-चांदी के प्राचीन सिक्के भरे हुए हैं। हृदय में एक गुदगुदी-सी पैदा हुई और आँखों में जल भर आया। 'भगवन्, तुम सचमुच ही दीन-वत्सल हो, तभी तो अपने किसी पूर्वज के रखे हुए इस प्राचीन धन को आज सहसा इस प्रकार मैंने पा लिया।' भर्राये हुए गले से उन्होंने अपने एकमात्र पुत्र, शिवशंकर प्रसाद, को, जो स्वयं वृद्धावस्था के समीप पहुँच चुके थे, पुकारा; पर वह अनुपस्थित थे। कोई उत्तर न मिला। अन्त में स्वयं ही उन्होंने उस घड़े को बाहर निकालने का निश्चय किया। आंगन के किवाड़ लगा डाले और ७५ वर्ष का यह वृद्ध कुदाल लेकर घड़े के आस-पास की मिट्टी हटाने लगा। बरसों—शायद

---

१. कस्साम=विधाता, क़िस्मत लिखनेवाला।
२. गदाई=ग़रीबी, सन्यास।

सदियों—की जमी हुई मिट्टी बड़ी सख्त थी। श्रम से वह पसीने-पसीने हो गये पर उन्होंने हिम्मत न हारी। वह उसे काटते रहे। अन्त में परिश्रम सफल हुआ और काई से परिवेष्ठित वह घड़ा बाहर आया। घड़ा भारी था, मुश्किल से बाहर, सहन पर, लाया जा सका। मुँह एक तश्तरी से बन्द था, वह भी ऐसे सख्त ढंग से कि बड़ी मेहनत और मुशक्कत से वह हटा।

वृद्ध गोपाल जी के उत्साह और उत्सुकता की न पूछिए। उनकी उस वक्त की वह तेजी नौजवानों के भी कान काट रही थी। 'हे नाथ' कहते हुए उन्होंने घड़े के भीतर झाँका और वहीं सिर पर हाथ रखकर बैठ गए। हा हन्त ! घड़े में केवल जल-ही-जल था। अशर्फियों का नामों-निशान नहीं। भाग्य ने धोखा दिया। जी मसोसकर वह रह गये। कहते हैं, द्रौपदी को सर्वप्रथम जब गर्भ रहा तब प्राचीन प्रणाली के अनुसार उसने अपनी सास कुन्ती को जाकर प्रणाम किया। आशीर्वाद देती हुई कुन्ती ने कहा था—

भाग्यवन्तं प्रसूयेतव न च शूराः न च पण्डिताः।
शूराश्च पंडिताश्चैव वने सीदंति मामकाः॥

—भाग्यवान का प्रसव करो, शूरों और पण्डितों को नहीं। मेरे ये पुत्र (पांडव) वीर भी हैं और पण्डित भी हैं, पर भाग्य से हीन होकर वनों में विचर रहे हैं।

बाबू गोपाल जी से सम्बन्धित यह घटना इस कथन का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

अक्सर ऐसे घड़ों में प्राचीन धन ही प्राप्त होते हैं, पर दैव-दुर्विपाक से ग्रस्त इस वृद्ध पुरुष के लिए वह जल-कलश होकर निकला, धन-कलश नहीं। पर इस घटना से बाबू गोपाल जी का न तो ईश्वर-प्रेम ही मलिन हुआ और न पूर्व पुरुषों के प्रति उनकी अगाध भक्ति ही कम हुई। यह भी उनकी ऊँचाई का परिचायक था, और उनके लिए यह एक कड़ी परीक्षा थी, जिसमें वह सोलहों आने सफल हुए।

वह सदा गाँव में रहे, ग्राम्य-जीवन उन्होंने बिताया, नगर-जीवन से कोई सम्बन्ध न रखा। अतएव प्रकृतितः उनका स्वभाव भी एक सच्चे ग्रामीण की भाँति सरल, छल-प्रपंच से रहित बना रहा। उनकी वेशभूषा भी निपट ग्रामीणों-जैसी थी।

ईसा मसीह के शब्दों में ऐसे ही जन स्वर्ग के भागी होते हैं। देहातों में आज भी ऐसे एक नहीं, सैंकड़ों महापुरुष जीवित हैं, जो ढहते हुए मानव चरित्र-सौध के वे स्तम्भ हैं, जिन्होंने उसे अभी तक भूमिसात् होने से रोक रखा है।

करीब ८० साल की उम्र में बाबू गोपाल जी ने इस संसार से बिदा ली, पर गाँव और उसके अड़ोस-पड़ोस और परिचित जनों के बीच वह अपनी सुस्मृति छोड़ गये।

: १२ :

कन्दर्पीघाट की लड़ाई

बिहार का उत्तरी हिस्सा, जिसे उत्तर बिहार कहते हैं, एक ऐसा क्षेत्र है जो पूर्वकाल से विद्या का केन्द्र बना रहा है—जिसे बड़े-बड़े विद्याधारियों को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। राजर्षि जनक और सीता की इस भूमि ने वैदिक और पौराणिक कालों में प्रकांड विद्वानों को तो उत्पन्न किया ही था, पीछे चलकर भी मंडनमिश्र और महारानी लखिमा ठकुराइन-जैसी विभूतियों को पैदा करने का इसे श्रेय है। महारानी लखिमा ठकुराइन के संबंध में कहा जाता है कि वह इतनी विदुषी थीं कि जब एक बार किसी ने स्वरचित रघुवंश की संस्कृत टीका उन्हें दिखलायी तो वह बोल उठीं—"रघुवंशमपि काव्यं, तस्यापि टीका, सापि संस्कृतमयी ?" (क्या रघुवंश भी काव्य है, और उसकी भी टीका की ज़रूरत है, वह भी संस्कृत में ?) इतनी आसान थी उनकी दृष्टि में महाकवि की यह काव्य-कृति !

आज भी मिथिला में बड़े-बड़े विद्वान् मौजूद हैं, पर उनके क़द्रदाँ न रहे !

किन्तु मेरे इस लेख का सम्बन्ध विद्या से नहीं, इस क्षेत्र की शूरवीरता से है। विद्या के साथ-साथ यहाँ वीरता भी प्रसार पाती रही है। वैशाली के वृज्जियों के पराक्रम की कथाएँ इतिहास के पृष्ठों में हैं। उनके बाद भी यह क्षेत्र वीरों से खाली न हुआ; पर अफ़सोस है कि इतिहास में उनका ज़िक्र न आ पाया। दरअसल उत्तर बिहार का गत कई शताब्दियों का इतिहास अलिखित-सा ही रहा है। प्रस्तुत पुस्तक ही में मेरा एक लेख सन् सत्तावन के गदर पर है, उससे ज़ाहिर होगा कि जहाँ दक्षिण बिहार के विप्लव की कथाओं से इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं, उत्तर बिहार में होनेवाली तत्संबंधी घटनाओं की हमारे इतिहासकारों ने चर्चा तक नहीं की है—यदि की भी है तो बड़ी मामूली-सी। कन्दर्पीघाट की लड़ाई भी ऐसी ही एक घटना है

जिसके सम्बन्ध में इतिहास मौन है पर जो इस बात का साक्षी है कि मुसलमानों के शासन-काल में भी यह क्षेत्र वीरों से रिक्त न था।

घटना मुर्शिदाबाद के प्रसिद्ध नवाब अलीवर्दी खाँ के शासन-काल की है। बेतिया के महाराजाओं ने तब तक मुर्शिदाबाद के नवाबों को, और राजाओं की तरह, कर नहीं दिया था—अर्थात्, वे एक स्वतन्त्र शासक की भाँति थे। अलीवर्दी खाँ को यह बात बहुत खटकती थी, अतः अफ़ग़ानों—जिनकी तिर्हुत में एक अच्छी-सी सामन्तशाही क़ायम थी—की मदद से उन्होंने एक बार बेतिया पर चढ़ाई कर दी। महाराज लड़े पर जीत न सके, हार खाकर अलीवर्दी खाँ की मातहत उन्हें कबूल करनी पड़ी। कहते हैं, इस युद्ध में फलस्वरूप लाखों रुपये और जवाहरात आदि अलीवर्दी खाँ के हाथ लगे। 'रियाजुस-सलातीन' का लेखक लिखता है कि अलीवर्दी खाँ के सिपाही इस लूट के माल से मालोमाल हो गये।

बेतिया को पराजित कर अलीवर्दी खाँ ने दरभंगा के महाराजा के खिलाफ़ चढ़ाई करने का निश्चय किया। महाराजा ने कुछ दिनों से कर नहीं दिया था, बहाना काफ़ी था, अतएव उनके विरुद्ध भी उसने युद्ध का एलान कर दिया। १७५० में अलीवर्दी खाँ के आदेश पर पटना के सूबेदार राजा रामनारायण और उनके सहायक भिखारी महथा और सलावत खाँ ने दरभंगा पर आक्रमण किया। तत्कालीन किसी कवि ने इसका वर्णन इन शब्दों में किया है—

रामनारायण भूप ते, कह्यो मुखालिफ़ आय,
हाकिम को मिथिलेश ने, किन्हो अदल उठाय।
सीर करो तिरहुत को, ताके रचो उपाय,
फ़ौजदार महथा भये, संग सलावत राय।
बख्तसिंह कुल-उद्धरन, रोडमल्ल दिलपूर,
चौभानू भानू सुकुल, एक-एक तें सूर।
गाही सब तैनात करि, फ़ौजें पाँच हजार,
दिगसुल सन्मुख जोगिनी, महथा उतरे पार।
सभै पेटि बाहेंग्यो कमर जड़ावा,
पूछे राह में दूर केते भवाड़ा?

खबरदार ने खबर करि, नृप से कह्यो बुझाय,
पाँच हजार सवार लै, महुधा पहुँचे आय।
किल्ला हूँ ते कूँच करि, कर में गह्यो कमान,
महाराज डेरा दियो, हरिना के मैदान।
रामपटी[1] ते कूंच करि, पड़ो अचानक जाय,
तब डंका भूपति सुन्यो, ताजिम पहुँचे आय।

महाराज नरेन्द्रसिंह इस आक्रमण का संवाद पाकर अतिशय भयभीत हुए। उन्हें इस हमले की पहले से कोई खबर न थी। अतएव जब दुश्मन दरवाजे पर आ पहुँचे तो वे 'बे-सरो-सामाँ' की स्थिति में थे। पर वे हताश न हुए। फौरन अपने अन्तरङ्ग मित्र नरहन राज्य के मालिक अजीतनारायणसिंह के पास खबर भेजी कि वह शीघ्रातिशीघ्र आकर उनकी सहायता करें। अजीतनारायणसिंह और उनके पुत्र सर्वजीतसिंह और उमरावसिंह युद्धकुशल थे, सेना लेकर वे तुरन्त नरेन्द्रसिंह की मदद में आ पहुँचे। बालम नदी के तट पर स्थित कन्दर्पीघाट में दोनों फ़ौजों की जमकर लड़ाई हुई। अलीवर्दी खाँ की सेना जान पर खेलकर लड़ी, फिर भी सफल न हो सकी, मैदान छोड़कर भाग खड़ी हुई। युद्ध का वर्णन तत्कालीन एक दूसरे कवि ने इन जोरदार शब्दों में किया है—

ऐसे महाजोर घोर जंग सुलतानी बीच,
झुकत बबरजंग संगर करिन्द्र हैं;
औलिया नवाब नामदार पूछे बार-बार,
ए दोऊ कौन लड़त अरिवारण परिन्द्र हैं।
साहेब सुजान जैनुद्दीन अहमद खाँ,
आगे ह्वै अरज करत कवि सो चन्द्र हैं;
एतो दोनवार केशोसाह को अजीतसाह,
औ ए राघवसिंह के नवल नरिन्द्र हैं।
किलकिलैं जोगिनी बैताल करताल दै-दै,
गहत करवाल कर कालिका सकाति हैं;

१. दरभंगा जिले के मधुबनी सब-डिवीजन का एक गाँव।

भभकि-भभकि उठै लहर लोह लोचन की,
लहरि-लहरि बैरि बधु जहर खोज खाति हैं।
एकै धाय पांव रोप्यो राघव महीप सुत,
'धीर' कवि बाढ़ो रोस जाको रंग राति है;
गाजि रामशेर खाँ को कैसी फौज भागी वैसे,
नाह को निरखि कै नवोढ़ा फिर जाति है।

अलीवर्दी खाँ की सेना को इस युद्ध में बेतरह हार खानी पड़ी, पर वह इस पराजय को भूला नहीं और इस ताक में रहा कि सुअवसर पाकर वह महाराज से इसका बदला ले। नरेन्द्रसिंह के जीवन-काल में उसे यह मौक़ा न मिल सका पर उनके स्वर्गारोहण के बाद उनके उत्तराधिकारी प्रतापसिंह के गद्दी पर बैठते ही, उन्हें कमजोर पाकर, वह पुनः दरभंगा पर आ चढ़ा और उन्हें गद्दी से उतारकर राज्य को हथिया लिया। प्रतापसिंह रानियों को नरहन भेजकर स्वयं बेतिया चले गये। छः महीने तक वह राज्य-च्युत रहे। फिर पं० मुकुन्द झा बख्शी के पूर्वजों द्वारा सुलह कराये जाने पर उन्हें राज्य वापस मिला और वह सपरिवार दरभंगा लौटे।

महाराज जनक और वैशाली गणतंत्र के संबंध में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। अब आवश्यकता इस बात की है कि गुप्तकाल से लेकर सौ साल पहले तक के उत्तर बिहार के इतिहास का निर्माण किया जाए। आशा है, हमारे विज्ञ इतिहासकार इस ओर ध्यान देंगे। यह एक ऐसा समुद्र है जिसमें डुबकियाँ लगाने पर उन्हें अच्छे-से-अच्छे मोती प्राप्त होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

: १३ :

पटना-चित्रशैली

पटना के एक मुशायरा में लखनऊ के किसी शायर का यह कथन कि—

सुना है कि पटने में उल्लू के पट्ठे,
रगे-गुल से बुलबुल का पर बाँधते हैं,

भले ही व्यंग्य-दृष्टि से कहा गया हो, पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यह उन शहरों में है जिनकी अपनी संस्कृति होती है और जो किसी जमाने में अपनी नफ़ासत के लिए हिन्दुस्तान-भर में मशहूर थे। आज भी इस शहर के उजड़े हुए दयार के कई प्राचीन घरानों में इसकी मिसालें आपको देखने को मिलेंगी। मैं उन दिनों की बात नहीं करता, जब पाटलीपुत्र या कुसुमपुर में चन्द्रगुप्त और अशोक-जैसे सम्राट राज्य कर रहे थे, मुसलमानी शासन के दिनों में भी यह शहर धनाढ्य और कलाकारों का केन्द्र था। ब्रिटिश शासन के आरम्भिक दिनों तक भी इसकी यही स्थिति थी। अन्य कलाओं की चर्चा न कर मैं इस लेख में इसकी चित्रकला के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहूँगा।

कांगड़ा और राजस्थान की तरह पटना भी १८वीं शती से लेकर २०वीं शती के शुरू तक चित्रकला का एक केन्द्र बना रहा। यही नहीं, उसकी अपनी एक शैली थी, एक क़लम थी, जिसने कई प्रख्यात चित्रकारों के हाथ में पड़कर अनेक खूबियां प्रदर्शित कीं।

मुग़ल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीला के शासन-काल में नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हुआ। इसने मुग़ल शासन की नींव हिला दी। इसके बाद ही मुग़ल साम्राज्य का टूटना शुरू हो गया। मुग़ल दरबार से पोषित चित्रकार धीरे-धीरे दिल्ली त्यागकर जहाँ-तहाँ चले गए: कुछ राजस्थान को; कुछ पहाड़ों की ओर—कांगड़ा, आदि में; कुछ लखनऊ, दकन, सतारा, को, और वहाँ जाकर उन्होंने स्थानीय राजाओं के संरक्षण में नई शैलियों

का निर्माण किया। ऐसे ही कुछ 'चितेरों' ने मुर्शिदाबाद की राह पकड़ी जहाँ नवाब मुर्शिदाबाद का सितारा देदीप्यमान था और जो जगत्सेठ जैसे साहूकारों की दौलत से भरा-पूरा था। पूर्व-भारत के व्यापार के रगों का नियन्त्रण इनके हाथों में था। जिस राह से भारत का धन क़ाशिम बाजार से चला और हुगली-स्थित विदेशी व्यापारियों के पास पहुँचता था, उसकी कुंजी भी यहीं थी। मुर्शिद क़ुली खां के षड्यन्त्रों के फलस्वरूप बंगाल की राजधानी ढाका से उठकर यहीं आ गई थी। स्वाभाविक था कि दिल्ली छोड़े हुए इन चित्रकारों को यह स्थान आकर्षित करता। सो यहाँ आकर उन्होंने अड्डा जमाया।

नवाब का आश्रय तो उन्हें प्राप्त हुआ ही। वहाँ स्थानीय सेठ-साहूकार और अंग्रेज व्यापारी भी इनसे तस्वीरें बनवाने लगे। इनमें से बहुत से चित्र अब भी विद्यमान हैं, जिनके सम्बन्ध में हैवेल ने अपनी पुस्तक में लिखा है–

"कलकत्ते के उस देशी चित्रकार के घर में ये चित्र पाये गये थे, जिसके पुरखों में से एक, गुलाबलाल, १७१९ में—मुहम्मदशाह के शासन-काल में—मुग़ल दरबार के प्रमुख चित्रकारों में था। मुग़लकालीन छोटे चित्रों की अलौकिक बारीकी यद्यपि इनमें नहीं है, तथापि ये कलापूर्ण हैं और तत्कालीन भारत में निवास करनेवाले अंग्रेजों के जीवन की बड़ी अच्छी झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। सम्भवत: १७८२ में जिस परिवार के चित्रकार बंगाल के नवाब नाजिम के यहाँ काम कर रहे थे, उसी परिवार के किसी 'चितेरे' के बनाए हुए ये चित्र हैं।"

प्राय: तीस वर्षों तक मुर्शिदाबाद इन चित्रकारों का अड्डा बना रहा। धीरे-धीरे इसकी श्री भी हत हो चली। मुहम्मद सादी खाँ उर्फ़ मिरन के उत्पीड़न से लोग व्याकुल हो उठे, फिर अफ़ग़ान और मराठों की लूटपाट ने शहर को उजाड़ दिया। नवाब और कम्पनी के झगड़े बढ़ते गये, नवाब की आय कम होती गयी, शासन-सम्बन्धी अराजकता के कारण मुर्शिदाबाद का व्यापार अध:पतन की ओर अग्रसर हुआ। ऐसी परिस्थिति में कलाकारों को कौन पूछता?

ऐसा अनुमान किया जाता है कि १७५०-६० के बीच मुर्शिदाबाद से चित्रकारों की एक टोली पटना आकर बस गयी। इसके बाद इनकी देखा-

देशी चित्रकारों के और भी कई परिवार यहाँ आकर बसे। गंगा के तट पर बसा हुआ पटना हमेशा से व्यापार का एक केन्द्र रहा है। चीनी, लाह, कपड़े, भूटान-नेपाल की कस्तूरी, बारूद के लिए शोरा और नील का यहाँ से निर्यात हुआ करता था। शायद यही कारण था कि मुर्शिदाबाद के उपर्युक्त चित्रकारों को इसने अपनी ओर आकर्षित किया। अंग्रेज ज्यों-ज्यों मजबूत होते गये, बिहार के लिए पटना उनका सर्वश्रेष्ठ शासन-केन्द्र बनता गया। पटना और बिहार के विभिन्न स्थानों में धीरे-धीरे अंग्रेज आ जमे, इनकी कोठियाँ—खास कर नील, शोरा और अफ़ीम के व्यापार से सम्बन्धित—बन गईं। यहाँ के सामाजिक जीवन, पशु, पक्षी, प्राकृतिक दृश्य, आदि में वे उत्तरोत्तर दिलचस्पी लेने लगे। जो स्वयं खाके खींच सकते थे, पटना के मशहूर कमिश्नर टेलर की तरह, उन्होंने स्वयं चित्र अंकित किए, बाकी ने देशी चित्रकारों से तस्वीरें बनवा-बनवाकर अपने प्रियजनों के पास विलायत भेजीं या अपने स्थानीय निवास-स्थानों में टाँगीं। इस तरह भारतीय वेशभूषा, सामाजिक जीवन, पशु-पक्षी और प्राकृतिक दृश्यों के सैकड़ों चित्र तैयार हो गये, जो आज भी विलायत की चित्रशालाओं और भारत से किसी जमाने में सम्बन्धित अंग्रेज परिवारों के घरों में या इस देश ही के कतिपय चित्र-संग्रहों में उपलब्ध हैं। पटना-क़लम के ऐसे सैकड़ों चित्र पटना-म्यूजियम और शहर के कई प्राचीन घरानों में भी संग्रहीत हैं। इनमें ऐसे भी चित्र हैं जो किसी भारतीय दृश्य या वस्तु के नहीं बल्कि अंग्रेजी परिवारों के व्यक्तियों के हैं। वे कागज, हड्डी और हाथी-दांत पर बने हुए १८वीं या १९वीं शती की उपज हैं।

गरज यह कि ऊपर जिन परिस्थितियों की चर्चा है, उनसे बल पाकर पटना की एक खास शैली पैदा हुई।

अंग्रेजों की फ़रमाइश पर या उनके प्रश्रय में बनाये गये इन चित्रों पर स्वाभाविक था कि अंग्रेजी चित्र-शैली की छाप पड़ती; मुग़ल-शैली तो इनके चित्रांकण की नींव ही थी; अतएव पटना की जिस शैली का ऊपर जिक्र किया गया है वह इन दोनों की सम्मिलित शैली है। पश्चिमी हिमालय के राज्यों में हिन्दू राजाओं के संरक्षण में जिन शैलियों का जन्म और उत्कर्ष हुआ, वे स्वभावतः इस शैली से कोसों दूर पड़ती हैं।

पर चित्रों की माँग केवल अंग्रेजों ही तक सीमित थी, ऐसा समझना

भ्रम होगा। देशी राजे-महाराजे, जमींदार, सेठ-साहूकारों में भी चित्रकारी का काफ़ी शौक था। उनके आदेश पर भी पटना के चित्रकारों ने बहुत से चित्र बनाये थे। दरअसल आरम्भिक दिनों में इनकी सहायता और संरक्षण ही से ये चित्रकार जीवित रह सके। पूर्वोक्त चित्रों में अधिकांशत: उनकी या उनके पूर्वजों की तस्वीरें अथवा पौराणिक चित्र थे—कुछ विवाह, पूजा, आदि के अंकण और कुछ पशु-पक्षियों के खाके। अबरख के पत्तरों पर चित्रांकण की परिपाटी भी चल पड़ी थी। इन पर ये चित्रकार बड़े सुन्दर चित्र बनाया करते थे।

भारतीयों में टिकारी और बेतिया के महाराजा इनके जबर्दस्त पृष्ठ-पोषक थे। टिकारी के किसी पुराने महाराजा का उपहार श्रीमद्भगवद् गीता की एक प्रति नरहन के श्री कामेश्वरनारायणसिंह जी के पास मुझे देखने को मिली, जिसके पृष्ठ सुन्दर चित्रों से सुसज्जित हैं। शायद ये चित्र पटना के किसी प्राचीन चित्रकार की कृति हैं।

१६वीं शती पटना-क़लम या शैली का अभ्युदय-काल माना जा सकता है। इसने अनेक बड़े-बड़े निपुण चित्रकारों को जन्म दिया, जिनमें सबसे पहला नाम सेवकराम का आता है। इनके बनाये हुए कुछ चित्र कलकत्ता आर्ट-स्कूल के भू० पू० उपाध्यक्ष श्री ईश्वरीप्रसाद, जिनके पितामह शिवलाल पटना के मशहूर चित्रकारों में थे, के संग्रह में हैं। ये कजली स्याही से बनाये गये हैं—पेंसिल-स्कैच पर नहीं, बल्कि सीधे कागज पर तूली से अंकित किये गये हैं। रंगों के चुनाव से यह साफ़ परिलक्षित है कि इनके ऊपर अंग्रेजी शैली का काफ़ी प्रभाव था।

सेवकराम के बाद हुलासलाल का नाम आता है। इनके पूर्वज काशी से आये थे, जहाँ उन्हें काशीराज का संरक्षण प्राप्त था। इनके चित्र भी कजली स्याही में हैं। इन्होंने युरोपियन स्त्री, पुरुष, बच्चों के अनेक व्यक्तिगत चित्र अंकित किये थे।

इनके बाद जयरामदास, झूमकलाल, फ़क़ीरचन्दलाल, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय के—१८३० से १८५० के बीच के—बने हुए अनेक फ़िरका-चित्र या हाथीदाँत पर बनी हुई तस्वीरें पायी जाती हैं। चित्रों में अनेक ऐसे हैं, जो होली, दीवाली, संगीत-समारोह, पियक्कड़ों की मज-

लिस, आदि को प्रदर्शित करते हैं। हाथीदाँत पर बनी हुई बेगम-भाव की तस्वीर बड़ी सुन्दर है।

१८५० से १८८० के बीच के चित्रकारों में शिवलाल और शिवदयाललाल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसमें शक नहीं कि ये दोनों ही बड़े कुशल चित्रकार थे—इनकी क़लम में खूबसूरती थी, ज़ोर था। शिवलाल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह पटना शहर से बाँकीपुर पालकी पर जाते थे और वहीं बैठकर घण्टे-भर में चित्र तैयार कर देते थे। इसके लिए उनकी फ़ीस दो अशर्फ़ियाँ थी। इन दोनों के चित्रों में स्वाभाविकता पूर्णरूप से भरी है। पटना के भू० पू० बैरिस्टर, श्री मानुक, के पास इनके चित्रों का एक सुन्दर संग्रह था। अफ़सोस कि श्रीमानुक के संग्रह किये हुए सारे चित्र, जो इस देश की अमूल्य निधि थे, देश से बाहर चले गये। भारत छोड़ने के पहले उन्होंने इन्हें बेचना चाहा, यहाँ के कई धनी-मानी व्यक्तियों के पास 'आफ़र' भेजे, पर कोई उन्हें खरीदने को तैयार न हुआ और अन्त में वे किसी अमरीकन के हाथों बिक गये।

उन दिनों पटना का एक कमिश्नर था—टेलर, जिसका नाम ग़दर के सिलसिले में प्रमुख रूप से आता है। वह स्वयं चित्रकार था। उसके चित्रों में पटना-क़लम की पूरी छाप है।

शिवलाल और शिवदयाललाल के कारण पटना-चित्रकला को बड़ा बल मिला, दर्जनों चित्रकारों को उन्होंने पैदा किया। फिरका[1] चित्रों की एक बाढ़-सी आ गयी। गोपाललाल, गुरुसहायलाल, बाणीलाल, बहादुरलाल, कन्हाईलाल, जयगोविन्दलाल, आदि दर्जनों छोटे-बड़े चित्रकारों ने पटना-शैली को आगे बढ़ाया। इनमें से अधिकांश चित्रकारों की शिक्षा शिवलाल की चित्र-निर्माण-शाला में हुई थी।

१८८० में शिवदयाललाल की, और इसके सात साल के बाद शिवलाल की मृत्यु हुई। इनके बाद कोई ऐसा चतुर चितेरा पैदा न हुआ, जिसकी यहाँ चर्चा की जाए, पर पटना-क़लम जिन्दा रही।

---

१. चित्रों का सेट जो भारतीय वेश-भूषा, रहन-सहन, पेशे को प्रदर्शित करता था।

वर्तमान काल में भी पटना को एक कुशल चित्रकार को जन्म देने का गौरव प्राप्त हुआ। वह थे उपर्युक्त शिवलाल की पुत्री सोनाकुमारी के पुत्र श्री ईश्वरीप्रसाद जो १६०४ में कलकत्ते के सरकारी आर्ट स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए और पीछे चलकर उपाध्यक्ष के पद को भी जिन्होंने सुशोभित किया। इन पंक्तियों के लेखक को उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जीवन के पिछले दिनों में उन्होंने पटना-क़लम के पुनरुत्थान के यत्न किए, पर इसके बावजूद भी उनके स्वर्गारोहण के साथ-साथ पटना-शैली की एक प्रकार से समाप्ति हो गई।

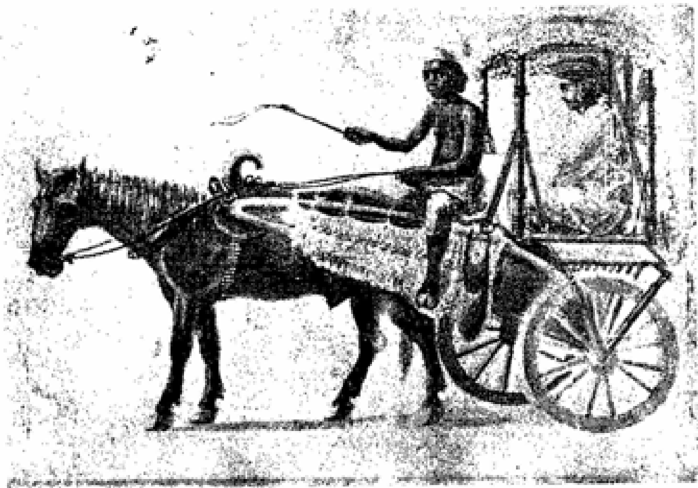
पटना के चित्रकारों की एक विशेषता थी जो मुग़ल, राजस्थानी अथवा पहाड़ी चित्रकारों में नहीं पायी जाती है। वह यह थी कि जहाँ औरों ने राजाओं या पौराणिक आख्यानों के चित्रांकण ही में अपना सारा जीवन व्यतीत किया, पटना के चित्रकारों ने देश की सर्वसाधारण जनता को अपनाया और उनके वास्तविक जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत कीं। यही नहीं, उन्होंने श्रमिकों की क़ीमत समझी, उन्हें आदर की दृष्टि से देखा और अपने चित्रों में उन्हें भी स्थान दिया। 'मछली बेचनेवाली', 'टोकरी बनानेवाला', 'चक्की चलानेवाली', 'लुहार', 'नौकरानी', 'दर्ज़ी', 'चर्खा चलानेवाली', आदि चित्र इसके दृष्टान्त हैं।

पशुओं में जहाँ हाथी और घोड़े अंकित किए, वहाँ निम्न श्रेणी के जानवर और सवारियों को भी वे नहीं भूले। वाणीलाल ने गधे का एक सुन्दर चित्र खींचा—किसी अज्ञात चितेरे ने १८१० के लगभग एक बैलगाड़ी का, और सेवकराम ने (१७७०-१८३०) इक्के का।

इक्के की चर्चा पर मुझे स्वर्गीय श्री पारसनाथसिंह की ये पंक्तियाँ याद आती हैं—

सोने के सर पर बैठेगा यह चांदी का सिक्का,
मोटर को भी मात करेगा अब पटने का इक्का।

दरअसल पटना की विशेषता है यह 'पटनिया इक्का,' जिसका बड़ा ही सुन्दर चित्र प्रसिद्ध चित्रकार सेवकराम की तूली ने १८वीं शती में अंकित किया था। और इस प्रकार जन-जीवन के प्रति अपनी सहानुभूति



पटनिया इक्का (पटना चित्रशैली)



चूड़ी बेचनेवाली (पटना चित्रशैली)

और आदर के भाव प्रकट किए थे। इक्का इसका प्रतीक आसानी से माना जा सकता है।

पटना आज भी 'चितेरों' से खाली नहीं है। क्या हम उनके द्वारा पटना-क़लम के पुनर्जीवन की आशा कर सकते हैं ?

: १४ :

प्राचीन यूरोपीय चित्रकला पर एक विहंगम दृष्टि

चित्रकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है; पर इसका आरम्भ कब और कैसे हुआ, यह कहना कठिन ही नहीं, असम्भव है। संसार के अनेक प्राचीन-ग्रंथों में इसका उल्लेख अवश्य है, पर इसकी जन्म-कथा का अब तक कोई पता न मिल सका है—घने अन्धकार में वह अब भी ढकी है। भारतवर्ष के प्राचीन ग्रंथों से यह जाहिर होता है कि इस देश में यह कला पौराणिक काल के पूर्व काफ़ी उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थी, ऋग्वेद में इसकी चर्चा है और विष्णुधर्मोत्तरपुराण के एक खण्ड का इससे सम्बन्धित होना इस बात का साक्षी है; पर खेद है कि बौद्धकाल के पूर्व का बना हुआ कोई चित्र आज उपलब्ध नहीं है। अन्य देशों में कितने ही ऐसे चित्र पाये गये हैं, जिनका निर्माण-काल आज से प्राय: १०-१२ हजार बरस पहले बताया जाता है। ऐसे कुछ चित्रों का गत १९वीं सदी के अन्त में एक रोचक ढंग से अकस्मात् स्पेन की एक छोटी-सी लड़की द्वारा पता चला। लड़की उत्तर-स्पेन के सन्तवोला नामक मानव-शरीर-रचना-विज्ञान में दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्ति की पुत्री थी। सन्तवोला बहुधा आस-पास के जंगलों में प्राचीन मानव-हड्डियों की तलाश में विचरा करता था। लड़की भी पिता के साथ-साथ विचरती थी।

एक दिन अलतमीरा नामक स्थान के वन में वे घूम रहे थे। उसी समय एक शिकारी लोमड़ी का पीछा करता हुआ वहाँ आ पहुँचा। लोमड़ी दौड़ती हुई एक भग्न गुफ़ा के भीतर घुस गयी और उसके पीछे उसका पीछा करता हुआ शिकारी का कुत्ता भी। शिकारी ने भी अपने कुत्ते का अनुसरण किया। तीनों गुफ़ा के भीतर दाखिल हुए। सन्तवोला ने भी यह सोचकर कि शायद गुफ़ा के अन्दर प्राचीन औजार अथवा टूटे-फूटे घड़ों के टुकड़े मिल जाएँ, जिनसे प्रागैतिहासिक मनुष्य-संबंधी बातों का ज्ञान प्राप्त हो, कुतूहल-वश उनका पीछा किया, साथ-साथ उसकी लड़की भी गुफ़ा में घुसी।

सभी गुफ़ा के भीतर थे। वह लड़की, जो औरों से कुछ आगे बढ़ गयी थी, अचानक चिल्ला उठी—"बैल ! बैल !"

सन्तवोला ने तेज़ी से लड़की के समीप जाकर रोशनी (टार्चलाइट) जलाई और गुफ़ा की छत पर दृष्टि डाली। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि तमाम छत में चित्र बने हुए हैं। ये सभी भीत्ति-चित्र थे या जानवरों के—जंगली सांड़ों, बारहसिंगों, भेड़ियों, घोड़ों और वन-शूकरों के।

सन्तवोला ने फ़ौरन इन पर एक लेख लिखा, जिसके प्रकाशित होते ही पश्चिमीय संसार में एक तहलका-सा मच गया। कुछ लोगों ने शंका प्रकट की और यहाँ तक कह डाला कि सन्तवोला ने किसी चितेरे से ये चित्र बनवाये हैं; ये झूठे हैं, अविश्वसनीय हैं। चित्र कुछ ऐसे सुडौल और हू-ब-हू सूरत-शक्ल के थे कि उन पर अविश्वास करना असंगत न था। पर कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने सहसा उन पर अविश्वास कर उन्हें त्याग देना उचित न समझा, विशेष रूप से उनके अनुसन्धान की सलाह दी। कइयों को यह राय युक्तिसंगत प्रतीत हुई। फिर तो सारे दक्षिण यूरोप में तीव्र गति से इसकी छानबीन शुरू हो गयी; गुफ़ाओं की तलाश होने लगी और उनके भीतर चित्र ढूंढे जाने लगे। परिणाम अच्छा हुआ और बहुत-सी दूसरी गुफ़ाओं में भी अलतमीरा की पूर्वोक्त गुफ़ा के सदृश्य भीत्ति-चित्र निकल आये। पर ये सभी चित्र उन जानवरों के थे, जो जंगली और शिकार से सम्बन्ध रखनेवाले थे। चित्र सुरक्षित हैं। वे इतने अच्छे ढंग से बनाये गये हैं कि यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि उनके बनानेवाले अत्यन्त निपुण चित्रकार थे। जानवरों के शरीर की बनावट में कहीं भी कोई ग़लती नहीं की गयी है, आकार और माप दोनों ही में निपुणता का प्रदर्शन है। इस प्रकार के प्रायः सौ चित्र आज उपलब्ध हैं, जो उपर्युक्त अन्वेषण के परिणामस्वरूप प्राप्त हुए हैं।

चित्रकारी के औज़ार भी प्राप्त हुए हैं, जिनसे पता चलता है कि वे लोग तश्तरी का काम चौड़े पत्थर अथवा चौड़ी हड्डी से लेते थे, रंग को पशुओं की चर्बी में मिलाकर व्यवहार में लाते और पशुओं के बाल तूली का काम देते थे। कई गुफ़ाओं में मिट्टी के पिण्ड भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें कतिपय ऐसे

हैं जिन पर चित्रकार के पद-चिह्न अंकित हैं। इन सारी चीजों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये चित्र गुफावासी मानव की कृति हैं और उनके चित्रकला-नैपुण्य के प्रबल परिचायक हैं। साथ ही इनसे यह भी जाहिर होता है कि ये मानव वनों में रहते हुए भी कला के प्रेमी थे—कलाविद् थे।

विशेषज्ञों का मत है कि पूर्वोक्त चित्र प्रायः १२,००० वर्ष पूर्व के बनाये गये थे।

इनके बाद, आज से प्रायः १५ वर्ष पहले, एक और भी विलक्षण गुफा का पता, पुनः एक कुत्ते के कारण ही से, लगा था। फ्रांस के लास्को नामक स्थान में जमीन के एक गड्ढे में एक कुत्ता गिर पड़ा। साथ के लड़के उसे निकालने के उद्देश्य से अन्दर घुसे और इस अद्भुत गुफा को प्रकाश में लाने के कारण हुए। यह एक ऐसी गुफा का द्वार था, जिसके भीतर बड़ी सुन्दर चित्रावली थी।

अलतमीरा की गुफा के चित्रों से इसमें कई अन्तर पाये गये। सर्वप्रथम इसके चित्र, छत ही नहीं बल्कि दीवारों पर बने हुए, सुन्दर हैं और कद में कहीं बड़े हैं। दूसरा जबर्दस्त फ़र्क यह है कि ये केवल जानवरों ही के चित्र नहीं हैं, इनमें मनुष्यों के चित्र भी अंकित हैं। संसार के बड़े-बड़े विशेषज्ञों ने इनका निरीक्षण किया है, और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये चित्र अलतमीरा से भी कई हजार वर्ष पूर्व के हैं।

इसके बाद का इतिहास एक घने अन्धकार में पड़ जाता है। हमें अब तक कोई ऐसे साधन नहीं प्राप्त हुए, जिनके सहारे चित्रकला की आगे की प्रगति का ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

पूर्वोक्त चित्रशैली के बाद की जो शैलियाँ हमें मिलती हैं, वे मिस्र और मेसोपोटामिया की हैं। उक्त दोनों शैलियों के बीच प्रायः ७००० बरस की खाई पायी जाती है। उपलब्ध चित्रों से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के जीवन में इस समय तक काफ़ी परिवर्तन हो चुका था। मनुष्य का बनजारा-जीवन समाप्त हो गया था; शिकार के स्थान पर उसने कृषि-कार्य द्वारा जीवन-निर्वाह करना सीख लिया था, घरों में रहना सीखा था, और राजा, पुरोहित, चिकित्सक, डाइन, आदि के जन्म हो चुके थे।

मिस्र की चित्रकला अधिकतर मृत-व्यक्तियों के चित्रण से सम्बन्ध

रखती है। तत्कालीन शासकों की, जो फ़ेयरों की संज्ञा से ज्ञापित थे, क़ब्रों की दीवारों पर उनके सारे इतिहास चित्रित पाये जाते हैं। सन् १७९९ ई० में नेपोलियन मिश्र की राह से सीरिया जा रहा था। तब उसके एक इंजीनियर ने रोसेटा नामक शहर में एक पत्थर पाया, जिस पर प्राचीन चित्र-लेखन-कला के द्वारा मिश्र के प्रसिद्ध शासक पंचम टालमी की राजगद्दी के अवसर पर वहाँ के पुरोहितों की सभा ने एक धार्मिक घोषणा अंकित की थी। यह पत्थर आज ब्रिटिश म्युज़ियम में मिश्र की चित्रकला का अत्युत्तम नमूना है। साथ ही, इसकी प्राप्ति ने इस कला के द्वारा प्राचीन मिस्र-सम्बन्धी ऐतिहासिक अन्वेषण का एक महत्त्वपूर्ण द्वार खोल दिया, जो इतिहास-जगत् के लिए एक बड़ी कीमती चीज साबित हुई। इसके बाद इस प्रकार के अनेक चित्रांकित पत्थर और लम्बे कागज़ पाये गये, जिनके साहाय्य से मिश्र के प्राचीन इतिहास को क्रम-बद्ध करने में बड़ी सुविधा हुई। इतिहासज्ञों ने कला की दृष्टि से प्राचीन मिश्र को चार भागों में बाँटा है—३,००० ई० पू० से ईसा के बाद की ई० पू० २०वीं सदी तक—जिनमें शुरू के तीन युग कला की दृष्टि से स्वर्ण-युग थे, चौथा ह्रास का युग था।

मिश्र की तरह मैसोपोटामिया में भी चित्रकला की काफ़ी उन्नति हुई—ईसा से प्रायः २,००० वर्ष पूर्व। इन चित्रों से यह साफ़ परिलक्षित होता है कि वहाँ की सभ्यता मिश्र की सभ्यता से किसी क़दर कम उन्नत न थी। चित्रों में सर्वप्रथम प्राकृतिक दृश्यों का अंकन पाया जाता है, जो मिश्र की कला में अनुपस्थित है। मैसोपोटामिया में सुमेरिया की चित्रकला ने आगे चलकर फ़ारस की कला को काफ़ी परिमाण में प्रभावित किया।

महाकवि होमर ने ट्राय के युद्ध का वर्णन कर इस नगर को अमर कर दिया है। ट्राय की परम सुन्दरी नारी हेलेन के लिए, जो सुन्दरता में स्वर्ग की अप्सराओं को भी मात करती थी, यह युद्ध हुआ था। साधारणतः यह ख्याल था कि यह कथा वास्तविक नहीं, काल्पनिक है; पर गत शताब्दी के अन्त में जर्मनी के एक हेनरी कीस्लमन नामक व्यक्ति ने होमर के उक्त अमर काव्य में उल्लिखित इस नगर का पता लगा लिया। एशिया माइनर में दर्रे दनियाल के क़रीब उसके प्रयत्नों से कई गड़े हुए शहर पाये गये, जिससे यह मालूम पड़ा कि होमर ने जिन एक सौ नगरों का उल्लेख किया है वे सच-

मुच थे; और हेलेन की कथा, जिसके सौन्दर्य के कारण हजारों जल-पोत अग्निसात् हुए और इलियम जैसा नगर जलकर खाक हो गया, काल्पनिक नहीं बल्कि वास्तविक घटनाएँ हैं। ट्राय में खुदाई जारी रही और सन् १९०० ई० में सर आर्थर इवान्स ने जमीन के अन्दर एक ऐसे राजप्रासाद का पता लगाया जिसकी दीवारें चित्रों से भरी हैं। इन चित्रों में सर्वोत्तम चित्र वह है जिसमें एक राजा जुलूस का नेतृत्व कर रहा है और उसके पीछे सुन्दरता से ओत-प्रोत युवक और युवतियाँ चल रही हैं। राजा और इन युवक-युवतियों की पोशाकें अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक हैं।

उक्त तीन मंजिल के राजभवन में तरह-तरह के सामान ज्यों-की-त्यों अवस्था में पाये गये हैं—शराब से भरे हुए विशालकाय घड़े, मुद्रा, जल-कलश, रमणियों की श्रृंगार-सामग्री, आदि। लक्षणों से प्रतीत होता है कि यह विशाल राजप्रासाद, जो एक छोटे-से शहर के समान है, किसी वक्त आग से जल गया था या जलाया गया था, जो होमर की उपर्युक्त कृति में उल्लिखित घटना का समर्थन करता है। विशेषज्ञों का कहना है कि ये चीजें ई० पू० ३००० से लेकर १०,००० ई० पू० के बीच की हैं। इन प्रासादों के भीतर की वस्तुओं से ज्ञात होता है कि इनमें रहनेवाले सौन्दर्योपासक और रसिक तो थे ही, वे कला के भी उपासक थे। चीजों की बारीकी और दीवार के चित्र इसकी गवाही देते हैं।

क्रीट की पराजय के बाद, प्राचीन ग्रीस-यूनान के उस स्वर्णयुग का आरम्भ हुआ जिसकी देन संसार की अमूल्य निधि है। कला और साहित्य, दोनों ही दृष्टियों से यह युग बड़े महत्त्व का था।

यूनान में उन दिनों कोई एक शासन न था। देश अनेक नगर-राज्यों में बंटा हुआ था, पर सभी उत्कर्षावस्था में थे। इनमें एथेन्स का स्थान इतिहास-पृष्ठों में सबसे ऊँचा माना जाता है। यह सही है कि प्राचीन भारतवर्ष की भाँति इनमें एकता न थी; एक दूसरे से हमेशा लड़ा करते थे, पर सांस्कृतिक मामलों में ये अद्भुत एकता का परिचय देते थे। इसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण ओलम्पिक खेल हैं। प्रति चार वर्षों पर यूनान-भर के खिलाड़ी एक स्थान पर एकत्रित होते थे और विभिन्न खेलों की प्रतियोगिताओं में भाग लिया करते थे। जब तक ये खेल होते थे, तब तक सारे झगड़े स्थगित रहते थे,

उतने दिनों तक वे विलक्षण पारस्परिक सौहार्द के दृश्य उपस्थित करते थे।

इन खेलों में शामिल होना और समान देवताओं की उपासना, राजनीतिक फूट के बावजूद भी, उनकी सांस्कृतिक एकता के जबर्दस्त कारण थे। यही वजह है कि यूनान के सभी छोटे-बड़े राज्यों में समान रूप से साहित्य और कला का उत्कर्ष हुआ। ओलम्पिक खेलों के कारण शारीरिक सौन्दर्य और अंग-प्रत्यंग की सुघड़ता की ओर इन प्राचीन यूनान-निवासियों का ध्यान अधिक रूप से आकर्षित हुआ। खेल में भाग लेनेवाले अपने अंगों को पोशाक से नहीं ढकते थे, अतएव उनके शरीरों का निखरा हुआ सौंदर्य दर्शकों और विचारकों की प्रशंसा का भाजन बनता था। अंग-सौष्ठव के लिए प्रतियोगियों को खास तौर पर पुरस्कार भी दिये जाते थे। स्वभावतः मूर्तिकला और चित्रकला के उपासकों का ध्यान शरीर के गठीलेपन और सौन्दर्य की ओर विशेष रूप से गया। फलतः तत्कालीन यूनान ने मूर्तिकला को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया, उसे ऊपर उठाया। पोलीक्लिटस, माइनर और मूर्तिकला के महान् आचार्य फिडियस जैसे प्रतिमा-निर्माणक—संगतराश—को जन्म दिया। फिडियस का जन्म ई० पू० ४६८ में और मृत्यु ४३२ में हुई। यूनानी मूर्तिकला को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने का श्रेय उसे प्राप्त है। माइकेल एन्जेलो जैसे कलाविदों ने उसी के पद-चिह्नों पर चलकर ख्याति प्राप्त की।

यूनानी मूर्तिकला ने केवल यूनान ही में नहीं, और देशों में भी प्रसार पाया। रोम ने जब यूनान पर विजय प्राप्त की तब उसका केन्द्र यूनान से हटकर रोम चला गया। यूनानी संगतराश अपने रोमन मालिकों के प्रासादों, बागों और सार्वजनिक उद्यानों को अपनी कृतियों से सजाने लगे। रोमन मूर्तिकला और चित्रकला का आधार-स्तम्भ यूनान ही की कला थी। रोम-निवासी सुन्दर मकान, बाग-बगीचे, आदि के बड़े प्रेमी थे। उनमें अपने घरों को खूबसूरत मूर्तियों और चित्रों से विभूषित करने की रुचि थी। स्वभावतः यूनान की ये कलाएँ वहाँ खूब फैलीं।

पर इटली में एक दूसरी कला ईसा से पूर्व की १३वीं सदी से चली आती थी, जो काफ़ी तौर से उन्नत थी। उसका नाम था—इट्रस्कन कला। इतिहासकारों को अब तक यह पता न चल सका कि इस जाति के लोग कब

और कैसे यहाँ आकर बसे। कइयों का यह मत है कि ये एशिया माइनर से आये थे, पर इसमें शक नहीं कि ये पूर्णतः कलाविद् थे। रोमन कलाओं पर इन्होंने भी काफ़ी प्रभाव डाला। रोमन विजेता जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ वे अपनी कलाओं और क़ानून, आदि के प्रभाव छोड़ते आये; और इस प्रकार रोम के द्वारा प्रसारित प्राचीन यूनानी कलाओं ने यूरोप के बहुतेरे देशों को प्रभावित किया।

रोमन साम्राज्य का ईसाई-संसार के साथ आदि-सम्बन्ध संघर्ष के रूप में हुआ। रोमनवालों द्वारा कुस्तुनतुनिया का जलाया जाना इतिहास की एक अति-विख्यात घटना है। हजारों ईसाइयों ने इस संघर्ष में अपने प्राण दिये, पर अपने प्रभाव से उन्हें—रोमनों को—अछूता न रहने दिया। ईसाई गिरजाघरों में भीत्ति-चित्रकारी और पच्चीकारी के कामों का जो निपुण प्रदर्शन था, उसने रोमन कलाकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इनसे वे काफ़ी प्रभावित हुए। बेजन्टाइन उन दिनों पच्चीकारी के लिए मशहूर था। आज भी जो प्राचीन गिरजाघर शेष बचे हुए हैं, वे इस उन्नत कला की अद्‌भुत् सुन्दरता के प्रमाण हैं। उदाहरणार्थ, रभेना का गिरजाघर जिसमें सम्राट् जस्टीनियन-सम्बन्धी एक अत्यन्त सुन्दर चित्र निर्मित है, उपर्युक्त कला के नैपुण्य का जबर्दस्त परिचायक है। सम्राट् जस्टीनियन ने थियोडोरा नाम की एक गणिका से विवाह कर उसे सम्राज्ञी बनाया था। इस चर्च की भीत पर एक ओर सम्राज्ञी थियोडोरा अपनी सहेलियों के संग, नाना रत्नों से विभूषित, चर्च के लिए अपने उपहार लाती हुई दिखलाई पड़ती है, दूसरी ओर सम्राट् भी उसी मुद्रा में। काम की बारीक़ी बेजन्टाइन की इस कला की उन्नतावस्था और सुन्दरता की गवाही देती है।

ईसाई चर्चों की संरक्षता में चित्रकला ने काफ़ी प्रसार पाया। आगे चलकर ईसाई धर्म के ग्रन्थ महात्मा ईसा से सम्बन्धित चित्रों से भी विभूषित होने लगे, पर इस्लाम इसके विरुद्ध था। जब ईसाई मत और इस्लाम सम्पर्क में आये तब इसको लेकर काफ़ी झगड़ा चला। मुहम्मद साहब ने मूर्ति-पूजा के खिलाफ़ आवाज उठायी थी और किसी प्रकार की मूर्ति के चित्रण अथवा अंकण का विरोध उन्होंने किया था। अतएव जब इस्लाम ने ईसाई चर्चों में भीतांकित मूर्तियों को देखा तब उन्होंने सिर्फ़ उसका घोर

विरोध ही नहीं किया बल्कि उसे मिटाने की भरपूर चेष्टा भी की। इस तरह अनेक प्राचीन भित्ति-चित्र और पच्चीकारी के काम के अमूल्य नमूने ध्वंस हो गये।

इसीलिए इस्लामी दुनिया के आरम्भिक युग में केवल फूल-पत्ती, आदि के अंकण का प्रसार हुआ, रूपों का नहीं। आगे चलकर जब उनका सम्पर्क फ़ारस के साथ हुआ तब उनकी मनोवृत्ति में काफ़ी परिवर्तन हुआ और उन्होंने रूपों के चित्र बनाना अंगीकार किया, पर तब भी उनके चित्रों में कहीं भी हजरत मुहम्मद या उनकी जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का अंकण नहीं हुआ। आज तक भी इस्लाम धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले चित्रों का मुसलमान कलाकारों ने कहीं चित्रण नहीं किया है और न संगतराशों ने मूर्तियाँ गढ़ी हैं।

पर ये सारी बातें प्राचीन मूर्तिकला और चित्रकला से सम्बन्ध रखती हैं। आधुनिक यूरोपीय चित्रकला का जन्म फ्लोरेन्स में हुआ। इसका जन्मदाता गियोटो इटली के एक गडरिये का पुत्र था, जिसने चित्रकला में एक क्रान्ति पैदा की—उसने कला में वास्तविकता का समावेश किया। गियोटो एक साधारण, अर्ध-शिक्षित, ग्रामीण लड़का था, जो स्लेटों पर अपने पिता की भेड़ों का चित्रांकण किया करता था। एक दिन सिमाबू नामक निपुण चित्रकार ने उसे स्लेट पर चित्र खींचते देखा और उसकी चित्रकारी से दंग रह गया। तुरन्त ही उसने उसके पिता से इसकी चर्चा की और अपने संग उसे फ्लोरेन्स ले जाने की अनुमति प्राप्त कर ली। गियोटो उसके साथ फ्लोरेन्स गया। वह सहकारी के रूप में असीसी के गिरजाघर में चित्रांकण करने लगा। उसके अंकित चित्रों ने स्वयं सिमाबू तक को आश्चर्यचकित कर दिया। 'होनहार बिरवान के होत चिकने पात।' कुछ ही दिनों में गियोटो एक सिद्धहस्त कलाकार के रूप में प्रकट हुआ। दिग्दिगन्त में उसकी कीर्ति-कौमुदी विस्तारित हो चली। इटली के अनेक प्रसिद्धि-प्राप्त व्यक्तियों से उसकी घनिष्ठता हो गयी। सन् १३०६ में दान्ते उसके साथ पदुआ में आकर ठहरा और पेट्रार्क उसके निकट मित्रों में से था।

गियोटो के पूर्वकालीन चित्रकार अपनी भावनाओं के अनुसार चित्र

गढ़ते थे। उनके चित्रों में सजावट अधिक होती थी; वास्तविकता का इनमें स्थान न था। गियोटो अपने चित्रों में यथार्थता पर अधिक ध्यान देने लगा। मनुष्य के साथ-साथ प्राकृतिक दृश्यों, फूलों और पक्षियों को भी चित्रों में स्थान उसने दिया। उसने चित्रों की पुरानी परम्परा बिलकुल ही बदल डाली। इटली के विख्यात कवि बोकैचियो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'डैकामेरन' में लिखा है—

"गियोटो में ऐसी अपूर्व कल्पना-शक्ति और बुद्धि थी कि प्रकृति में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं थी जिसे उसने हू-ब-हू अंकित नहीं किया हो; ऐसा प्रतीत होता था मानो उसके चित्र चित्र नहीं, स्वयं वस्तु ही हो।"

फ्लोरेन्स (इटली) के महान् चित्रकारों में गियोटो प्रथम था। उसके बाद एण्ड्रिया, कगना, आदि अनेक चित्रकारों ने इस कला को आगे बढ़ाया। १५वीं सदी में जिस वास्तविकतात्मक शैली को गियोटो ने जन्म दिया, उसकी आगे चलकर दो धाराएँ हो गयीं—एक भावमूलक, दूसरी स्थूलमूलक। एक में हृदय की भावनाओं के चित्रांकण की प्रधानता थी; दूसरी में अंकण की विशुद्धता पर अधिक जोर था। दूसरी धारा अथवा शैली के पृष्ठ-पोषकों के लिए शरीर-रचना-शास्त्र का अध्ययन महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने मनुष्य के नग्न शरीर का चित्रांकण विशेष रूप से किया और इसमें यथेष्ट सफलता भी प्राप्त की। मानव-शरीर का बड़ा ही सुन्दर और विशुद्ध अंकण उनके द्वारा हुआ है।

गियोटो के उत्तराधिकारियों में, जिन्होंने चित्रकला में सबसे अधिक कुशलता का परिचय दिया, एक था फ्रा एँजैलिको (१३८७-१४५५) और उसका प्रसिद्ध अनुयायी फ्रा फिलिपो लिप्पी। इनके कई चित्र वास्तव में चित्रकला की विभूति हैं, काल्पनिक रहस्यवाद के अद्भुत नमूने हैं।

चित्रकला का सूर्य फ्लोरेन्स में काफ़ी दिनों तक देदीप्यमान रहकर मलिन हो चला। इसी बीच गाथ-आकृति की, नुकीली मेहराबवाली, एक शैली ने प्रधानता पायी, जिसे 'गाथिक' शैली के नाम से पुकारते हैं। इसकी प्रधानता मूर्ति-रचना में रही, पर चित्रकला पर भी इसका प्रभाव यथेष्ट परिमाण में पड़ा। उत्तर-फ्रांस, फ्लैण्डर्स और इंगलैंड—ये तीन देश इस शैली से विशेष रूप से प्रभावित हुए।

चित्रकला के इतिहास में दो नाम बड़े ही महत्त्व के हैं—ह्यूबर्ट और जान वान आइक। ये दोनों सहोदर भ्राता थे, और ये तैल-चित्रांकण-विधि के आविष्कर्ता। इन्होंने एक प्रकार से इस आविष्कार द्वारा इस कला में इन्क़लाब ला दिया—क्रान्ति पैदा कर दी। कहते हैं, एक बार जॉन ने जल-माध्यम से एक चित्र रंगकर धूप में सूखने रख दिया। धूप कड़ी थी, फलतः काठ के जिस तख्ते पर वह चित्र अंकित था, उसके दो टुकड़े हो गये। स्वांकित चित्र को इस प्रकार नष्ट होते देखकर उसका चित्त दुःखी हो उठा। वह एक ऐसे माध्यम के अनुसन्धान में लग गया, जिसके द्वारा अंकित चित्र जल्द-से-जल्द सूख जाएँ और अन्त में उसने तीसी के तल को इस काम के लिए सबसे उपयुक्त पाया। तैल चित्रण-प्रणाली का यही आरम्भ था।

इटली के चित्रकारों के चित्र अधिकतर धार्मिक थे, पर फ्लैण्डर्स के चित्रकारों ने सांसारिक—लौकिक—कथानकों, विषयों के चित्रांकण की ओर भी क़दम उठाया और क्रमशः फ्लैण्डर्स और हॉलैण्ड इस श्रेणी के चित्रों के घर बन गये। हान्स मैमलिक और मैसिस फ्लेमिस के बाद फ्लैण्डर्स की चित्रकला का ह्रास-सा हो चला। बाद के चित्रकारों ने इटालियन चित्रकारों की नक़ल करनी शुरू कर दी, अपनी मौलिकता खो डाली। प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक यही दशा रही। अन्त में रूबेन्स नामक एक निपुण चित्रकार ने अपने देश की इस गिरी हुई दशा को सुधारा—फ्लेमिस चित्रशैली को पुनः उन्नतावस्था का पद प्रदान किया। उसके चित्रों में फल-फूल, तितलियाँ आदि प्राकृतिक वस्तुओं का प्राधान्य था।

उन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हुई, जिसने फ्लैण्डर्स के नेतृत्व को काफ़ी धक्का पहुँचाया। एण्टोनेलो नामक एक चित्रकार ने वहाँ जाकर तैल-माध्यम के तरीक़े का पता लगाया और वेनिस आकर इस प्रक्रिया का प्रचार करना शुरू कर दिया। कुछ ही दिनों में इटली के विभिन्न स्थानों में इसका उपयोग होने लगा और कला का केन्द्र अब फ्लैण्डर्स से इटली चला गया। फिर तो लियनार्डो द विंची, माइकेल एन्जैलो तथा राफेल—इन तीन महान् कलाकारों के कारण वह उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गयी।

लियनार्डो द विंची एक अद्भुत पुरुष था। वह मूर्त्ति और चित्रकलाओं में निपुण तो था ही, साथ-साथ संगीत, यन्त्र-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, आदि

में भी पूरा दखल रखता था। शारीरिक बल और युद्ध-शक्ति दोनों में बढ़ा-चढ़ा होने पर भी वह दयालु हृदय था। पिंजड़े के पक्षियों को खरीद-खरीदकर, उन्हें मुक्त कर देना उसका एक दैनिक कार्य-सा हो गया था। उस यूरोपीय पुनर्जागरण का, जिसके पुजारी प्राचीनता के बन्धन से ज्ञान-पक्षी को मुक्त करना चाहते थे, वह एक प्रकार से हरकारा था।

लियनार्डो की ख्याति कुछ ही दिनों में इतनी दिगन्त-व्यापी हो गयी कि बड़े-बड़े राजे-महाराजे उसकी कृति के जबर्दस्त ग्राहक हो गये, और उसे आमन्त्रण-पर-आमन्त्रण भेजने लगे। मिलान के ड्यूक लुडोभिको स्फोर्जा की फ़रमाइश पर उसने जो चित्र अंकित किये थे, वे आज संसार की अमूल्य निधियों में हैं। 'मोना-लिसा' नामक उसका चित्र जगत्-विख्यात है। फ्लोरेन्स के एक उच्च पदाधिकारी की पत्नी का यह चित्र नारी की शाश्वत प्रहेलिका को उसके दीप्तिमान नयन और रहस्यपूर्ण मुसकान द्वारा दर्शित करता है।

माइकेल ऐन्जेलो ने अपनी कला द्वारा प्राचीन यूनान और रोम की समन्वित शैली को पुनर्जीवित किया। जब सेवनोरोला ऊँची आवाज में प्रतिमा-पूजकों पर अभिशाप की वर्षा कर रहे थे, तब वह 'बैकस' (ग्रीस का एक देवता), 'एडोनिस' और कामदेव की मूर्तियाँ गढ़ रहा था। अल्प आयु ही में वह संसार का सर्वश्रेष्ठ मूर्ति-कलाकार बन गया, पर यह भी विधि की प्रबल विडम्बना देखिए, वह उस समय भी अर्थाभाव से मुक्ति न पा सका, और अर्थ-संकट ही में पड़ा रहा। ३७ साल की उम्र में वह वृद्ध-सा नजर आने लगा। १५२७ में फ्लोरेन्स में जो क्रान्ति की आग मेडीची सल्तनत के खिलाफ़ भभक उठी थी, उसके वह अगुआओं में था। फिर भी क्रान्ति के असफल होने पर जब वह बन्दी होकर लाया गया तब मेडीची ने उसे इस शर्त पर मुक्ति दे दी कि वह अपनी कला से शहर को सजाए।

राफेल का जीवन माइकेल एन्जेलो की तरह कभी दुखपूर्ण न हुआ। सुखी जीवन का स्वाद पाते हुए उसने अपनी अद्भुत चित्रकारी का परिचय दिया था। संसार के महान् चित्रकारों में उसकी गणना है।

उपर्युक्त महान् कलाकार-त्रय ने पुनर्जागरण का आह्वान किया। उसके बाद का जमाना यूरोप के इतिहास का स्वर्ण-युग था, जिसके प्रतिनिधि-

चित्र-कलाकारों में एक नहीं, प्रायः एक दर्जन महान् चितेरों के नाम सामने आते हैं, जिनमें मान्टेग्ना, फैसिया, कोरिजियो, बैलीनी, जार्जियोनी और वेनिस के टाइटियन, टिन्टेरोटो, लोटो, मरोनी और पाल भेरोनीज के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इटालियन चित्रकला के उत्थान का अन्त टिन्टोरेटो के साथ-साथ सन् १६५४ में हुआ। इसके बाद इस कला ने यूरोप के दूसरे देशों—जर्मनी, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड, फ्रांस, आदि—में विकास पाया।

जर्मनी के निपुण चित्रकारों में सबसे पहला नाम अलबर्ट डूरर (१४७१-१५२८) का आता है, जिसकी चित्रकारी—और उससे भी बढ़कर नक्काशी के काम—ने एक समय सारे यूरोप में तहलका मचा दिया था। डूरर के बाद हान्स हालबीन के सिवाय फिर कोई ऐसा चित्रकार न हुआ, जो चित्र-विद्या में जर्मनी का नाम ऊँचा करता। हालबीन अवश्य ही एक ऊँचे दर्जे का चित्रकार था, पर पेशेवर होने की वजह से उसके सारे चित्र सुन्दर होते हुए भी निर्जीव-से लगते हैं, डूरर की तरह उसने उनमें अपने हृदय के भावों को भरने का यत्न न किया, वह अधिकतर खरीददारों के हुक्म पर चित्र बनाता रहा।

सन् १५२२ और उसके बाद के कुछ साल यूरोप के लिए, कला की दृष्टि से, अच्छे न रहे। सारे यूरोप में आतंक-सा छाया हुआ था। तीन प्रमुख राजाओं के बीच युद्ध जारी था, जिसके फलस्वरूप १५२७ में जर्मनी, स्पेन और इटालियन सेनाओं द्वारा अन्त में रोम को एक भीषण लूटपाट का सामना करना पड़ा। ऐसी स्थिति में ललित कलाओं का प्रसार कठिन ही नहीं, असम्भव-सा हो उठा। हालबीन ने मजबूर होकर अपनी तूली अलग रख दी और नक्काशी के काम में अधिक मुस्तैदी के साथ लग गया। भाग्य ने उसका साथ दिया और कुछ ही दिनों में उसने इस कला में भी सर्वश्रेष्ठ स्थान ग्रहण कर लिया—सारे यूरोप में उसकी ख्याति फैल गयी। उसकी कुछ कृतियाँ आज भी संसार की अमूल्य निधि मानी जाती हैं।

यूरोप के इतिहास में पिटर पाल रूबेन्स का एक खास स्थान है। वह योग्य चित्रकार के साथ-साथ निपुण राजनीतिज्ञ, विद्वान् और दरबारी भी था। अपने जीवन-काल में वह यूरोप के सभी दरबारों में प्रतिष्ठा-सम्मान

पाता रहा। अभिजात-वंश में जन्म पाने के कारण तत्कालीन सम्राटों के साथ उसकी खासी घनिष्ठता रही, कइयों ने उससे दूतकार्य भी लिया था। अन्त में इंग्लैण्ड के तत्कालीन सम्राट्, चार्ल्स प्रथम, ने उसे 'सर' की उपाधि प्रदान की।

यूरोप के महान् चित्रकारों में वह गिना जाता है। उसके बनाए हुए चित्र आज भी विभिन्न देशों के चित्रालयों में उच्च-स्थान के अधिकारी माने जाते हैं। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रांकन में वह सिद्धहस्त था। प्रकृति की गंभीरता अथवा भीषणता का नहीं, उसके आह्लाददायक रूप का—उस रूप का, जो मनुष्य के हृदय में एक गुदगुदी पैदा करता है—वह चितेरा था। उसका प्रसिद्ध चित्र 'इन्द्रधनुष' इस कथन का साक्षी है। निपुण आलोचक मूथर ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा था कि वह चित्र दर्शित करता है कि पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश—इनका युद्ध समाप्त हो चुका है, सभी चीजें भीगी हुई-सी चमक रही हैं और वृक्ष उन हृष्ट-पुष्ट बच्चों की भाँति, जिन्होंने अभी-अभी जी-भर भोजन पाया है, आनन्द प्रदर्शन कर रहे हैं। कितना सुन्दर वर्णन है यह !

फ्लेमिङ्ग चितेरों में रूबेन्स के बाद डाइक और जैकब जार्डन्स के नाम आते हैं। डाइक के चित्रों में विलासिता की वह छाप, जो प्राचीन ग्रीस के मदिरा के देवी-देवताओं के उपासकों में पायी जाती है, साफ़-साफ़ परिलक्षित है। इसमें शक नहीं कि वह इस प्रकार के चित्रों के बनाने में काफ़ी कुशल था; पर उसका सर्वश्रेष्ठ चित्र वह है जिसमें उसने इंगलैंड के बादशाह चार्ल्स प्रथम को अश्वारूढ़ दिखाया है और जिसे सन् १८८५ में नेशनल गैलरी ने राफेल के एक चित्र के साथ मार्लबरो परिवार से ८७,००० पौंड में खरीदा था।

डाइक की मृत्यु के बाद बहुतेरे अंग्रेज और फ्लेमिङ्ग चितेरों ने उसकी नक़ल करनी चाही, पर वे असफल रहे। यदि वह जिन्दा होता तो उर्दू के एक कुशल शायर की तरह वह भी आज कह सकता था कि—

मेरी तर्जे क़लम की वह अगर तक़लीद करते हैं,
खिज़र होंगे, असर की भी अगर उम्मीद करते हैं।

रूबेन्स के बाद फ़्लैण्डर्स में फिर कोई ऐसा उस्ताद पैदा न हुआ जो

चित्रकला की उन्नत परम्परा को कायम रख सके। वह धीरे-धीरे ह्रास की ओर अग्रसर होती गयी। इसके पूर्व कि वह फ्रांस और इंगलैंड में उत्थान पाये, स्पेन और हॉलैण्ड में वह अभ्युदय को प्राप्त हुई।

स्पेन में, सिवा एक चित्रकार भेलाजक्वे के, कोई और ऐसा चित्रकार उत्पन्न न हुआ, जो कला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान पा सकता।

स्पेन में १५वीं सदी के बाद ही चित्रकला का प्रवेश हुआ—वह भी इटालियन प्रभाव से ओत-प्रोत। नेप्लस् और सिसली का स्पेन-साम्राज्य के अन्दर आना ही इसका मुख्य कारण था। नेप्लस् का प्रसिद्ध चित्रकार करावेगिओ (१५६६-१६०६) मिलान में पैदा हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि उसकी शैली तत्कालीन इटालियन शैली के ढाँचे पर बनी हो; पर उसने ऐसा न करके एक स्वतन्त्र परम्परा की नींव डाली, जो आगे चलकर औरों के लिए पद-चिह्न-सी सिद्ध हुई। १७वीं सदी के रोम, फ्लोरेन्स और वेनिस के चित्रकारों में मौलिकता का पूर्ण अभाव था: वे केवल टाइटियन, टिनटेरोटो, राफेल, माइकेल एन्जैलो आदि की नक़ल कर रहे थे। करावेगिओ ने, इसके विपरीत, प्रकृति को अपने चित्रों का आधार बनाया, और इस प्रकार वास्तविकतावाद का अगुआ बना। चित्रों में आज प्रकाश और छाया के सम्मिश्रण का—खेल का—बड़ा महत्त्व है। संसार के सभी कुशल चित्रकार इसका प्रयोग कर रहे हैं और इसके द्वारा अपने चित्रों में वे एक अपूर्व सौन्दर्य का प्रदर्शन देते हैं। मिलान के इस प्रसिद्ध चित्रकार ही को इस शैली को सर्वप्रथम चित्रकारी में लाने का श्रेय प्राप्त है।

मिलान, भेनिस और रोम में बहुत दिन बिताकर अन्त में वह नेप्लस् में जा बसा और वहीं उसने स्पेनिश चित्रकार जोसेफस रिबेरा (१५८८-१६५६) को अपनी शैली से प्रभावित किया। रिबेरा के द्वारा ही यह शैली स्पेन में लायी गयी। स्पेन में उस समय तक एल ग्रेसो (१५४५-१६१४) नामक क्रीट के एक चित्रकार, जो १५७५ के आस-पास स्पेन के टोलेडो नामक स्थान में आ बसा था, का प्रभाव फैल चुका था। उसके चित्रों में तत्कालीन तीव्र धार्मिक भावनाओं का, जो उस प्रायद्वीप को तरंगित कर रही थी, स्पष्ट छाप थी।

कला जीवन का दर्पण है, और प्राचीन चित्रों को तूलिका में लिखा

गया इतिहास ही मानना चाहिए। हर चित्र अपने समय की ऐतिहासिक उथल-पुथल को झलकाता है। फ्लोरेन्टाइन-चित्रों में असीसी के सेंट फांसिस और सावोनराला के उपदेशों और सिद्धांतों की झलक आती है। रिफ-मेंशन (यूरोप का १६वीं शताब्दी का धार्मिक विप्लव) की छाप डूरर और हालबीन की कृतियों में साफ़-साफ़ परिलक्षित है। जिसने रिफ़र्मेशन—धार्मिक सुधारवाद—के खिलाफ़ स्पेन में आवाज उठाकर उसे पराजित किया था इसी भाँति ग्रेसो के चित्र उस इगनेशियस लायला के सिद्धान्तों के प्रतिबिम्ब हैं। इस चित्रकार की प्रसिद्ध कृति 'मन्दिर से व्यापारियों को निकालते हुए ईसा मसीह' का अर्थ या अभिप्राय इगनेशियस लायला द्वारा ईसाई धर्म अथवा धर्म-स्थानों से सुधारवादियों के निकालने से है।

स्पेन की परिस्थिति ऐसी ही थी जब भेलाजक्वे ने १५९९ में जन्म लिया। जीवन के प्रारम्भ-काल ही से उसकी अभिरुचि चित्रकारी की ओर थी। अल्प वयस में ही वह एक अच्छा चित्रकार हो गया था। घर से निकलकर वह मैड्रिड गया। वहाँ संयोगवश स्पेन के युवक सम्राट् चतुर्थ फिलिप का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। कुछ ही दिनों में उसकी सम्राट् के साथ गहरी घनिष्ठता हो गयी। फिलिप के कहने पर उसने राज्य-परिवार या स्पेन साम्राज्य से सम्बन्धित अनेक चित्र आँके जो बड़े मूल्यवान् माने जाते हैं। फिलिप की चित्रकला में क्रमशः इतनी अधिक अभिरुचि हो गयी कि वह प्रायः रोज ही भेलाजक्वे के स्टूडियो में जाने और काफ़ी देर तक वहाँ बैठने लगा। उसके कई चित्र उसने बार-बार अंकित कराये। एक ही वस्तु—या विषय—को बार-बार अंकित करने के कारण भेलाजक्वे के चित्रांकण में पूर्ण विशुद्धता आ गयी और मनुष्य के चेहरे और आँखों के प्राकृतिक भावों का अंकण वह बड़ी खूबी से करने लगा। जिस तरह अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि, वर्डस्वर्थ, के काव्य में निष्कलंक शुद्धता पायी जाती है, उसी भाँति वह भेलाजक्वे की तूली में भी थी। निःसन्देह इस दृष्टि से वह अनेक महान् चित्रकारों से बहुत आगे बढ़ गया है।

भेलाजक्वे के बाद जुरबरन, डेलमेजो और मुरीलो—इन तीन चित्रकारों ने उसके जलाये हुए प्रदीप को प्रज्वलित रखने की चेष्टा की; पर वह बात कहाँ! उसकी क़लम में जो एक खास खूबी थी, उसे वे अपनी तूली में न ला

सके। इसके बाद ही हॉलैण्ड ने स्पेन पर विजय प्राप्त की; और स्पेन की चित्रकला-श्री भी एक प्रकार से समाप्त हो गयी। उसने भी, मानो हॉलैण्ड का वरण किया। इस विजय के बाद यूरोपीय देशों में हॉलैण्ड ही ऐसा देश निकला जहाँ इस कला ने उत्कर्ष पाया।

डच-चित्रकला के प्रारम्भिक काल के दो चित्रकारों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं---फ्रान्स हाल्स और रेम्ब्रैन्ट। फ्रान्स हाल्स का जन्म उस समय हुआ था जब हॉलैण्ड स्वाधीनता के संग्राम में संलग्न था। उसका प्रारम्भिक जीवन-काल भी उसी उथल-पुथल के दिनों में व्यतीत हुआ। हॉलैण्ड के लिए यह जीवन और मरण का सवाल था। तत्कालीन यूरोपीय सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य, स्पेन, के ख़िलाफ़ वह---एक छोटा-सा देश---लड़ रहा था। प्रकृतितः हाल्स के सभी चित्रों से युद्ध की गन्ध आती है अर्थात् किसी-न-किसी रूप में वे युद्ध के उपकरणों से सम्बन्ध रखते हैं। उसके सबसे मशहूर चित्र, 'दि लाफिन्ग कवेलियर', में एक अश्वारोही सिपाही का चित्र अंकित है। इस चित्र में अश्वारोही के मुख पर जो उपेक्षा का भाव दिखलाया गया है उसकी संसार के बड़े-बड़े कलाविदों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह चित्र आज संसार के इने-गिने ख्याति-प्राप्त चित्रों में से हैं। उसके और भी अनेक चित्र विख्यात हैं। वे सभी वास्तविकता से ओत-प्रोत हैं।

हाल्स के बिलकुल विपरीत रेम्ब्रैन्ट ने उस समय जन्म पाया जब स्पेन पर विजय प्राप्त कर हॉलैण्ड उन्नत शीर्ष था और शान्ति में अभ्युदय के दिन बिता रहा था। वे दिन लड़ाई के नहीं, शान्तिपूर्ण वातावरण में चिन्तन और विचारोत्कर्ष के थे। रेम्ब्रैन्ट के अधिकांश चित्रों पर इस वातावरण का प्रभाव स्पष्ट है। इन चित्रों में भावों का अद्भुत् अंकण है, मानव-मुखों पर जीवन के अनुभवों का बड़े सुन्दर ढंग से प्रदर्शन है; और क्योंकि वृद्धावस्था जीवन के अनुभवों का एक भण्डार होती है, इसलिए रेम्ब्रैन्ट ने अधिकतर वृद्ध जनों ही का चित्रांकण किया है। ये सभी चित्र अद्वितीय रूप से भावपूर्ण हैं, और महान् कलाकारों की इस उक्ति का पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं कि रेम्ब्रैन्ट संसार के मनोवैज्ञानिक चित्रकारों में सबसे श्रेष्ठ है।

उसके कई चित्र तो एक प्रकार से जीवन के इतिहास हैं। उदाहरणार्थ, उसने अपने भी अनेक चित्र अंकित किये हैं। इन चित्रों ही से, चित्रांकित

भावों के द्वारा, उसके जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उसका प्रारम्भिक जीवन—खास कर पारिवारिक जीवन—बड़ा सुखी था, यह उसके 'चित्रकार और उसकी पहली पत्नी' नामक चित्र से जाना जा सकता है। इस चित्र में उसके मुख पर आनन्द और सन्तोष के भाव बिखरे पड़े हैं। उसकी पत्नी, ससकिया, उसे अत्यन्त प्रिय थी और अपने मधुर स्वभाव के कारण उसके सुखी जीवन का कारण थी।[1] पर जीवन का यह सुख वह अधिक दिनों तक नहीं भोग सका। ससकिया की मृत्यु के बाद का उसका जीवन एक उथल-पुथल का—पारिवारिक-आर्थिक संकटों का—जीवन रहा। बाद के सभी चित्रों में उसके इस अशान्त जीवन की झलक है।

प्राकृतिक दृश्यों के अंकण में भी उसे कुशलता प्राप्त थी। 'तीन वृक्ष' नामक चित्र इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

हाल्स और रैम्ब्रैन्ट के बाद के चित्रकारों ने अधिकतर इन्हीं दो महान् चितेरों का अनुसरण किया है—इनमें शावर, जेरार्ड डाऊ, जॉन स्टीन, टिनियस, पिटर दे हूस, डर मियर, निकलोस मेस, मोनियर, होब्बेमा, विलियम डि बैल्डे, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। हॉलैण्ड के ये दिन समुन्नति और शान्ति के वातावरण के थे। प्रकृतितः इन सभी कुशल चितेरों की कृतियाँ इस परिस्थिति और हॉलैण्ड के बहुमुखी उत्कर्ष की द्योतक हैं।

हॉलैण्ड की प्राकृतिक शोभा अपूर्व है—खास कर पहाड़ और समुद्र के

१. ससकिया एक सम्पन्न परिवार की लड़की थी। कहते हैं, उसके पिता ने रैम्ब्रैन्ट को अपनी पुत्री ससकिया के चित्रांकण के लिए बुलाया था। ससकिया उसके सामने बैठती, वह उसकी तस्वीर खींचता। धीरे-धीरे वह उसके प्रेम में जा फँसा। किसी शायर के शब्दों में—

'तस्वीर क्या खींचे मसब्बर, खुद ही खिचता जाये है।'

की अवस्था को प्राप्त हो गया। ससकिया भी उसके प्रेम-पाश में आ पड़ी और अपने माता-पिता के विरोध करने पर भी उसके संग विवाह-सूत्र में आबद्ध हो गयी। रैम्ब्रैन्ट ने इस पारिवारिक विरोध के उत्तर में 'सैमसन और डेलीला' की कथा से सम्बन्धित कई चित्र बनाये, जिनमें फिलिस्टीन ससकिया के माता-पिता आदि हैं। चित्र अति सुन्दर हैं। सैमसन डेलीला की कथा-बाइबिल की एक प्रसिद्ध कहानी है।

कारण। अतः चित्रकारों की कलम ने प्राकृतिक दृश्यों के अंकन में महान् कुशलता दिखायी है। कई ने डच जीवन के रहन-सहन, घर-द्वार के बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। 'एक डच-गृह का भीतरी हिस्सा', 'एक अध्ययनशील लड़की', 'मोती की हार' आदि, चित्र इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

कुछ ने अपने देश के विभिन्न भागों की तस्वीरें बड़ी खूबसूरती से खींचीं। 'नदी का दृश्य' ऐसे चित्रों में प्रमुख स्थान रखता है।

हॉलैण्ड कृषि-प्रधान देश है। जो तस्वीरें कृषि-विषयक हैं, वे—खासकर कृषि से सम्बंध रखनेवाली तस्वीरें—उच्चकोटि की हैं।

समुद्र से भी हॉलैण्ड का अति गहरा सम्बन्ध है। अतएव उसके बहुत-से उच्च श्रेणी के चित्रों का विषय समुद्र अथवा समुद्री जीवन से सम्बन्ध रखता है। 'समुद्र में तूफान'—शीर्षक भान द भेल्डे का चित्र इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

डच चित्रकला का उत्कर्ष बड़ी तेजी से हुआ। उसकी अवनति भी उसी तेजी से हुई। सौ वर्ष पूरे होते-न-होते उसकी चित्रकला अधोगति को पहुँच गयी। हॉलैण्ड के समुद्र में डूबकर चित्रकला का देदीप्यमान सूर्य फ्रांस में उदय हुआ।

१७वीं सदी के पूर्व की फ्रांसीसी चित्रकला में मौलिकता और राष्ट्रीयता का बिलकुल अभाव था—वह या तो फ्लैण्डर्स की शैली से प्रभावित थी या इटली की शैली से। पर १७वीं सदी में उसने बादशाह लुई १४वें की छत्रछाया में निजी शैली को जन्म दिया, जिसे हम फ्रांस की राष्ट्रीय शैली कह सकते हैं इसका जन्मदाता एन्तायन वातो नामक एक चित्रकार था, जिसका जन्म सन् १६८३ में हुआ। मुसव्वर की गरीबी लोक-प्रसिद्ध है। वातो ने भी अपने जीवन के अधिक दिन गुर्बत ही में बिताये। यही नहीं, वह अपने देशवालों की ईर्ष्या का शिकार भी बना रहा। अंत में गहनों पर चित्रांकण करनेवाले, लुक्सेमवर्ग राजप्रासाद का अभिभावक, क्लौड ओडरौ, के संपर्क में वह आया। लुक्सेमवर्ग में ही वह रहने भी लगा। राजप्रासाद से लगा हुआ एक बाग था जिसमें तरह-तरह के वृक्ष और पशु थे। राजमहल की इस प्राकृतिक सुन्दरता का उसके ऊपर काफ़ी प्रभाव पड़ा। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण की जो प्रतिभा उसके अन्दर सहज रूप से विद्यमान थी, वह

फूट पड़ी। फिर तो वह फ्रांस का अतिकुशल प्राकृतिक-दृश्य चित्रकार समझा जाने लगा। राजमहल की बहुमूल्य चित्रशाला में रूबेन्स के अनेक अद्भुत् चित्र टंगे हुए थे, जिनकी बार-बार नक़ल करने के यत्न उसने किये। अन्त में इसके फलस्वरूप मानव-चित्रांकण में भी उसने पूरी दक्षता प्राप्त कर ली। अपने चित्रों और विचारों से फ्रांस के भावी चित्रकारों को इटालियन आदर्शों से हटाकर उसने रूबेन्स के चलाये हुए वास्तविकता के पथ का अनुगामी बनाया। उसकी फ्रांस को यह देन बहुत बड़ी थी। 'शृंगार-निरत एक रमणी' नामक उसका एक प्रसिद्ध चित्र है, जिसमें उसकी चित्रण-कला की बारीकी कूट-कूटकर भरी है। विशेषज्ञों का कहना है कि शायद स्वयं रूबेन्स भी इसमें वह सौन्दर्य और बारीक़ी नहीं ला सकता था, जो वातो द्वारा उसमें लायी गयी।

फिर तो एक बार पुनः वातो को अपने चित्रकार-साथी की, जिसे वह गुरुवत् समझता था, ईर्ष्या का शिकार बनना पड़ा। औडराँ के साथ उसका सम्बन्ध-विच्छेद-सा हो गया। पर इसी के बाद उसके जीवन में एक ऐसी घटना घटी जो अभूतपूर्व थी और जिसने उसे संसार-प्रसिद्ध कर दिया। फ्रांस की लोक-विख्यात अकादमी ने उसके चित्रों से प्रभावित होकर उसे एक-मत से अकादमी का सदस्य निर्वाचित किया। अकादमी के इतिहास में यह पहला अवसर था जब एक अल्पवयस्क चित्रकार, बिना किसी सिफ़ारिश के---गरीबी की हालत में जीवन बसर करते हुए---बिना 'प्रिक्स द रोम' नामक पुरस्कार के पाये, एकमत से उसका सदस्य चुन लिया गया। फ्रांस में इस घटना से एक तहलका मच गया। पर अधिक दिनों तक वह गौरव के इस पद पर आसीन न रह सका। वर्षों की दरिद्रता ने उसके स्वास्थ्य का संहार कर डाला था। कीट्स की तरह वह यक्ष्मा रोग के चंगुलों में जा फंसा और ३७ साल ही की उम्र में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी।

निःसन्देह वातो फ्रांस का एक महान् चित्रकार था। चित्रों की बारीकी और रंग-प्रसारण में उसे समान रूप से योग्यता प्राप्त थी। आकार की श्रेष्ठता और पूर्णता में राफेल के साथ, और भाव-प्रदर्शन में रेम्ब्रां के साथ हम उसकी तुलना कर सकते हैं।

वातो के बाद के फ्रांसीसी चित्रकारों में दो विचारों का प्रसार साफ़-

साफ़ परिलक्षित होता है। कुछ ने तो वहाँ के विलासी जीवन—वह जीवन जो सम्राट् से लेकर अन्यान्य सामन्त, रईस, अमीर-उमरा घरानों के लोग व्यतीत करते थे—के चित्रण में निपुणता प्राप्त की, कुछ ने जन-जीवन के चित्रण में। प्रथम श्रेणी के चित्रकारों में निकलस लाजिलियरे, रिगो और बुशे के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दूसरी श्रेणी में जीन शारदिन का नाम उल्लेखनीय है। वह जन-चित्रकारों में सर्वश्रेष्ठ था। उस जमाने में जब फ्रांस में विलासिता का सबसे अधिक बोलबाला था, उसने साधारण जन-जीवन को बड़ी ही सुन्दरता से चित्रित किया। वह उन चित्रकारों में है जो जीवन की साधारण वस्तुओं में अपार सौन्दर्य और माधुर्य देखते हैं।

शारदिन के बाद, उसके एक योग्य शिष्य फ्रेगोनार ने उसकी परम्परा क़ायम रखने की चेष्टा की। उसने भी जन-जीवन के कई चित्र उतारे, पर बादशाह और अभिजात्य-मण्डली के जीवन की तड़क-भड़क ने उसकी आँखों को चकाचौंध में डाल दिया, उसके पैर लड़खड़ाने लगे और कुछ ही दिनों में वह इस पथ से अलग हो गया। इसके लिए उसे दण्डित भी होना पड़ा। उसके जीवन-काल ही में उसकी लोकप्रियता समाप्त हो गयी। इसके बाद फ्रांस की क्रान्ति और नैपोलियन के उद्भव ने चित्रकला की उपर्युक्त धाराओं को बिलकुल ही बन्द—अवरुद्ध-सा कर दिया। उसकी मृत्यु के साथ-साथ फ्रांस के राजनीतिक व्योम-मण्डल में क्रान्ति के बादल ज़ोरों से गरज उठे।

फ्रेगोनार का समकालीन एक चित्रकार ग्रेज़े भी कुछ काल के लिए काफ़ी लोकप्रिय हो गया, पर उसकी पारिवारिक अशान्ति ने उसे आगे न बढ़ने दिया। पेरिस के एक पुस्तक-विक्रेता की पुत्री के प्रेम में पड़कर उसने उससे शादी की। उसने अपनी पत्नी के विभिन्न ढंग के दर्जनों चित्र उतारे। इन चित्रों में उसने कुछ ऐसी कामयाबी हासिल की, ये चित्र इतने सुन्दर उतरे कि कुछ ही दिनों में,केवल इन चित्रों के कारण,वह अपने समय की सर्वोच्च सुन्दरी मानी जाने लगी। उसके सौन्दर्य की शोहरत सारे देश में फैल गयी। लोग उससे मिलने या उसे देखने को उसी तरह टूटते थे जैसे आज चित्रपट की प्रसिद्ध तारिकाओं से मिलने या उनको देखने को टूटते हैं। परिणाम यह हुआ कि उसे अपनी खूबसूरती पर बड़ा घमंड हो गया। देश के मनचले लोगों

के साथ वह घूमने-फिरने लगी, ग्रेजे का उसके ऊपर कोई नियन्त्रण न रहा। फिर तो जो ऐसी परिस्थितियों में अक्सर हुआ करता है, वही हुआ—पारिवारिक कलह, वैवाहिक जीवन के सुख और शान्ति का लोप। ग्रेजे के आखिरी दिन मनस्ताप में कटे, पर इसकी सारी जिम्मेदारी उसी की थी। यह मानना पड़ेगा कि संसार में ऐसा कोई दूसरा चितेरा न हुआ जिसने केवल एक ही व्यक्ति के तरह-तरह के चित्र अंकित कर चित्रकला की दुनिया में उच्च स्थान और ख्याति प्राप्त की हो।

क्रान्ति के दिन फ्रांस के लिए बड़ी उथल-पुथल के दिन थे। फिर भी नव-निर्मित राष्ट्रीय सभा ने इस बात की पूरी चेष्टा की कि प्राचीन वस्तुएं—खासकर जिनका सम्बन्ध इतिहास और कलाओं से था—नष्ट न हों। यही नहीं, चित्रकला की उन्नति के भी अनेक यत्न उसने किये; पर उनके चालू होने के पूर्व ही फ्रांस का बुरी तरह सामाजिक पतन हो चुका था। नैतिकता नष्टप्राय थी। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में, उनका यह सारा उद्योग प्राचीन शैली के पुनर्निर्माण की ओर लगा। सामाजिक विलासिता के चित्रण के स्थान पर उन्होंने पुरानी ग्रीक और रोमन शैलियों के अनुसरण को प्रोत्साहित किया। वे उनकी नक़ल तक कराने लगे। फल यह हुआ कि क्रान्ति के बाद बहुत दिनों तक फ्रांस की चित्रकला में मौलिकता का कोई स्थान न रहा। लुई, डेविड, लेबरू, ग्रोस, ईंग्रे, आदि कई प्रसिद्ध और योग्य चित्रकार हुए पर उनके चित्रों में न तो मौलिकता थी और न प्राण ही—सभी केवल ग्रीस या रोम के प्राचीन चित्रों की नक़ल-मात्र थे। यही कारण था कि गोया नामक एक मेधावी चित्रकार फ्रांस के उस वातावरण में अधिक दिनों तक न ठहर सका। वह स्पेन चला गया और वहाँ के तत्कालीन सम्राट् चार्ल्स चतुर्थ और उसकी विलासिनी राजमहिषी मेरिया लुइसा की छत्र-छाया में उसने अनेक उच्च कोटि के चित्र उतारे—खासकर मानव-शरीर-सौन्दर्य के नग्न चित्रांकन में वह अद्वितीय निकला। परिणामस्वरूप कैथलिक धर्म के पुजारी-पादरियों के साथ उसका सख्त मनमुटाव हो गया। वे उसके इतने बड़े विरोधी साबित हुए कि जीवन के अन्तिम दिनों में उसे स्पेन छोड़ देना पड़ा, पर मृत्यु के पहले उसने एक चित्र अंकित किया जिसमें पृथ्वी के एक तमसावृत कोने पर आकाश से ज्योति का तीर उतरता हुआ

दिखाया गया है और उससे भयाकुल होकर उलूक, काग और पादरी इतस्ततः भाग रहे हैं। यह चित्र संसार के प्रसिद्ध चित्रों में गिना जाता है।

फ्रांस में क्रान्ति के बाद प्राचीन वस्तुओं के प्रति आकर्षण की जो लहर आयी, वह बादशाहत के जमाने की विलासी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया थी। सम्राट्, सम्राज्ञी और अन्यान्य उच्च वर्ग के लोगों के विलासी जीवन में पली हुई चित्रशैली पर स्वभावतः उसकी एक जबर्दस्त छाप थी जो क्रान्तिकारियों की दृष्टि में दूषित और घृणित थी। अतएव उन्होंने प्राचीन यूनानी और इटालियन चित्रशैलियों के पथ पर चलने की चेष्टा की। ये फ्रांसीसी चित्रशैली का आधार-स्तम्भ बन गयीं। पर कुछ ही दिनों में इसकी भी प्रतिक्रिया हुई और नवीन भावनाओं से ओत-प्रोत वहाँ का नवयुवक समाज प्राचीनता के बन्धनों से मुक्त होने के लिए व्यग्र हो उठा। कल्पना के आधार-भूत साहित्य की ओर आकर्षित होकर प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा उसे दान्ते, शेक्सपीयर, गेटे, बायरन और स्कॉट में कहीं अधिक आनन्द मिलने लगा। कल्पना के ज़रिये वह मुक्त जीवन को 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' रूप में देखना चाहता था, न कि प्राचीन नियमों, विचारों और रूढ़ियों की शृंखला में बँधे हुए रूप में। जीवन में जड़ता नहीं, चेतना का; अन्धविश्वास नहीं, भावुकता का समावेश वह चाहता था। उसके हृदय में रह-रहकर यह प्रश्न उठता था—यूनान और रोम से हमें मुक्ति देनेवाला कौन है ?

साहित्य में, संगीत में, चित्रशैली में—हर ओर यह भावना जागृत हो उठी और पुरानी लकीर के फ़क़ीरों के साथ उसका एक संघर्ष-सा उठ खड़ा हुआ। जिस मुक्तिदाता की वह खोज कर रहा था, वह जीन लुई आन्द्रे थियोडोर गैरिकाल्ट के रूप में प्रकटित हुआ। यह फ्रांस का एक महान् चित्रकार था, जिसने उपर्युक्त भावनाओं से ओत-प्रोत एक नवीन शैली को जन्म दिया। कहते हैं, एक बार वह किसी रास्ते से जा रहा था जब किसी गाड़ी में जुता हुआ एक घोड़ा भड़क उठा और कूदने लगा। सूर्य की रश्मियाँ उसके शरीर पर एक अद्भुत ढंग से प्रसारित हो उठीं। बस, वह उसी समय पैंसिल लेकर उसके शरीर पर के बदलते हुए प्रकाश के रंग-प्रसारण का विवरण लिखने लगा। इस एक छोटी-सी घटना से उसकी वास्तविक मनोवृत्ति का पता लगता है।

जीन लुई के अनेक चित्र आज संसार की विभूतियों में गिने जाते हैं। उसकी परम्परा पर चलनेवालों में दिलाको का नाम सबसे अधिक महत्त्व रखता है, क्योंकि इसी ने सर्वप्रथम यूरोपीय चित्रकारी में पूर्वीय प्रकरण का समावेश किया था।

फ्रांसीसी प्राकृतिक चित्रों में भी एक जड़ता आ घुसी थी, उसमें कृत्रिमता का प्रसार था। इसमें नई चेतना, नया जीवन और मौलिकता लाने वाला जीन कोरो नामक एक चित्रकार था, जिसने एक नई धारा प्रवाहित की और इस शैली का नेता बना। उसके बाद दुप्रे, रूसो, त्रोयों, दि ला पेना, दौबिनी, चार्ल्स जैक, औदिन आदि निपुण चित्रकारों के कारण इस शैली ने काफ़ी उत्कर्ष पाया। इनमें जीन मिले को पहले-पहले स्वतन्त्र रूप में कृषक-जीवन के चित्रांकण का श्रेय प्राप्त है। जीन मिले की बनाई हुई, बीज बोते हुए एक किसान की तस्वीर देखकर मन मुग्ध हो उठता है।

पूर्वोक्त चितेरों के साथ-साथ ही फ्रांस ने कुछ ऐसे चित्रकार भी पैदा किए जो वास्तविकता से एक तिल भी नहीं हटना चाहते थे। इनमें कौर्बे सबसे प्रधान था जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि एक बार किसी चर्च के लिए उससे एक चित्र अंकित करने को कहा गया और सुझाव मिला कि वह उस चित्र में स्वर्ग की परियों को भी दिखाये। उसने इस सुझाव पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, कि जो चीज मैंने कभी देखी ही नहीं, उसका चित्रांकण मैं किस तरह कर सकता हूँ। यथार्थवादी चित्रकारों की मनोवृत्ति की यह घटना प्रबल परिचायक है। एक स्थान पर उसने लिखा है—"मेरा उद्देश्य अपने वक्त के तरीकों और भावनाओं को निजी अनुभव की भीति पर चित्रित करना है।" इसमें शक नहीं कि वह और उसके रास्ते पर चलनेवाले (माने जैसे) चित्रकार ईमानदारी के साथ उसी का अनुसरण करते रहे। जो चीज उन्होंने अपनी आँखों से देखी नहीं, उसकी तस्वीर भी उन्होंने नहीं उतारी।

तत्कालीन फ्रांसीसी चित्रकारों में एक दल ऐसा भी पैदा हुआ, जो वस्तु-निरीक्षण में उसके विभिन्न अंगों को अलग-अलग न देखकर उसे सम्पूर्ण रूप में देखता और उसका अंकण भी उसी प्रकार करता था। उदाहरणार्थ, प्रातःकाल जब वह वातायन खोलकर बाहर किसी बड़े मैदान अथवा पर्वत

पर दृष्टिपात करता तो वह बजाय इसके कि मैदान के बड़े-बड़े वृक्षों को, फूलों को अथवा पर्वत के हिममण्डित शिखर को अलग-अलग देखे, वह उन्हें एकाकार देखता था, अर्थात् वह सारे दृश्य पर एक ही साथ नजर डालता था। चित्रांकण में भी इसी नीति का अवलम्बन कर वह दृश्य का संयुक्त रूप अंकित करता था, सीमित और क्रमागत नहीं। ऐसे चित्रों को परिपूर्णता प्रदान करनेवालों में पिसारो, मोने और रेनाँ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१८वीं शताब्दी में चित्रकला ने इंग्लैण्ड में भी बड़ी तरक्की की—उन्नति के शिखर पर वह जा पहुँची। इसके पहले इंग्लैण्ड ने किसी उल्लेखनीय चित्रकार को जन्म नहीं दिया था, उनकी जगह विदेशी चित्रकार राज-दरबार और सामन्तों द्वारा प्रोत्साहन पा रहे थे, देश में उन्हीं की तूती बोल रही थी। पर इस परिस्थिति के बावजूद भी इंग्लैण्ड में तद्देशीय चितेरों का भी अभाव न था। अनेक निपुण चित्रकार पैदा हुए, पर उन्होंने भी अधिकतर विदेशी शैली और परम्परा ही को अपनाया। अपनी कोई शैली या परम्परा उन्होंने पैदा नहीं की।

इंग्लैण्ड ने विलियम होगर्थ नामक चित्रकार में सर्वप्रथम अपना प्राण पाया। उसने एक नवीन परम्परा की नींव डाली—उच्च वर्ग के धनाधीशों की जगह मध्यम और निम्न वर्ग के लोगों का चित्रांकण करना उसने शुरू किया।

उसकी दूसरी देन चित्रों द्वारा कथांकण की थी। वह अपनी—स्वरचित—किसी कथा को लेकर चित्रों में उसे अंकित करता, और उनमें भाव-प्रदर्शन का कुछ ऐसा जादू डालता कि उसके सभी पात्र जीवित-से प्रतीत होते थे। इसे हम चित्र-नाट्य के नाम से पुकार सकते हैं। उसके ये चित्र काँगड़ा और बसोली शैली के पौराणिक आख्यान संबंधी चित्रों की हमें याद दिलाते हैं। 'मैरिजआला मोडे' नामक उसका एक चित्र-नाट्य अति प्रसिद्ध, अत्यन्त सुन्दर और प्राणमय है। छः चित्रों में वह समाप्त हुआ है। प्रथम चित्र में वर का पिता अपने वंश के सम्बन्ध में काग़जी सबूत पेश कर रहा है, वधू का पिता उनका निरीक्षण करता है। भावी वधू को वर-पक्ष का वकील प्रस्तावित विवाह के पक्ष में धीरे-धीरे

कुछ समझा रहा है, दूसरी ओर भावी वर शीशे में अपना चेहरा निहार रहा है। इस चित्र के सम्बन्ध में प्रसिद्ध चित्र-कलाविद् और आलोचक हैज़लिट ने लिखा है—

"The three figures of the young nobleman, his intended bride and her inamorato, the lawyer, show how much Hogarth excelled in the power of giving soft and effeminate expression......Nothing can be more finely managed than the differences of character in these delicate personages."

होगार्थ के बाद, रिचार्ड विल्सन का नाम उल्लेखनीय है। उसने प्राकृतिक दृश्यों के चित्रांकण की ओर अधिक ध्यान दिया, पर जो सबसे प्रख्यात चित्रकार होगार्थ के बाद हुआ और जिसका नाम आज भी संसार में प्रसिद्ध है, वह है जोशुआ रेनाल्ड्स्। इसके वे चित्र, जिन्हें हम बाल-चित्र के नाम से पुकार सकते हैं, संसार की निधि हैं। ये उतने ही सुन्दर और भावप्रद हैं जितने महाकवि सूरदास के बाल-पद्य।

रायल अकादमी के निर्माण पर जोशुआ रेनाल्ड्स ही को इसका सबसे पहला सभापति बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसका घर उन दिनों तत्कालीन सुसंस्कृत जनों का क्लब-सा बना हुआ था जहाँ प्रसिद्ध समालोचक और विद्वान डाक्टर जॉनसन, बर्क और गोल्डस्मिथ (प्रसिद्ध कवि), आदि नित्य ही एकत्रित होते, और जहाँ कला और साहित्य पर विचारों का आदान-प्रदान हुआ करता था।

जोशुआ और तत्कालीन अन्य निपुण चित्रकार रास गैन्सबरा में प्रतिद्वन्द्विता के भाव बने रहे। कला-प्रेमियों का समाज दो भागों में विभक्त हो गया—एक वह जो जोशुआ का समर्थक था; दूसरा वह जो गैन्सबरा का समर्थक था। पर अन्त में जब गेन्सबरा मृत्यु-शैया पर पड़ा हुआ था, उसने जोशुआ को बुला भेजा। दोनों गले मिले, एक ने दूसरे से क्षमा-प्रार्थना की और कला-प्रेमियों के दोनों दल तब से एक हो गये।

छवि-अंकण में निःसन्देह गैन्सबरा का स्थान अत्यन्त ऊँचा है और कइयों का विचार है कि वह सर जोशुआ रेनाल्ड्स से बढ़ा-चढ़ा है; पर यह है

विवादास्पद। परंतु इसमें संदेह नहीं कि वह एक बड़ी श्रेणी का चित्रकार था।

छवि-अंकण में जिस तीसरे चित्रकार ने बड़ी निपुणता प्राप्त की वह था जार्ज रामनी। तन्वंगी और कोमलांगी रमणियों के चित्र उसके अति प्रसिद्ध हैं, जिनमें उसने कारुण्य-भाव का कुछ ऐसा सुन्दर खाका खींचा है कि उसे देखकर दर्शक मुग्ध-सा हो उठता है। उसका 'दी पारसन्स डाटर' नामक चित्र उसके ऐसे चित्रों में एक विशिष्ट स्थान रखता है।

पूर्वोक्त चित्रकारों के अलावा भी अनेक निपुण चित्रकार इंगलैंड में हुए जिनमें रेबर्न, हौपनर, लारेन्स और स्त्री-चित्रकार एन्जेलिका के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। एन्जेलिका का बनाया हुआ एक स्वचित्र अत्यन्त दर्शनीय है, और उसकी कूची की निपुणता की गवाही देता है।

१६वीं सदी के और उसके पूर्व-कालीन चित्रों में जो सबसे बड़ा अन्तर पाया जाता है, वह है प्राकृतिक दृश्यों के सम्बन्ध में। यह सही है कि इसके पहले भी चित्रकार चन्द्र, सूर्य, तारे, नदी, पहाड़, वृक्ष, आदि को अपने चित्रों में स्थान देते थे, पर वह प्रकारान्तर से; इनके स्वतन्त्र चित्र भी अंकित किये जा सकते हैं, यह बात उनकी कल्पना से परे थी। पर १६वीं सदी ने एक नयी परम्परा को जन्म दिया—प्राकृतिक दृश्यों के स्वतन्त्र अंकण की। इसका सबसे बड़ा श्रेय एक फ्रांसीसी चित्रकार, क्लाड गेली, को है जिसे हम प्रकृति का आराधक कह सकते हैं। उसने अपने अधिकांश चित्रों में प्राकृतिक दृश्यों का अंकण किया, एक नये दृष्टिकोण की, एक नई प्रणाली की नींव डाली। इसका पदानुसरण फ्रांस के एक दूसरे चित्रकार पौसिन, और इंग्लैण्ड के मोरलैण्ड ने बड़ी खूबी के साथ किया; पर जिसके द्वारा इस परम्परा को सबसे अधिक बल प्राप्त हुआ, वह था इंग्लैण्ड का जगत्-विख्यात चितेरा, विलियम टर्नर, जिसे आज भी संसार ब्रिटिश कला की सबसे बड़ी विभूति मानता है। टर्नर ने जल-चित्र की महिमा को समझा ही नहीं, बल्कि दुनिया के सामने उसे रखकर और स्वयं इस प्रक्रिया का उपयोग कर उसने इसकी खूबियाँ प्रदर्शित कीं। प्रचलित जल-चित्र-अंकण की विधि में महान् परिवर्तन कर उसने इसमें एक नई जान डाल दी। तैल-चित्रों के अंकण में भी उसकी समान योग्यता थी। अपने लम्बे जीवन में उसने धन, यश, ख्याति—सभी प्राप्त किये। जॉन रस्किन ने अपनी पुस्तक

में उसके चित्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा कर उसे अमर कर दिया। टर्नर के बाद जल-चित्रकारों में टाम्स गिरटिन का नाम उल्लेखनीय है, जिसके सम्बन्ध में स्वयं टर्नर ने कहा था कि यदि वह जीवित रहता तो मुझे भूखों मरना पड़ता।

पिटर द वाइन्ट और डैविड कौक्स ने टर्नर की चलाई हुई परम्परा को क़ायम रखने के यथाशक्ति यत्न किये—अच्छे चित्र बनाये, पर अपने चित्रों में वह बात नहीं ला सके, जिसने टर्नर की कृतियों को अमरत्व प्रदान किया।

प्राकृतिक दृश्यों के अंकण में यदि टर्नर का कोई मुक़ाबला कर सकता था तो वह था कान्सटेबल; पर दोनों की कलम में एक बड़ा अन्तर भी था। टर्नर के चित्रों का सम्बन्ध होमर की कथाओं और अन्यान्य संसार-प्रसिद्ध घटनाओं और काल्पनिक कथानकों से है; जबकि कान्सटेबल ने अपने चित्रों में १७वीं शताब्दी के डच-चित्रकारों की भाँति अपने देश ही के विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों का अंकण किया। टर्नर के चित्रों में जो रंगों की बहार—तड़क-भड़क थी, उसके स्थान पर कान्सटेबल ने सादगी बरती। परिणाम यह हुआ कि अपने जीवन-काल में वह लोकप्रिय न हो पाया। जब वह मरा, तब उसका घर उसके चित्रों से, जिन्हें वह बेच न पाया था, भरा हुआ था। पर वह गुणी था और संसार अधिक दिनों तक उसके गुणों की ओर से मुँह नहीं मोड़ सकता था। आगे चलकर उसने उसके अमूल्य चित्रों की महत्ता महसूस की। लेसली नामक एक चित्र-विद्या-विशारद ने लिखा : "मैं यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि जब उनकी कृतियों का यथोचित मूल्यांकण होगा तब वह उनके कारण से इंगलैंड के प्राकृतिक-दृश्य-चित्रकारों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किये बिना न रह सकेंगे।' यही हुआ भी। कालान्तर में कान्सटेबल के चित्र फ्रांस, इंग्लैण्ड, आदि सभी देशों में अत्यन्त लोकप्रिय हुए, पर अफ़सोस कि वह अपने जीवन-काल में नैराश्य के अन्धकार ही में पड़ा रहा, लोकप्रियता की ज्योति उसे प्रफुल्लित न कर सकी—

वह आज आये हैं तुरबत पै फ़ातेहा पढ़ने,
सबाब लूटते हैं ख़ाक में मिला के मुझे!

उसे लोकप्रियता तब मिली जब वह संसार छोड़ चुका था।

वार्मिङ्गटन, जान क्रोम और कोटमन ने प्रकृत्यांकण की परम्परा को जारी रखा। जान क्रोम के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसमें यह शक्ति थी कि वह निकृष्टतम वस्तुओं को भी अपनी तूली के जोर से अत्यन्त ऊँचे स्थान पर बैठा देता था।

इनके बाद इंग्लैण्ड की चित्रकला के इतिहास में घोर परिवर्तन का युग आया—वह जो प्राक्-रैफल के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तकों में एक इटालियन कवि का देश-निर्वासित पुत्र, दान्ते गबरायल रासेटी, मिले और हन्ट—ये तीन मुख्य थे। इन्होंने साथ मिलकर 'प्री-रैफ़ीलाइट ब्रदरहुड' नामक एक संस्था को जन्म दिया। इनमें रासेटी की बौद्धिक-शक्ति अन्य दोनों से कहीं ऊँचे दर्जे की थी। वह चित्रकार भी था, कवि भी। मैडक ब्राउन नामक एक योग्य चित्रकार का वह शागिर्द था और मेडक ब्राउन यद्यपि इस संस्था—दल—में कभी बाजाप्ता शामिल न हुआ, उसका आशीर्वाद इसे प्राप्त था।

तो यह संस्था थी क्या ?

इस लेख के प्रारम्भिक पृष्ठों में इटली के तीन महान् कलाकारों का जिक्र है, जिन्हें चित्र-विद्या के संसार में उच्च स्थान ही नहीं, बल्कि अमरत्व प्राप्त है। वे उन लोगों में हैं, जिनकी कृति महाराज भर्तृहरि के शब्दों में, जरा-मरण से परे है—नास्ति येषां यशः काये जरा-मरणजं भयम्। वे हैं लियनार्डो द विंचि, माइकेल एन्जैलो और रैफ़ल। इनके अमर चित्रों के देखने से यह साफ लक्षित होता है कि ये तीनों ही चित्रांकण में विवरण को अधिक महत्त्व देते थे, कल्पना को नहीं। उदाहरणार्थ, यदि वे किसी फूल को आंकते तो उसकी हरेक पत्ती को, पत्ती की छोटी-छोटी लकीरों तक को, बड़ी बारीकी से अंकित करते थे, जैसा प्रकृति स्वयं किया करती है। पर इनके बाद के चित्रकारों ने इस सिद्धान्त को नहीं रखा, वे इस सम्बन्ध में लापरवाह-से होते गये। इंग्लैण्ड और अन्य यूरोपीय चित्रकारों ने भी इन्हीं बाद के चित्रकारों का पदानुसरण किया; लियनार्डो, एन्जेलो और रैफ़ल का नहीं।

रासेटी, मिले और हन्ट ने इस प्रणाली और दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने के प्रयत्न किये। उनके मतानुसार चित्रकार के लिए यह आवश्यक है

कि वह किसी भी चीज के आँकने में उसके बारीक़-से-बारीक विवरण को भी न छोड़े और उसके सारे अवयव वे ही हों, जिन्हें प्रकृति ने निज हाथों से गढ़ा है, और जो मूल-वस्तु में प्राप्त हैं, अर्थात् चित्रांकण में कल्पना से काम न लेकर वास्तविकता से ले। इसी नीति और दृष्टिकोण के प्रचार के लिए यह दल कायम हुआ, प्राक्-रैफ़ल नामक संस्था की नींव पड़ी। इस दल से सम्बन्धित जितने चित्रकार हुए—रासेटी, मिले, हन्ट, बर्न जोन्स—सभी ने इस सिद्धान्त का पूरी तरह पालन किया। यदि उन्होंने ईसा मसीह अथवा मेरी के चित्र बनाये तो इस बात का पूरा ध्यान रखा कि उनकी सारी वस्तुएँ फिलिस्तीन की हों, इंग्लैण्ड की नहीं; मुखाकृति, पहनावा, दृश्य—सबसे प्राचीन फिलिस्तीन की बू आती हो, वर्तमान फिलिस्तीन अथवा किसी काल्पनिक देश की नहीं।

इस नीति के पालन में वे इतने दृढ़ थे कि जब उन्हें किसी महिला का चित्र बनाना होता तो वे कल्पना से काम न लेकर किसी स्त्री को अपने सामने बैठाकर चित्रांकण करते। आरम्भ में रासेटी ने अपने महिला-चित्र अपनी बहन क्रिसचिना और पीछे अपनी पत्नी एलिनर सिडल और मिसेज विलियम मारिस को सम्मुख बैठा-बैठा कर बनाये। ये चित्र आज चित्र-जगत् में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् और आलोचक, रस्किन, ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक चित्रकार' में मिले और हन्ट के सम्बन्ध में लिखा है—

"चित्रांकण की बारीकी और रंगों की तेजी, दोनों ही दृष्टियों से इनके चित्र रायल अकादमी के सर्वश्रेष्ठ चित्र हैं। मुझे पूरी आशा है कि सदियों से हम जिन चित्र-शैलियों को यहाँ देखते आये हैं, उनसे कहीं अधिक योग्य, तत्पर और गंभीर शैली की नींव डालने में ये समर्थ होंगे।"

पूर्वोक्त चित्रकारों की एक विशेषता यह थी कि वे सभी या तो कवि थे या काव्य-प्रेमी। कीट्स, ब्राउनिंग, आदि कवियों की उन पर काफ़ी छाप थी। उनके कई प्रसिद्ध चित्रों के विषय भी कीट्स इत्यादि कवियों की खास-खास कविताएँ थीं। आंग्ल भाषा के पद्य-साहित्य में भी प्राक्-रैफल-मनोवृत्ति का उन दिनों काफ़ी जोर रहा।

फिर आया महारानी विक्टोरिया के शासन-काल का वह जमाना

जिसे हम विक्टोरियन युग के नाम से पुकारते हैं। जिस प्रकार राजनीति में इसने प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का उत्कर्ष देखा, उसी तरह चित्रकला में भी एक नयी प्रणाली का जन्म और उद्भव इसने देखा। चित्रकला में अब तक वैदेशिक प्रभाव अधिक था, हर चित्र पर उसकी छाप थी; पर इस युग ने इस परम्परा और दृष्टिकोण को बदल दिया। चित्रों में बजाय यूनानी-पन अथवा इटालियनपन के अब अंग्रेजियत रहने लगी। इंग्लैण्ड की कथाओं, घरेलू चीजों, जन-जीवन से उसने सम्बन्ध जोड़ा। फलतः देश की साधारण जनता इन चित्रों को अधिक समझने और पसन्द करने लगी। अब यह केवल शिक्षित-समाज की वस्तु न रह गयी। कुत्ते, घोड़े, आदि घरेलू जानवर और रेलवे स्टेशन, डर्बी की घुड़दौड़ जैसे विषयों का सर्वप्रथम चित्रकला में समावेश हुआ। विलियम पावेल फ्रिथ, सर एडविन लैण्डसियर—जिन्होंने महारानी विक्टोरिया को चित्र आँकना सिखाया था—ब्रिटेन रिभियेरे जैसे विख्यात चित्रकारों ने इस दृष्टिकोण अथवा शैली को प्रोत्साहन ही नहीं दिया, बल्कि इसके एक प्रकार से अगुआ भी बने।

साथ ही यह युग ऐसा भी था जब संसार के अनेक प्राचीन देशों में तरह-तरह के प्रकाशन और आविष्कार हुए—खुदाइयाँ हुई, जिनसे प्राचीन वस्तुओं की प्राप्ति हुई और अनेक पुरानी बातों का पता लगा। इसका असर भी अंग्रेजी मस्तिष्क पर पड़ा और काफ़ी पड़ा। परिणामतः प्राचीन यूनानी और रोमन कथाओं की ओर भी बहुतों का—खासकर शिक्षित समाज का—ध्यान आकृष्ट हुआ। साहित्य और चित्रकला इनसे प्रभावित हुई। फ्रांस में जैसा हमने देखा, क्रांति के बाद प्राचीन यूनान और रोम की चित्र-शैलियों की ओर वहाँ का शासक-समाज अधिक आकृष्ट हुआ था। इंगलैंड में भी इन प्राचीन देशों की कथाओं में काफ़ी दिलचस्पी ली जाने लगी। फ्रेडरिक लाइटन नामक प्रसिद्ध चित्र-कलाविद् ने उपर्युक्त शैलियों के चित्र आंकने शुरू किये। पोयान्टर और अलमा टडेमा नाम के दो और कुशल चित्रकारों ने इसका पदानुसरण किया; और बाद में अलबर्ट मूर ने। पर जहाँ लाइटन, पोयान्टर और अलमाटडेमा ने अपने चित्रों में विषय-व्याख्या की विशदता की ओर अधिक ध्यान दिया, वहाँ मूर ने सजावट और सुन्द-रता की ओर। कीट्स की तरह वह भी सौन्दर्य का उपासक था और इस

विचार का प्रतिपादक कि—'सुन्दरता की वस्तु में शाश्वत आनन्द है, वह कभी नष्ट को प्राप्त नहीं होगी।'

इस युग के कुशल चित्रकारों की गणना में जार्ज फ्रेडरिक वाट्स नहीं भुलाये जा सकते, जिन्होंने कला में सदाचार की भावना लाने की चेष्टा की। उनके तमाम चित्रों का सम्बन्ध नैतिकता से है। चित्रों द्वारा उन्होंने जेरमाया (एक प्राचीन यहूदी मसीहा) की भाँति, बढ़ते हुए नैतिक पतन के विरुद्ध जोरदार आवाज उठायी, उसे रोकने की कोशिश की। उनके सभी चित्र सदाचार और नैतिकता से ओतप्रोत हैं।

विक्टोरिया के युग के बाद की चित्रशैली में पुनः अनेक परिवर्तन आये, पर यहाँ इनकी चर्चा करना 'क़िते-क़लाम' होगा चूँकि इस लेख का सम्बन्ध आधुनिक चित्रकला से नहीं, प्राचीन से है। इस युग के समाप्त होते-न-होते हम नवीन विचारों से भरी हुई चित्रशैली की सीढ़ियों पर आ पहुँचते हैं; पर ये वैसी सीढ़ियाँ हैं जो इस लेख के दायरे से बाहर हैं।

१५

सहज समाधि

हिन्दी का सन्त-साहित्य एक ऐसी खान है, जिससे अनेक नये रत्न अब भी प्राप्त होते हैं। जरूरत है उनके ढूंढने की। कुछेक विद्वानों का यह विचार कि हिन्दी का यह साहित्य काव्यदृष्टि से उच्च स्थान नहीं रखता, अज्ञानता का द्योतक है। सारे संसार में साहित्य की उच्चता की एक ही, सर्वोत्कृष्ट, कसौटी रखी गयी है—वह यह कि जो पढ़ने अथवा सुननेवालों की हृदय-तन्त्री को हिला डाले और उनके हृदय में उच्चतम भावनाओं को जागृत करे—'वह बात दे जुबाँ में कि दिल पर असर करे।' इसमें सन्देह नहीं कि आध्यात्मिक भावना से बढ़कर उच्च कोई दूसरी भावना नहीं होती। इसीलिए तो बिहारी-जैसे उत्कृष्ट शृंगारी कवि के लिए भी श्रीकृष्ण को अपनी रचनाओं का नायकत्व प्रदान करना पड़ा। बिहारी, देव, पद्माकर, आदि शृंगारी कवियों को भी अंततः भगवत्-चर्चा को अपने काव्य में किसी-न-किसी रूप में, प्रधानता देनी पड़ी है।

आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने भी तो इसी सन्त-साहित्य को अपना पथ-प्रदर्शक चुना है। कबीर के भावों को लेकर न-जाने कितने काग़ज रँगे जा चुके, पर वहाँ तक पहुँचने के लिए जिस चीज की आवश्यकता है उसके न होने के कारण सफलता उनसे कोसों दूर रही। सन्त-साहित्य के रहस्यवाद के साफल्य का सबसे बड़ा कारण यह हुआ कि इसके निर्माणकर्ता, सब-के-सब पहुँचे हुए फ़क़ीर थे—उन्होंने जो-कुछ लिखा, वह निज अनुभव से, किसी की नक़ल में नहीं।

कहौं न कछु करि युक्ति विशेषी,
ये सब मैं निज नयनन देखी।

स्वयं भौतिकता की दलदल में फँसकर औरों को अध्यात्म का पथ

दिखलाने की अनधिकार चेष्टा उन्होंने नहीं की।

सन्त कवियों ने अपनी रचनाओं को शब्दालंकार के जाल में न फंसाया—बहिरंग पर ध्यान न देकर अन्तरंग पर ध्यान दिया; शृंगार-रहित, पर स्वच्छ, निर्मल, जो शब्द फूट पड़े, उन्हीं शब्दों में उन्होंने सीधे-सादे तरीके से जो कहना था उसे कह डाला। मीरा ने सोच-विचारकर, कागज-कलम लेकर, नहीं लिखा कि—

मैं गिरिधर आगे नाचूंगी,

अथवा—**मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई,**

बल्कि आवेशावस्था में, सहज समाधि की दशा में, ये शब्द आप-से-आप उनके मुख से फूट निकले, जब गिरिधर गोपाल की सूरत उनके नेत्रों के सामने थी, और वह नाचती थीं।

खेद है कि सहज शब्द के यथार्थ भाव के समझने में हमारे बहुतेरे लेखकों ने भारी भूल की है। एक विद्वान् लेखक ने लिखा है—"जनता को 'सहज पथ' की ओर ले चलने का संकेत सभी सन्तों ने किया है। 'सहज' से इनका तात्पर्य यह था—बिना शरीर को कष्ट दिये, बिना आडम्बरों के, केवल ध्यान के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना चाहिए।"

लेखक का मतलब 'सहज' से यदि ध्यान-योग है तो मेरी तुच्छ दृष्टि में वह गलत है। 'सहज' शब्द से सन्त कवियों का मतलब 'प्राकृतिक', 'स्वयं-भावी', 'जो आप-से-आप हो' से है और यह 'सुरति' अथवा 'अजपा' से सम्बन्ध रखता है। चाहे वह कबीर हों या पलटूदास या कोई अन्य, पर सन्त-साहित्य के सभी निर्माणकर्ताओं का—सन्तों का—एक ही मार्ग था, और वह था अजपा-जप का। भीतर-बाहर, अहर्निश, जो एक ध्वनि हो रही है—बिना किसी आघात के उत्पन्न—उसे सन्तों ने विविध नामों से पुकारा है—'अनहद', 'सुरत' इत्यादि। इस ध्वनि के अन्दर आदि-ध्वनि 'प्रणव' का अनुभव जो करता है, उसे फिर किसी योगाभ्यास अथवा समाधि की आवश्यकता नहीं रह जाती है। उसे आप-से-आप अनुभव होने लगते हैं; दर्शन भी, पहुँची हुई अवस्था में, प्रतिक्षण होने लगते हैं। इसकी उत्पत्ति प्राकृतिक ढंग से होती है, चेष्टा से नहीं। जिसने अजपा में सफलता प्राप्त कर ली उसे सहसा बिना किसी पूर्वाभास के यह अवस्था प्राप्त हो जाती है।

सगुण और निर्गुण दोनों ही के उपासकों को यह प्राप्य है—कबीर को भी और मीरा को भी।

इसी अवस्था को कबीरदास ने 'सहज समाधि' कहा है। यह समाधि वह है जो किसी क्रिया से, प्रयत्न से नहीं वरन् आप-से-आप लग जाती है। फिर इसके बाद तो कुछ रह नहीं जाता—साधक हर समय समाधि में रहता है, चाहे वह किसी भी काम में क्यों न लगा हुआ हो; और तब उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, सभी पूजा बन जाता है। कबीरदास के इस प्रख्यात पद में इसी की ओर संकेत है—

सन्तो सहज समाधि भली है।
जब से दया भई सतगुरु की
सुरति न अनत चली है।।
जहं जहं जाऊं सोइ परिकरमा,
जो कछु करौं सो पूजा।
घर बन खण्ड एक सम लेखौं
भाव मिटावौं दूजा।।
शब्द निरन्तर मनुआ राचा
मलिन बासना त्यागी।
जागत - सोवत, उठत - बैठत,
ऐसी तारी लागी।।
आंख न मूंदूं, कान न रूंधूं,
काया कष्ट न धारूं।
उघरे नैन साहेब देखूं
सुन्दर बदन निहारूं।।

कबीर ने इस पद में उपर्युक्त सारी भावनाओं का, अनुभवों का बहुत ही सुन्दर और साफ़ खाका खींचा है। यह अवस्था तभी आती है, जब—

अनहद तालदुग थेई थेई बाजै।
सकल भुवन जाको ज्योति बिराजै।।

—बुल्ला साहब

अनहद बाजा हरदम बाजै, किंगरी बेन सितार।
श्याम सलोनी मूरति सूरति, उपमा अमित अपार॥
—दयालदास जी

ऐसी अवस्था में, दादू के शब्दों में—

अन्तर्गति हरि हरि करै, मुख की हाजत नाहिं।
सहज धुन्न लागी रहै, दादू मन ही माहिं॥

जिस प्रकार विरहिणी स्त्री की आँखों में प्रतिक्षण उसके प्रियतम का रूप अंकित रहता है, उसी प्रकार साधक के नेत्र सब समय अपने प्रियतम को देखने लगते हैं, आत्मानुभूति होने लगती है। यही 'सहज समाधि' की अवस्था है। इसमें चेष्टा की गुंजायश नहीं, ध्यान लगाने की जरूरत नहीं।

आज हमारे देश में ऐसे सन्त वर्तमान हैं, जिन्हें यह अवस्था प्राप्त है पर वे छिपे-रुस्तम हैं।

तुलसीदास जी ने भी 'सहज' शब्द का प्रयोग 'स्वाभाविक' ही के अर्थ में किया है। जैसे—

सहज सनेह राम लखि तासू।
संग लीन्ह गुरु हृदय हुलासू॥

अथवा—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु
तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन
सो राउर निज गेहु॥

१६

पंजाब के एक महान् संत शायर
बुल्लेशाह

सन् १६२८ की बात है। मैं गर्मियों में मंसूरी गया था। स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी उस समय गुरुकुल कांगड़ी में थे। बहुत दिनों से मुझे उनके दर्शन नसीब न हुए थे। सोचा कि लौटती बार हरिद्वार उतरकर गुरुकुल चला जाऊँ, उनसे मिल लूँ। चिट्ठी लिखकर अपनी इच्छा प्रकट की। उत्तर मिला—"आजकल कनखल से कांगड़ी गुरुकुल का मार्ग दुर्गम हो जाता है। गंगा बीच में पड़ती है। रास्ते में तीन पुल थे, वे अब टूट गये। दो जगह नाव से पार होना पड़ता है, और तीन जगह पैदल पानी पार करना पड़ता है। कनखल से कांगड़ी दो मील इधर जंगल में है। पास ही बीहड़ वन है, पहाड़ है। यथासमय सूचना मिलने पर मैं हरिद्वार या कनखल आकर आपसे मिल लूँगा। फिर यदि आप कांगड़ी गुरुकुल भी देखना चाहेंगे, तो मेरे साथ आ सकेंगे, कुछ विशेष प्रबन्ध कर लिया जाएगा। आशा है इस यात्रा में भेंट अवश्य होगी। आने की सूचना दीजिए।"

गरज यह कि मैं वहाँ न जाऊँ, आप ही रास्ते की सारी कठिनाइयाँ झेल-कर हरिद्वार अथवा कनखल आकर मुझसे मिलेंगे। मुझे यह स्वीकार न हुआ, विरोध लिख भेजा, पर कोई असर न हुआ। गुरुकुल जाने की इजाजत न मिली। अन्ततः उनकी आज्ञानुसार ही चलना पड़ा। तार दे दिया कि मैं अमुक तारीख को हरिद्वार पहुँच रहा हूँ।

बाढ़ आई हुई थी, गंगा में जोरों का प्रवाह था, पर पण्डित जी ने इसकी परवाह न की। पैदल सारे कष्ट झेलकर हरिद्वार आ पहुँचे। दुर्भाग्यवश मैं जिस ट्रेन से चलनेवाला था, वह छूट गई। पण्डित जी ने ट्रेन में मेरी बहुत तलाश की। अन्त में जब मुझे न पाया, तो लौटकर कनखल पं० रामचन्द्र शर्मा वैद्य के घर जा टिके।

मैं देहरादून एक्सप्रेस से उतरकर रात्रि में करीब १०-११ बजे कनखल पहुँचा। पण्डित जी सड़क के किनारे कुरसी डाले प्रतीक्षा में बैठे थे। बड़े प्रेम से मिले। फिर उस वक़्त से बातों का जो सिलसिला बँधा, वह तब तक समाप्त न हुआ, जब तक मैं उनसे विदा होकर घर के लिए रवाना न हुआ। पं० पद्मसिंह जी को कविताएँ सुनाने का बड़ा शौक़ था। सुनाते समय आवेश की-सी दशा में वह जा पहुँचते, एक समा बँध जाता, सुननेवाला कुछ काल के लिए मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता था। हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत की कविताओं का उनके पास अक्षय भण्डार था। उन दो-तीन दिनों में उनसे न-जाने कितनी कविताएँ सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ।

पण्डित जी के साथ एक दूसरे सज्जन भी, जो कांगड़ी गुरुकुल के अध्यापक थे, आए थे। साहित्यिक और सहृदय व्यक्ति थे। अफ़सोस है कि उनका शुभ नाम भूल रहा हूँ। श्रद्धेय शर्मा जी के विशेष आग्रह पर उन्होंने दो पंजाबी गीत सुनाये। मुझे वे गीत बहुत पसन्द आये, और इस यात्रा के पूरे एक वर्ष के बाद मैंने पण्डित जी से उन गीतों की याचना की। पत्र लिखने के एक सप्ताह के भीतर ही वे गीत मेरे पास आ पहुँचे। पण्डित जी ने लिखा—"वे पंजाबी गीत भेज रहा हूँ, पर अफ़सोस है कि वह सुरीला गला इसके साथ नहीं भेजा जा सका, जिसमें से निकलकर इन्होंने वह समा बाँध दिया था।"

कुछ दिनों के बाद मुझे इन गीतों की याद जाती रही, पर आज अकस्मात् एक कागज ढूँढते समय स्वर्गीय पण्डित जी का यह पत्र और उसके साथ भेजे हुए ये गीत पत्रों के पुलिन्दे से बाहर निकल आये। इन्हें देखते ही उस कनखल-यात्रा की स्मृति जाग उठी, और स्वर्गीय शर्मा जी की उस सौम्य मूर्ति की—'ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था' की स्थिति को मैं पहुँच गया।

ऊपर जिन दो पंजाबी गीतों का उल्लेख है, और जो शर्मा जी को बहुत प्रिय थे वे ये हैं—

(१)

घूंघट खोल सज्जणा। हुण शरमां केहियाँ रक्खियाँ वे,
जे जाणाँ तूं ऐवें करनी, मैं मूल न लादी अक्खियाँ वे।

हुण शरमां केहियां रक्खियां वे।
दो नैना दा तीर बनाया, मैं आजिज दे सीने लाया,
घायल कर के मुक्ख छपाया, ऐ घातां किन दस्सियां वे।
हुण शरमां केहियां रक्खियां वे।
जुलफ कुंडल ने घेरा पाया, बिछुप्रर बणके डंक चलाया,
कह खां तेरे की हथ आया, ऐ प्रीतां किथों सिक्खियां वे।
हुण शरमां केहियां रक्खियां वे।
मैं अयानी नेहड़ा की जाणां, तिंजन बैठी मौजां माणां,
इश्क तेरा मैंनू सौंण न देंदा, मैं डर दी आख न सक्कियां वे।
हुण शरमां केहियां रक्खियां वे।
हुस-रसके मैं लाइयां आपे, रोशन हुई नु भिड़कन मां पे,
ऐस इश्क दे बड़े सियापे, तू भुबा बैठा अक्खियां वे।
हुण शरमां केहियां रक्खियां वे।
मैं बन्दी दा जे तूं साईं, कदीं तां आवीं फेरा पाईं,
मिहर करीं ते मुख विखलाईं, मैं काग उडां दी थक्कियां वे।
हुण शरमां केहियां रक्खियां वे।
'बुल्लेशाह' नूं ना तरसावीं, करीं अनाएत मैं बल आवीं,
'शाह अनायत' गलनाल लावीं, मैं तेरी हो हो नक्खियां वे।
हुण शरमां केहियां रक्खियां वे।

घूंघट खोल सज्जणा=हे प्यारे! घूंघट खोल दे, परदा उठा दे; हुण=अब; शरमां=लज्जा; केहियां=किसकी; रक्खियां=रखता है; वे=सम्बोधन है!

मैं आजिज दे सीने लाया=मुझ गरीब निर्बल की छाती में मारा; ए घातां किन दस्सियां वे=ये घातें तुझे किसने सिखाई हैं?; जुलफ कुंडल ने घेरा पाया=सर्पाकार अलकावली; बिछुप्रर=बिच्छु; बिछुप्रर०=बिच्छु बन के डंक चलाया; कह खां०=कह तो सही, तेरे क्या हाथ आया?; ऐ प्रीतां०=यह प्रीत कहाँ से सीखी है?

मैं अयानी=मैं भोली बाला; नेहड़ा०=प्रेम क्या जानूं; तिंजन बैठी०=सखियों के संग बैठी चरखा कातती थी और मौज करती थी;

इश्क तेरा० = प्रेम तेरा मुझे सोने नहीं देता; मैं डर दी० = मैं डरती हूँ, (किसी से) कह भी नहीं सकती।

हस–रस० = हँसी-खुशी में मैं प्रेम लगा बैठी अर्थात् प्रेम का रोग लगा बैठी; रोशन० = जाहिर होने पर माँ-बाप झिड़कते हैं; ऐस इश्क दे० = इस प्रेम के; सियापे = रोना-कल्पना; भुवा० = आँखें फिरा बैठा।

कदीं० = कभी आ, फेरा लगा; मिहर करीं० = मेहरबानी करके मुँह दिखला; मैं काग० = मैं (तेरी प्रतीक्षा में) काग उड़ाती-उड़ाती थक गई।

नूं० ना तरसावीं = मत तरसाओ; करीं अनाएत = कृपा करो; मैं बल आवीं = मैं बलिहारी जाऊँ; शाह अनायत = इनायतशाह, बुल्लेशाह के गुरु—(सखी भाव से अपने प्रियतम—गुरु—को लक्ष्य करके ये पंक्तियाँ कही गई हैं); गलनाल लावीं = गले लगा लो; मैं तेरी० = मैं तेरी होकर नाची हूँ।

इश्क में 'नौ-गिरफ्तार' एक प्रेमिका के मनोभाव का कितना सुन्दर चित्रण है यह !

(२)

केती हजारां आलम है तां तू केहड़ी, तां तू केहड़ी, कुड़े, नी ?
तेरे जेहियां लक्ख हजारां, वाह-वाह पट्टियां फिरन बजारां,
इस फिरने सिर लक्ख पजारां, तां तू आवें ई इल्लत सहेड़ी कुड़े।।
(तां तू०)

सुरमा पा मटकैनी हैं, तो हूं सब दी बल्लत कैनी हैं,
मिरगां बांग रचैनी हैं, तेरे मगरेईं फिरदा लैहेड़ी कुड़े।
(तां तू०)

जब तू ओथों आई सी, तेरी सूरत-शकल इलाही-सी
तेरी चुनड़ी नूं दाग न स्याही-सी, हुण तें आवें ई चिक्कड़ लबेड़ी कुड़े
(तां तू०)

उमर गंवा लई मार पंज गिटड़ा, एह जग तैनूं लगदा मिठड़ा,
एथे रहण किसे दाणा दिस्स दा, आ चढ़ें 'हुबैना' दी बेड़ी कुड़े।
(तां तू०)

केती हजारां० = कितने हजार—असंख्य—सृष्टि हैं; तां तू० = है

बालिके ! उसमें तू कौन है ?

तेरे जेहियां० =तुझ जैसी हजारों-लाखों लड़कियां; वाह-वाह० = माँग-पट्टी करके बाजारों में घूमती हैं; इस फिरने० =इस फिरने ने ही लाखों को (प्रेम की आग में) जला दिया; तां तू आये० =तूने यह आफ़त अपने आप ही सिर पर ली है।

सुरमा पा० =सुरमा डालकर मटकती है और सबकी ओर देखती है; मिरगां वांग० =मृगा (मृगी) की तरह छलांगें भरती है; तेरे मग० =तेरे पीछे घात में शिकारी (प्रेमी, मौत) भी फिरता है।

जद तूं······चिक्कड़ लबेड़ी =जब तू वहाँ से आयी थी, तेरी सूरत-शकल ईश्वर के समान दिव्य थी, तेरी चादर पर न तो दाग था, न स्याही थी। अब तूने उसे अपने ही आप कीचड़ में सान ली है।

उमर गवां···गिटड़ा =कंकर के खेल में तूने अपनी उम्र गवां दी; एह जग० =यह दुनिया तुझे प्यारी लगती है; एथे रहण० =यहाँ किसी का रहना नहीं नजर आता; आ चढ़० =इसलिए हे लड़की ! आ, हुसैन (एक फ़कीर कवि) के बेड़े पर सवार हो जा, उसकी उपदेश-रूपी नाव पर सवार होकर संसार-सागर से पार हो जा।

कितनी मार्मिक, भावपूर्ण कविता है यह ! अध्यात्म-दृष्टि से तो है ही, काव्य-दृष्टि से भी उच्च श्रेणी की है।

मुसलमानों में सबसे पहुँचा हुआ सम्प्रदाय—यदि हम इसे सम्प्रदाय कहें तो—सूफ़ियों का है, जो अद्वैतवादी हैं और जिनके सिद्धान्त उपनिषदों से मिलते-जुलते हैं। मंसूर-सम्बन्धी इन दो पंक्तियों में उनके मत का निचोड़-सा है—

साहिबे-गुमराह के मैं किस तरह हमराह हूँ,
वह कहे अल्लाह 'हू' और मैं कहूँ अल्लाह हूँ।

अर्थात्, उन रास्ता भूले हुए (कर्मकाण्डी, द्वैतमार्गी) लोगों का साथी मैं किस तरह बनूं, जो खुदा को 'हू' (अरबी में खुदा का एक नाम) कहता है, यानी खुदा से भय ('हू' शब्द का दूसरा अर्थ 'भय' भी होता है) करता है, उसे अपने से अलग मानता है (भय दूसरे ही से होता है, अपने से नहीं) और मैं, इसके विपरीत, अपने आपको अल्लाह—खुदा, ईश्वर—मानता

हूँ (अर्थात् मैं अद्वैतमार्गी हूँ)।

उपर्युक्त सिद्धान्त के माननेवाले सूफ़ियों में एक-से-एक बढ़कर महात्मा—सन्त—हुए हैं, अरब में, फ़ारस में, भारतवर्ष में भी, जिनमें महामानव मंसूर का स्थान सबसे ऊँचा है।

इन्हीं सूफ़ी महात्माओं में सन्त बुल्लेशाह भी एक थे। यह पहुँचे हुए महात्मा थे। इन्होंने ही इन गीतों में से प्रथम गीत की रचना की थी। इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार हैं। कोई तो इन्हें बलख शहर का बादशाह बताता है, जो पीछे चलकर फ़कीर हो गये थे; कोई इन्हें कुस्तुनतुनिया का रहनेवाला, पर आधुनिक अन्वेषण के बल पर इनका जन्म-स्थान लाहौर जिले का एक ग्राम पंडोल प्रतीत होता है, जहाँ इन्होंने सं० १७३६ में जन्म लिया था। इनके कई पदों से यह साफ़-साफ़ परिलक्षित है कि यह प्रसिद्ध फ़कीर इनायतशाह के शिष्य थे। ये आमरण ब्रह्मचारी बने रहे। सं० १८१० में लाहौर जिले के कुसूर नामक स्थान में इनका शरीरपात हुआ। कुसूर में इनकी समाधि भी है।

सन्त बुल्लेशाह की विचारधारा महात्मा कबीर से बहुत मिलती है। उनकी तरह यह भी कर्मकाण्डियों के प्रबल विरोधी—उन्हें ढोंगी बताने वाले—थे, मन्दिर-मस्जिद के भी खिलाफ़। दिव्य प्रेम के उपासक थे यह, और इनके मतानुसार इसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब मनुष्य अहंता का परित्याग कर दे, सरलहृदय हो जाए, प्रेम के पथ पर चले। बुल्लेशाह ने बार-बार सखी-भाव से प्रियतम रूप में ईश्वर और अपने गुरु का सम्बोधन किया है और 'अजपा' साधना को सर्वश्रेष्ठ माना है। महात्मा मंसूर की तरह इश्क (दिव्य प्रेम) पर मरनेवालों में थे यह—

चढ़ा मन्सूर सूली पर पुकारा इश्क-बाजों को,
य उसके बाम का जीना है, आए जिसका जी चाहे!

बाम का जीना=कोठे की सीढ़ी

दरअसल चाहे वह हिन्दू सन्त हो या सूफ़ी फ़कीर, इससे श्रेष्ठ और है ही क्या? भगवान ने भी गीता में यही कहा है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते,
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।

अर्थात्, मुझमें मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए जो भक्त जन, अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझको भजते हैं, उन्हें मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ।

यहाँ निरन्तरता से अजपा-जप ही का आशय है, जिसका महात्मा बुल्लेशाह ने बार-बार जिक्र किया है।

बुल्लेशाह की रचनाएँ अधिकतर पंजाबी भाषा में हैं, कुछ हिन्दी में भी हैं, पर पंजाबी-मिश्रित। उनके दार्शनिक पंजाबी गीत बड़े उच्च श्रेणी के हैं, दार्शनिक विचार और साहित्यिक सौन्दर्य—दोनों से भरे-पूरे हैं।

अब उनकी तीन रचनाओं को देखिये जो हिन्दी में हैं। इनके संग गाने के राग भी दिये हुए हैं।

(१)

टुक बूझ कवन छप आया है।
इक नुकते में जो फेर पड़ा, तब ऐन-गैन का नाम धरा,
जब मुरसिद नुकता दूर किया, तब ऐनों ऐन कहाया है।
तुसीं इलम किताबां पढ़ दे हो, केहे उलटे माने कर दे हो,
बेमूजब ऐवें लड़ दे हो, केहा उलटा वेद पढ़ाया है।
दुइ दूर करो कोई सोर नहीं, हिन्दू तुरक कोई होर नहीं,
सब साधु लखो, कोई चोर नहीं, घट-घट में आप समाया है।
ना मैं मुल्ला, ना मैं काजी, ना मैं सुन्नी, ना मैं हाजी,
'बुल्लेशाह' नाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है।

(राग मालकोस)

(२)

अब तो जाग मुसाफिर प्यारे,
रैन घटी, लटके सब तारे।
आवागौन सराई डेरे, साथ तयार मुसाफिर तेरे,
अजे न सुनदा कूच-नगारे।
कर लै आज करण दी बेला, बहुरि न होसी आवण तेरा,
साथ तेरा चल चलल पुकारे।
आपो अपने लाहे दौड़ी, क्या सरधन क्या निर्धन बौरी,

लाहा नाम तू लेहु संभारे।
'बुल्ले' सहुदी पैरी परिये, गफलत छोड़ हिला कुछ करिये,
मिरग जतन बिन खेत उजारे।

(राग भैरों)

(३)

माटी खुदी करेंदी यार।
माटी जोड़ा, माटी घोड़ा, माटी दा असवार।
माटी माटी नू मारन लागी, माटी दे हथियार,
जिस माटी पर बहुती माटी, तिस माटी हंकार।
माटी बाग, बगीचा माटी, माटी दी गुलजार,
माटी माटी नू देखन आई, है माटी दी बहार।
हँस-खेल फिर माटी होई, पौंदी पाँव पसार,
'बुल्लेशाह' बुझारत बूझी, लाहु सिरों भों मार।

(राग काफ़ी)

निःसन्देह महात्मा बुल्लेशाह उन सन्तों में थे जिन्हें दिव्य प्रेम का अक्षय भण्डार प्राप्त था।

१७

मेरी अमरनाथ की यात्रा

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।'

—कालिदास

समुद्र से १३,६०० फीट की ऊँचाई पर पर्वतराज हिमालय की गोद में स्थित अमरनाथ के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन मैं बहुत दिनों से सुनता आता था। कुछ वर्ष हुए, अखबार में अमरनाथ के बहुतेरे यात्रियों के, अकस्मात् बाढ़ आ जाने के कारण, नदी के प्रवाह में बह जाने का सम्वाद भी पढ़ा था। अतएव पहले से वहाँ जाने का मेरा इरादा न था, पर जब आज से प्रायः २८ वर्ष पूर्व श्रीनगर, गुलमर्ग, आदि स्थानों में कुछ समय बिताकर मैं पहलगाम पहुँचा, तो यह जानकर कि अमरनाथ की यात्रा का आरम्भ यहीं से होता है, मेरे हृदय में वहाँ जाने की प्रबल उत्कंठा उत्पन्न हो आयी। हिमालय की अद्भुत शोभा देखने की मनोभिलाषा मेरी बहुत दिनों से थी। ऐसे तो मंसूरी, आदि पर्वतों को मैं कई बार देख चुका था, पर उनसे हृदय की यह लालसा न मिट सकी थी। अतएव इस बार जब अमरनाथ की राह में पहुँचने का अवसर आया, तब मैंने इस स्वर्ण-सुयोग को खोना उचित न समझा। अपने कई मित्रों के साथ, मौसम अव्यवस्थित होने पर भी अमरनाथ के लिये मैं चल पड़ा।

यहाँ यह बतलाना अप्रासंगिक न होगा कि अमरनाथ की मुख्य यात्रा साल में केवल एक बार, सावन के महीने में हुआ करती है। श्रावण-पूर्णिमा के दिन यात्री अमरनाथ पहुँचकर हिम-निर्मित शिवलिंग का दर्शन करते हैं और फिर उसी दिन वहाँ से लौट आते हैं। सावन शुरू होते ही काश्मीर-सरकार की ओर से रास्ता बनना शुरू हो जाता है। बर्फ काटकर यात्रियों के चलने योग्य पगडंडियाँ बना दी जाती हैं। यात्रा के समय सैकड़ों कुली रास्ते में

तैनात रहते हैं, और यात्रियों के साथ-साथ सरकार की ओर से पुलिस के सिपाही, मजिस्ट्रेट, डाक्टर, तहसीलदार, इत्यादि चलते हैं। भोजन का भी समुचित प्रबन्ध रहता है। यात्रियों को एक साथ ही चलना होता है, ताकि कोई खतरा न हो। इस पर भी बड़ी-बड़ी दुर्घटनाएँ यदा-कदा हो ही जाती हैं। ऐसी कुछ दुर्घटनाओं का उल्लेख आगे किया जायेगा।

पूर्वकाल में अमरनाथ की यात्रा का आरम्भ श्रीनगर से होता था, और अब भी यात्री अधिकतर वहीं से, एक खास दिन जुलूस बनाकर प्रस्थान करते हैं, पर अब पहलगाम तक, जो श्रीनगर से ६१ मील की दूरी पर है, मोटर की सड़क बन जाने के कारण यात्रा का वास्तविक आरम्भ पहलगाम ही से समझना चाहिए।

पहलगाम समुद्र से ७,२०० फीट की ऊँचाई पर है। वहाँ करीब १ मील का मैदान है, जिसके चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। यहाँ दो ओर से नदियाँ आकर मिली हैं, जिनके कल-कल-निनाद से सारा मैदान गूँजता रहता है। इन्हीं नदियों के तट पर अथवा पहाड़ से सटकर सैर अथवा स्वास्थ्य-सुधार के लिए आये हुए पथिक तम्बू तानकर निवास करते हैं। स्थान अत्यन्त रमणीक है।

पहलगाम से हम लोगों ने ५-७-३२ की प्रातः करीब ७ बजे प्रस्थान किया। उस समय तक काश्मीर-दरबार की ओर से रास्ता बनना शुरू नहीं हुआ था। ६ मील का पहाड़ी रास्ता तय कर हम लोग प्रायः १० बजे चंदन बाड़ी पहुँचे, और वहीं बर्फ़ के प्राकृतिक पुल के समीप दोपहर का खाना खाया। चन्दनवाड़ी के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती है कि महादेवजी ने यहाँ १,००० वर्ष तक तपस्या की थी। यह स्थान बड़ा ही सुन्दर और पवित्र है। बर्फ़ यहीं से शुरू हो जाती है। यहाँ से शेषनाग तक भोजपत्र के पेड़ों का जंगल है। इन्हें देखते ही 'कुमारसम्भव' के इस श्लोक का स्मरण हो जाता है—

न्यस्ताक्षरा धातु रसेन यत्र,
भूर्जत्वचः कुंजर बिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधर सुन्दरीणा—
मनंग लेख क्रिययोपयोगम्॥

अर्थात् हिमांचल के ऊपर विद्याधरियाँ अपने प्रेम-पत्र सिन्दूर आदि

धातु-रसों से भोज-पत्र पर लिखती हैं। उसमें यह भोज-पत्र 'हस्तिशिरोस्थित रक्तवर्ण' बिन्दु-समूह की भाँति अनुमित होता है। हिमालय के भोज-पत्र इस तरह के काम-व्यंजक पत्रों के लिखने के काम में विशेष सहायक होते हैं।

शेषनाग झील से निकलकर आयी हुई नदी उछालें मारती यहाँ से गुज़रती है। पहलगाम और शेषनाग—खासकर चंदनवाड़ी के बीच नदी के अति सुन्दर दृश्य देखने को मिलते हैं। फैले हुए देवदारु, धूप, भोजपत्र और वन्य कुसुमों के वृक्षों को, जिनकी डालें नदी के श्वेत जल को चूमती हुई-सी नजर आती हैं, देखकर कहीं तो डाक्टर इकबाल के इस शेर का स्मरण हो आता था—

झुक-झुक के देखती हो पानी को गुल की टहनो,
जैसे हसीन कोई आईना देखता हो,

और कहीं पत्थर की बड़ी-बड़ी चट्टानों से टकराते हुए नदी के तीव्र प्रवाह को देखते ही रवीन्द्रनाथ की ये पंक्तियाँ याद आ जाती थीं—

आजि ए प्रभाते रविर कर
केमने पशिल प्राणेर पर,
केमने पशिल गुहार आंधारे
प्रभात पाखीर गान ?
ना जानि केन रे एतो दिन परे
जागिया उठिल प्राण !
जागिया उठे छे प्राण,
जागिया उठे छे वारि,
उरे, प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारि।
थर-थर करि काँपे छे भूधर,
शिला राशि-राशि पड़ि छे खसे,
फुलिया फुलिया फेनिल सलिल
गरज उठे छे दारुण रोषे।
महा उल्लासे छुटिते चाय,
भूधरेर हिया टुटिते चाय,

प्रभात-किरणे पागल हइया,
जगत-माझारे लुटिते चाय।
केनरे विधाता पाषाण हेन,
चारि दिके तार बाँधन केन ?
भांग रे हृदय भांग रे बाधन,
साधि आजि प्राणेर साधन,
लहरीर परे लहरी तुलिया
आघात परे आघात कर।
मातिया जखन उठे छे परान,
किशेर आंधार किशेर पाषाण,
उथलि जखन उठे छे बासना,
जगते तखन किशेर डर !
आमि ढालिब करुणा-धारा,
आमि भांगिब पाषाण-कारा,
जगत प्लाविया बेड़ाबो गाहिया
आकुल पागल-पारा।
शिखर हइते शिखरे छुटिब,
भूधर हइते भूधरे लुटिब,
लटिनो हइया जाइब बहिया—
नव-नव देशे बारता लइया,
हृदयेर कथा कहिया-कहिया,
गाहिया-गाहिया गान।
अगाध बासना, असीम आशा,
जगत् देखते चाइ,
जागिया छे साध चराचर मय
प्लाविया बहिया जाइ।
यतो प्राण आछे ढालिते पारि,
यतो काल आछे बाहिते पारि,
यतो देश आछे डुबाते पारि

तबे आर की-वा चाइ,
पराणेर साथ ताइ।
की जानि की हलो आजि, जागिया उठिल प्राण,
दूर हते शुनि येन महासागरेर गान !
डाके येन-डाके येन-सिन्धुमोरे डाके येन !
आजि चारि दिके केन कारागार हेन !
आमि जाबो-आमि जाबो-कोथाय से कोन देश—
जगत ढालिब प्राण, गाहिब करुणा गान।
उद्वेग अधीर हिया, सुदूर समुद्रे गिया।
से प्राण मिशाबो, आर से गान करिब शेष।

('निर्झरेर स्वप्न-भंग' से)

अर्थात्, "आज इस प्रभात-वेला में रवि के हाथ किस प्रकार मेरे प्राणों का स्पर्श कर गये ? किस प्रकार प्रभात-पक्षियों का गान मेरे मन की अंधेरी गुफा में प्रवेश पा गया ? न-जाने क्यों, इतने दिनों के बाद मेरे प्राण जाग उठे हैं, प्राण जाग उठे हैं, जल में उफ़ान आ गया है। अरे, प्राण की वासना, प्राण का आवेश, कहीं अवरुद्ध किया जा सकता है ! भूधर थर-थर काँप रहा है। शिलाएँ टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर रही हैं। जल में फेन उठ आया है—वह दारुण रोष से गरज रहा है। वह महोल्लास में मुक्ति पाना चाहता है। भूधर का हृदय भंग होना चाहता है—प्रभात-किरणों से पागल होकर संसार को मँझधार में ही डुबोना चाहता है। क्यों रे, पाषाण विधाता ! चारों ओर तेरा बन्धन क्यों है ? अरे हृदय, तू विदीर्ण हो जा ! अरे बन्धनों, तुम सब टूट जाओ ! आज मैं प्राण का साधन सिद्ध करूँगा—लहर के ऊपर लहर लाऊँगा, आघात के ऊपर आघात करूँगा। जब प्राण पागल हो उठे हैं, तब क्या अन्धेरा और क्या पाषाण ! जब वासना उबल पड़ी है, तब संसार में डर कैसा ! मैं करुणा की धारा बहाऊँगा। मैं पाषाण का कारागार भंग करूँगा। जगत् को अप्लावित करके आकुलता लिए हुए पागलों की नगरी में चला जाऊँगा। एक शिखर से दूसरे शिखर पर दौड़ूँगा—एक भूधर से दूसरे भूधर के पास जाऊँगा। तरिणी बनकर मैं बह जाऊँगा—नये-नये देशों में जाऊँगा और गान गा-गाकर अपने हृदय की कहानी सुनाऊँगा। मैं इस

संसार में अगाध वासना और असीम आशा का संचार देखना चाहता हूँ। मेरे मन में यह साध जगी है कि यह सम्पूर्ण चराचर डूब जाए—बह जाए। जितने प्राण हैं, उन्हें मैं टाल सकता हूँ। जितने काल हैं, उनका मैं वहन कर सकता हूँ। जितने देश हैं, उन्हें मैं डुबो सकता हूँ। तब और क्या चाहिए! मेरे प्राणों की यही साध है। न-जाने क्या हुआ कि आज मेरे प्राण जाग उठे। ऐसा लगता है, जैसे दूर महासागर गान गा रहा है। प्रतीत होता है, जैसे मुझे पुकार रहा है—सिन्धु मुझे पुकार रहा है! आज चारों ओर कारागार-सा क्यों बन गया है? मैं जाऊँगा, मैं जाऊँगा! कहाँ—किस देश? इस संसार में अपने प्राण ढाल दूँगा और करुणा का गान गाते-गाते उद्विग्न-अधीर हृदय लिए सुदूर समुद्र के पास जाकर उसमें अपने प्राणों को मिला दूँगा—इस गान को समाप्त कर दूँगा।"

चन्दनवाड़ी से आगे बढ़ने पर एक अत्यन्त ऊँची चढ़ाई मिलती है, जिसे 'पिस्सू की चढ़ाई' कहते हैं। उसकी लम्बाई प्रायः डेढ़ मील है। मज़बूत-से मज़बूत लोगों के भी यहाँ छक्के छूटने लगते हैं। रास्ते के दोनों ओर बहुत से विषैले फूल और अन्यान्य पौधे हैं, जिनकी गन्ध से किसी-किसी के सिर में चक्कर-सा आने लगता है। इससे बचने के लिए हम लोगों ने अपने रूमालों में कर्पूर बाँध रखा था। कर्पूर ही इसकी दवा है। पिस्सू की चढ़ाई चढ़ते समय परिश्रम तो बहुत पड़ता है, पर खतरा कम है। हाँ, उतरना बहुत ही खतरनाक है खास कर यदि बारिश हो गयी हो। पाँव फिसलने लगते हैं।

इस सारे परिश्रम का पुरस्कार हमें उस समय मिलता है, जब हम पिस्सू की चढ़ाई समाप्त कर एक मैदान में जा पहुँचते हैं। हरित-दूर्वा-दलों से आच्छादित और हिम-मण्डित उच्च पर्वतों से परिवेष्ठित इस छोटे-से मैदान की शोभा देखने-योग्य है। इस स्थान की ऊँचाई अधिक है और यहाँ काफ़ी ठण्ड पड़ती है।

योजपाल के इस छोटे-से मैदान के एक-डेढ़ मील बाद एक दूसरी चढ़ाई मिलती है, जो चार-पाँच मील लम्बी है, पर ऊँची कम है। रास्ता बीहड़ और खतरनाक है। एक ओर ऊँचे पर्वत की दीवार और दूसरी ओर हज़ारों फुट की गहराई, छोटी-सी पगडण्डी जिसमें कहीं-कहीं घोड़े मुश्किल से अपने

दोनों पाँव सीधे रख सकते हैं। कई स्थानों पर भीषण जल-प्रपातों के बीच से गुजरना होता है। जल के वेग के कारण पाँवों का सीधा रखना भी मुश्किल है। हम लोग जब इस रास्ते से गुजर रहे थे, तभी ज़ोर की वर्षा आ गयी। आकाश मेघाच्छन्न हो गया, बिजली चमकने लगी, घन गरजने लगे—वह भी इस हुंकार के साथ कि कड़े-से-कड़े दिलवालों के भी हृदय कम्पित हो जाएँ।

किसी तरह चढ़ाई चढ़कर हम शेषनाग झील के समीप पहुँचे। तब तक आकाश भी साफ़ हो चला था, धूप निकल आयी थी। शेषनाग की शोभा देखते ही हम मन्त्र-मुग्ध-से हो गये, कुछ क्षणों के लिए अपने को भूल-से गये।

शेषनाग की शोभा अवर्णनीय और अद्वितीय है। इसका वास्तविक विवरण चित्रकार ही अपनी क़लम से दे सकता है, दूसरा नहीं। तुलसीदास के शब्दों में—

स्याम गौर किमि कहउँ बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

शेषनाग के इस सुन्दर सरोवर की लम्बाई प्रायः पाँच मील और चौड़ाई दो मील होगी। तीन ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, जो ऊपर से नीचे तक बर्फ़ से आच्छादित हैं, मानो वे चाँदी के बने हों। इनसे छोटे-बड़े दर्जनों जल-प्रपात गिरते हैं, जिनके जल से इसकी गोद सदैव भरी-पूरी रहती है। जल का रंग बिलकुल फिरोज़ा-जैसा अत्यन्त सुन्दर है। ऊपर जिस नदी का ज़िक्र किया जा चुका है, उसका उद्‌गम-स्थान भी यही है।

कालिदास ने 'कुमार-सम्भव' के आरम्भ में जिस नगाधिराज हिमालय का उल्लेख किया है (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः), उसका वास्तविक दर्शन यहीं होता है, और यहीं हिमालय की विस्तीर्णता अथवा विपुलता की भी झलक मिलती है। यहाँ से हटने को दिल नहीं चाहता। इच्छा होती है कि यहीं धूनी रमाकर बैठा जाए।

शेषनाग में हम लोगों ने रात गुज़ारी। सर्दी का हाल न पूछिये। शरीर का जो भाग कपड़ों के बाहर था, संज्ञाहीन-सा हो रहा था। कई वर्ष हुए यात्रा के समय—सावन के महीने में—कई सौ यात्री यहाँ डेरा डालकर रात

बिता रहे थे। इतने में अकस्मात् बर्फ पड़ने लगी, और वे हतभाग्य मृत्यु की गोद में जा पड़े। जो, जहाँ, जिस दशा में बैठा था, वहीं, उसी दशा में वह संज्ञाहीन हो गया।

शेषनाग के बाद का रास्ता सबसे विकट है। बर्फ़ ही बर्फ़ है। कई स्थानों में तो पूरे आधा मील तक हमें ऐसे रास्तों पर चलना पड़ा, जिनके ऊपर बर्फ़ बिछी हुई थी और नीचे नदियाँ बह रही थीं। इस तरह के रास्ते बड़े खतरनाक होते हैं। दैवात् यदि बर्फ़ फट जाए, तो प्राणान्त निश्चित है। पाँव भी खूब फिसलते हैं। गिरने तक की नौबत आती है, पर थोड़ी दूर जाने और बर्फ़ पर चलने के अभ्यस्त हो जाने पर खूब आनन्द मिलने लगता है। जहाँ-तहाँ खूब डर भी लगता है, खास कर जब पाँव धँसने लगते हैं। कई स्थानों पर हमारे घोड़े सीने तक बर्फ़ में धँस गये। एक जगह एक टट्टू इतनी जोर से फिसला कि बीसों फीट नीचे जा गिरा। भाग्यवश उस पर कोई सवार न था, सामान लदा हुआ था।

'उद्वेजयन्त्यंगुलिपार्ष्णिभागान मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र' में ऐसे ही मार्गों की ओर संकेत है। रास्ते में बहुत-सी पहाड़ी नदियाँ भी पार करनी होती हैं, जिनका प्रवाह बड़ा तेज है।

पंचतरनी पहुँचकर हम लोगों ने रात बितायी। रास्ते में एक और पड़ाव मिलता है, पर वह इन दिनों बर्फ़ के कारण ठहरने के योग्य नहीं था। पंचतरनी का प्राकृतिक दृश्य भी अत्यन्त सुन्दर है। पहाड़ों से घिरा हुआ एक मैदान है, जिसमें पाँच नदियाँ बहती हैं, वही पंचतरनी है। बर्फ बहुत है। काली बर्फ भी देखने को मिलती है। हमारे तम्बू के पास से बर्फ का कार्पेट शुरू हो जाता था। यहाँ से अमरनाथ कुल पाँच मील दूर रह जाता है। पर पथ दुर्गम है। एक बड़ी-सी चढ़ाई है, फिर दो-ढाई मील तक बर्फ़ का फर्श है, जिसके नीचे से यत्र-तत्र नदियाँ बहती हैं और तब अन्त में श्री अमरनाथ की गुफा है।

चढ़ाई-उतराई के बाद, जिस मार्ग से हम अमरनाथ गुफा के पास पहुँचे, वह प्रायः सीधा है। उसके दोनों ओर दो भीषण पहाड़ हैं, जिनकी बनावट और पहाड़ों से बिलकुल ही भिन्न है। ये ठीक लोहे के बने-से प्रतीत होते हैं। बड़े ऊँचे हैं, ऊपर से टूटे हुए हैं, मानो इन पर तोपों के गोले छोड़े गये

हों। एक को कैलास, दूसरे को भैरव पहाड़ कहते हैं। इनसे बहुत-से झरने गिरते हैं जिनका जल ठीक दूध-जैसा सफ़ेद है। गुफा के नीचे जो नदी बहती है, उसे अमर-गंगा कहते हैं। उसका जल भी दूध-सा सफेद और उसी जैसा गाढ़ा भी है।

कैलास और भैरव पहाड़ों के बीच अमरनाथ गुफा है। इसकी लम्बाई ५० फीट, चौड़ाई ५५ फीट और मध्य भाग की ऊँचाई ४५ फीट है। सामने से वह काफ़ी प्रशस्त दिखायी देता है। ऊपर से प्रायः बीसों जगह पानी की बूँदें टपकती रहती हैं। इनमें से एक स्थान—मध्य स्थान—पर पानी टपककर बर्फ़ बन जाता है, और इसी बर्फ़ का शिवलिंग बनता है। प्रति मास शुक्ल पक्ष के पहले दिन से शिवलिंग बनना शुरू होता है और पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण हो जाता है, फिर दूसरे ही दिन से वह घटने लगता है और अमावस के दिन बिलकुल विलीन हो जाता है। जिन्हें इनके देवत्व पर पूरा विश्वास है, वे इसे दुर्ज्ञेय नहीं समझते, पर जो सुधारवादी, मूर्तिपूजा के विरोधी अथवा अनीश्वरवादी हैं, उनके लिए यह एक जटिल समस्या है, जिसे सुलझाने में वे अब तक समर्थ नहीं हो सके हैं।

शिवलिंग की बर्फ़ का रंग अत्यन्त सुन्दर है। यह और बर्फ़ों से बिलकुल भिन्न हरित्‌वर्ण है। कहते हैं, यह वही स्थान है, जहाँ—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भव नेत्र जन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार।

'हे प्रभो! क्रोध दूर कीजिये, क्रोध दूर कीजिये आदि शान्त करनेवाले वचन अभी देवताओं के मुख से निकल भी न पाये थे, कि शिव-नेत्र से निकली हुई अग्नि ने कामदेव को भस्मीभूत कर डाला।'

शेषनाग, अमरनाथ और इनके बीच के पहाड़ वृक्षों से रहित, नग्न हैं। कारण यह बतलाया जाता है कि शिव-नेत्र से निकली हुई प्रचण्ड अग्नि ने कामदेव को भस्मीभूत तो किया ही, साथ-साथ अड़ोस-पड़ोस के पहाड़ों को भी जला डाला। हरे-भरे, लहलहाते हुए वृक्ष जलकर खाक हो गये। तब से फिर शायद उगे नहीं।

अमरनाथ की गुफा जिस पत्थर की बनी है वह देखने और छूने में श्वेत भस्म-सा (जिपसम स्टोन) है। यहाँ की यही विभूति है।

दो कबूतर इस गुफा में निवास करते हैं। किंवदन्ती है, कि एक बार शिव ने पार्वती को यहाँ अमर-कथा सुनाई थी, पास में ही एक अण्डा था, उसने भी अमर-कथा का श्रवण किया। उससे दो कबूतर पैदा हुए, जो अमर-कथा सुनने के कारण अमर हो गये। कपोतों का वह जोड़ा अमरत्व प्राप्त कर इस गुफा में तभी से निवास कर रहा है। यात्रा-काल में श्रावण पूर्णिमा के दिन बहुत से यात्री इस कपोत-दम्पति को देखकर भक्ति-भाव से गद्गद् हो रो पड़ते हैं।

अमरनाथ गुफा के पास ठहरने का—डेरा डालने का—कोई स्थान नहीं है, अतएव दर्शन कर उसी दिन पंचतरनी लौट आना होता है। पंचतरनी और अमरनाथ के बीच प्रायः दो मील तक रास्ते के दोनों ओर छोटे-छोटे सुगन्धित फूलों का जंगल है। शीतकाल के बाद बर्फ के पिघल जाने-पर ये उग आते हैं, इनके सौरभ से हवा लद जाती है।

हम लोग पंचतरनी उस समय लौटे जब संध्या होने जा रही थी—

धूसर संध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को,
अन्धकार अवसाद कालिमा लिए रहा बरसाने को।

अहा! उस समय की वह प्राकृतिक छटा हमें कभी न भूलेगी, जो कुछ काल बाद पहाड़ की चोटियों पर नजर आयी। दस बज चुके थे, निविड़ अन्धकार का साम्राज्य था। पर्वत प्रेतों की तरह खड़े थे—मौन, अस्पष्ट, पर उनके शिखर पर अब भी प्रकाश छाया हुआ था, ज्योति विद्यमान थी, मानो किसी ने आग जलाई हो। मैं देर तक इस दृश्य को देखता रहा, हृदय में न-जाने कितने भाव जाग उठे!

नींद के टूटते ही उन्हीं शैल-शिखरों पर उषाःकाल की स्वर्णिम ज्योति दिख पड़ी और शेक्सपीयर की इन पंक्तियों का स्मरण हो आया—

"Night Candle is burnt out, and Jocund Din
Stands tip-toe on the misty mountain top."

—जलकर हुई समाप्त, लखो, अब निशि की बाती।
संवरा हुआ प्रभात खड़ा है,

कुहराच्छादित गिरि-मस्तक पर,
खड़ा अंगुलियों पर आते जो विश्व विभातीं।
जल कर हुई समाप्त, लखो, अब निशि की बाती।

पंचतरनी से चन्दनबाड़ी लौटने के दो रास्ते हैं—एक शेषनाग होकर, दूसरा अष्टन मार्ग होकर। अष्टन मार्ग के रास्ते में एक जल-कुण्ड मिलता है, जिसे 'हत्यारा तालाब' कहते हैं। यह रास्ते के बहुत नीचे है। जल बिलकुल काला भयोत्पादक है। इस स्थान को मेघों का खजाना कहना चाहिए। यहाँ मेघ उसी तरह घिरे रहते हैं, जैसे छत्तों में मधुमक्खियाँ। बोलना मना है। आवाज होने से बादल फ़ौरन बरस पड़ते हैं। बारिश होने से पाँव बेतरह फिसलने लगते हैं। मार्ग इतना खराब है कि पग-पग पर गिरने का भय बना रहता है। श्रावण के महीने में यात्री अब इस मार्ग से नहीं जाते। एक बार कई सौ घोड़े और यात्री फ़िसलकर तालाब में जा गिरे, फिर उनका कोई पता न चला। तभी से, तालाब को 'हत्यारा तालाब' कहते हैं। यहाँ आते ही उस दुर्घटना की याद आ जाती है और रोमांच होने लगता है।

अमरनाथ की यात्रा में यदि आराम के साथ सफ़र किया जाए तो कुल छः दिन लगते हैं। पर ये छः दिन जीवन के उन मूल्यवान गिने-चुने दिनों में से होते हैं, जिनकी स्मृति हमें किसी और ही दशा में पहुँचा देती है। यात्रा में अपने साथ भोजन का पूरा सामान ले जाना चाहिए, क्योंकि एक तो रास्ते में अत्यधिक सर्दी पड़ने के कारण भोजन बड़ी मुश्किल से पकता है; दूसरे, दैवात् यदि वृष्टि होने लगी, तो छः दिन से अधिक लगने की भी सम्भावना रहती है। पानी पड़ते समय इन रास्तों पर चलना मृत्यु का आह्वान करना है। अकेले जाने की अपेक्षा मित्रों की एक टोली बनाकर जाना कहीं अच्छा है। खूब लुत्फ़ रहता है। हमारी पार्टी में भी हम कई व्यक्ति थे। मैं था, मेरे भाई साहब थे, नई रोशनी के महन्त श्री दर्शनदास जी और मेरठ कालिज के प्रोफ़ेसर धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री थे। कई लोगों का साथ रहने से बड़ा आनन्द रहा।

हिमालय की चोटियों पर ही, कहते हैं, परमात्मा की महिमा दिखायी पड़ती है। अमरनाथ की यात्रा में हमें उस ईश्वरीय महिमा की एक झलक अवश्य मिलती है। रास्ते की कठिनाइयाँ बहुत हैं। मार्ग दुर्गम है। पर इन

सारी कठिनाइयों का पारितोषिक हमें अद्भुत प्राकृतिक सौन्दर्य के रूप में मिलता है—कहीं बड़े-बड़े पहाड़, कहीं बड़ी-बड़ी घाटियाँ, कहीं मीलों तक फैली हुई बर्फ़ की फ़र्श, कहीं बड़े और कहीं छोटे जल-प्रपातों का समूह, पर्वत-सरिताओं की उद्वेलित तरंगें, वन्य-कुसुमों का सौरभ, कैलास से आयी हुई हवा, पर्वतों पर छायी हुई मेघमालाएँ हृदय में तरह-तरह के भावों का संचार करती हैं, एक दूसरी ही दुनिया में हमें पहुँचा देती हैं। कहीं तो हम प्रशान्त चित्त, मन्त्र-मुग्ध-से हो जाते हैं, और कहीं आनन्द से उछलने लगते हैं, अपने को भूल-सा जाते हैं। अन्तरात्मा प्रकृति से जा मिलती है। मार्ग की सारी कठिनाइयाँ प्रकृति के इन दृश्यों में विलीन हो जाती हैं, और तब हममें और प्रकृति में कोई भेद नहीं रह जाता है। हम एक हो जाते हैं।

१८

पद्मसिंह शर्मा के पत्र

जब तक जिये, लिखे सफ़रनामे,
चल दिए हाथ में कलम थामे—

यह शेर मुझे, जब कभी स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा की याद आती है, स्मरण हो आता है, और इसमें शक नहीं कि उन पर यह बड़ा मौजूं बैठता भी है, उनके जीवन का वास्तविक खाका खींच देता है। वह उन लोगों में थे जिन्होंने जीवन-भर, सिवाय साहित्य-सेवा के, और कुछ जाना नहीं, किया नहीं। लिखना-पढ़ना, यही उनके जीवन का एक-मात्र लक्ष्य रहा। संसार की और किन्हीं बातों से उन्होंने न तो सम्पर्क रखा, न उनमें दिलचस्पी ही ली। आदि से अन्त तक उनका जीवन विद्या-व्यसन और साहित्य-चर्चा ही में व्यतीत हुआ।

शर्मा जी के लेख—जिनका एक संग्रह आज से २७-२८ साल पूर्व 'पद्म-पराग' नाम से प्रकाशित हुआ था—साहित्य भण्डार की अमूल्य निधि तो हैं ही, उनके पत्र भी साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। हर्ष और सन्तोष का विषय है कि उनके पत्रों का एक संग्रह पिछले दिनों दिल्ली से प्रकाशित हुआ है, जिसका सम्पादन शर्मा जी के दो अनन्य मित्रों—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री हरिशंकर शर्मा—ने किया है। यह संग्रह एक सुन्दर दर्पण है, जिसमें लेखक का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित है। इन पत्रों से सर्वप्रथम पाठक को वह महान् अन्तर नजर आयेगा जो हिन्दी संसार के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यिकों में है। शर्मा जी को लिखने और पढ़ने दोनों का समान रूप से शौक़ था। जब कभी कोई पुस्तक या पत्रिका उन्हें मिल जाती तो उसे बिना आद्योपान्त पढ़े वह दम न लेते थे। अक्सर दो-दो बजे रात तक जगकर उसे समाप्त करते थे और यदि उसमें कोई सुन्दर वस्तु पा जाते—कोई अच्छे भाव, सुन्दर पंक्तियाँ, मौलिक विचार, तो फ़ौरन पत्र लिखकर वह लेखक को दाद देकर उत्साह प्रदान करते थे। कहीं

यदि कोई त्रुटि दिखाई देती तो उसे भी वह जताते, पर ऐसे ढंग से कि बुरा न लगता। उपर्युक्त पत्र-संग्रह के पृष्ठ १४१ पर छपे हुए एक पत्र की इन पंक्तियों पर ध्यान दें—

"···आज 'सुधा' में आपका लेख दीख पड़ा। बहुत खूब रहा। 'किस तरह मैं···' शेर मन्सूर का नहीं, जौक का है। मन्सूर की जीवनी में उनके भाव का द्योतक समझकर लिखा गया है। अकबर के दो शेरों का आपने खूब इस्तेमाल किया है। लेख बहुत अच्छा है···"

हिन्दी के विद्वानों में आज कौन है जो लेखक को इस प्रकार पत्र लिखकर दाद देता है। अधिकतर ऐसा देखा गया है कि हिन्दी भाषा के आधुनिक कवि और लेखक शायद ही किसी और की रचनाएँ पढ़ने का कष्ट उठाते हैं, और फिर पढ़कर दूसरों को उनकी रचनाओं पर दाद देना तो एक अनहोनी-सी बात है। स्वयं पत्र लिखना तो दर-किनार, दूसरों के पत्रों का उत्तर भी वे जल्दी नहीं देते हैं।

सन् १९३१ की एक घटना है, जो शर्मा जी की अध्ययनशीलता और साहित्य-संगीत-समीक्षा की क्षमता पर प्रकाश डालती है। हिन्दी प्रेस, प्रयाग, में वह उन दिनों ठहरे हुए थे। एक दिन शाम की डाक से 'विशाल भारत' का नया अंक आ पहुँचा। उसी शाम मित्रों ने गाने-बजाने का भी प्रोग्राम कर रखा था। उनका तकाजा था कि वह संगीत के इस आयोजन में, श्रोता के रूप में, अवश्य शामिल हों। उधर 'विशाल भारत' पढ़ने की भी उत्कण्ठा थी। इसके सम्बन्ध में उन्होंने अपने एक पत्र में श्री बनारसीदास जी को लिखा—

"···मैं 'विशाल भारत' पढ़ना चाहता था, उधर संगीत शुरू हो गया। मुझे पढ़ने का व्यसन तो है ही पर सितार सुनने के लोभ को भी संवरण नहीं कर सका। पार्टी में सम्मिलित न होना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा, मण्डली के पास बैठकर सुनना ही पड़ा···पहले सितार की गत बजी, उधर मैंने आपका सम्पादकीय पढ़ना शुरू किया। बड़े मजे में पढ़ता रहा, और आपके जोरे-क़लम की दाद देता रहा। 'सारनाथ में क्या देखा' खूब लिखा है, मार्के की टिप्पणी है···बेला सितार से भी अच्छा बजा। बड़ा तैयार हाथ था···बेला के साथ-साथ मैंने नन्ददास जी को समाप्त कर डाला। नन्ददास जी की

कविता मुझे बहुत पसन्द आई। आपने खूब लिखा है'''"

सारे पत्र में इसी तरह लेख, कविता और संगीत की समन्वित आलोचना है और अन्त में हार्मोनियम पर एक छोटा-सा छींटा भी—

"सितार और बेला के बाद हार्मोनियम का नम्बर आया तो मैंने कहा कि भई, अंगूर खिलाकर यह निम्बोलियाँ क्यों खिलाते हो?'''सितार आदि बाजों के लिए यह हार्मोनियम भी वैसी ही बला है जैसी तुलसीदास की रामायण के लिए राधेश्याम की रामायण'''"

साहित्यिक दृष्टि से शर्मा जी के पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो हैं ही, पढ़ने में अतिशय दिलचस्प भी हैं। एक बार आप कलकत्ते में किसी मित्र के घर ठहरे हुए थे। उनका लड़का तुकबन्दियाँ किया करता था। सुबह-शाम उनके पास घण्टों बैठकर उन्हें वह अपनी तुकबन्दियाँ सुनाता था। शिष्टाचार के नाते उन्हें सुनना पड़ता था। तुकबन्दियाँ रद्दी थीं पर करते क्या, अतिथि थे, न सुनें, यह संभव न था। अपनी इस बेबसी का इजहार करते हुए उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा—

कान खा जाते हैं कमबख़्त. जान भी खा जाएँगे।
सख़्त मुश्किल है कि मैं एक शायर का मेहमाँ हो गया॥

खेद है कि शर्माजी का यह रोचक पत्र इस संग्रह में नहीं आया।

स्वर्गीय शर्मा जी का यह दृढ़ मन्तव्य था कि संगीत की भाँति साहित्य-सेवा भी तभी सफल हो सकती है जब उसे साधना का रूप दिया जाए नहीं तो वह एक बाज़ारू वस्तु-मात्र ही रह जाती है। उसमें वह प्राण, जो उसे जीवित रख सके, नहीं आ पाता है। यही वजह थी कि वह स्वर्गीय पारसनाथसिंह को, जिनकी साहित्यिक प्रतिभा पर वह मुग्ध थे और जिनकी इन पत्रों में यत्र-तत्र उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है—बार-बार कहते रहे कि वह बिड़लों की नौकरी छोड़कर पूर्ण रूप से साहित्य-साधना में लग जाएँ। किन्तु अफ़सोस! पारसनाथ जी ने उनकी यह राय न सुनी। इसमें सन्देह नहीं कि यदि उन्होंने शर्मा जी का यह परामर्श माना होता तो आज उनका हिन्दी-भाषा के चन्द इने-गिने विद्वानों में शुमार होता, पर जैसा उन्होंने स्वयं शर्मा जी के नाम के एक पत्र में लिखा था—

आप बैठे साहित्य सम्हाल,
मैं जाता जीवन की ओर,

साहित्य-जगत् से मुँह मोड़कर वह अपनी अद्भुत प्रतिभाओं का दान बिड़ला ब्रदर्स ही को देते रहे। स्वर्गीय शर्मा जी ने दुःखित होकर एक पत्र में मुझे लिखा—'हाँ, आपने ईसा मसीह की उक्ति ठीक लिखी है। दो विरुद्ध काम एक साथ नहीं हो सकते। यानी, पारसनाथ जी बिड़लाओं के यहाँ रहते हुए साहित्य-सेवा के लिए समय नहीं निकाल सकते।'

फिर एक दूसरे पत्र में—

'पारसनाथ जी यदि साहित्य-सेवा में जुट जाते तो हिन्दी का भण्डार भर जाता, पर इस पुण्य कार्य में बिड़ला जी भरपूर बाधक हो रहे हैं। वह कुछ न करने देंगे।'

कहा है कि 'होता है वही जो मंजूरे खुदा होता है।' पारसनाथ जी ने बिड़लों का साथ न छोड़ा। उनके सेवा में उनके स्वास्थ्य का संहार हो गया और अन्त में रक्त-चाप रोग के वह शिकार होकर प्राण खो बैठे और जिनकी सेवा में उन्होंने प्राणोत्सर्ग कर डाला उन्होंने उनकी स्मृति-रक्षा के लिए कुछ न किया ! ऐसे ही मौकों पर आदमी की समझ में यह बात आती है कि कवि की इस वाणी में कितना सत्य है—

यूँ तो मुँह देखे की होती है मुहब्बत सबको,
जब मैं जानूँ कि मेरे बाद मेरा ध्यान रहे !

पत्रोत्तर देने में स्वर्गीय शर्मा जी आदर्श-स्वरूप थे। जिन दिनों वह प्लेग-जैसे सांघातिक रोग के चंगुल में फँसे हुए जीवन की घड़ियाँ गिन रहे थे, उन्होंने मित्रों के खतों के जवाब में, कई पत्र लिखे, जो इस संग्रह में सम्मिलित हैं। इनमें एक खत वह भी है जिसमें एक साहित्यिक विषय पर उन्होंने अपना मत प्रकट किया है। प्लेग-जैसे घोर कष्टप्रद और प्राणनाशक रोग में पड़े हुए व्यक्ति की इस साहित्य-निष्ठा की मिसाल शायद ही कहीं और मिले। वर्तमान हिन्दी के हमारे अधिकांश विद्वान् लेखक और कवि पत्र-लेखन-कला में, ठीक इसके विपरीत, इतने सुस्त हैं कि दर्जनों खत लिखिए, फिर भी 'दिल्ली दूर अस्त'—जवाब दूर ही रहता है, काम भले ही बिगड़ जाए पर वे जल्दी पत्रोत्तर न देंगे। पुराने साहित्यकारों में यह बात न थी।

उन्हीं का अनुसरण करनेवाले स्वर्गीय शर्मा जी इसके एक ज्वलन्त उदाहरण थे। वर्तमान साहित्यिकों के लिए उनका यह आदर्श अनुकरणीय है।

आम तौर पर यह धारणा है कि शर्माजी छायावाद के विरोधी थे, पर यह गलत है। छायावाद से उनका विरोध न था, विरोध उस छायावादी काव्य से था जो समझ में न आए; क्योंकि यदि कोई लेख और कविता ऐसी लिखी हो जो किसी की समझ ही में न आए तो उससे लाभ ही क्या? उसे सिवाय पागल के प्रलाप के और हम क्या कह सकते हैं? ऐसे ही काव्य की ओर संकेत था, जब उन्होंने कहा था—

अगर अपना कहा वह आप ही समझे तो क्या समझे,
मज़ा कहने का तब है, एक कहे और दूसरा समझे।

निर्विवाद है कि आज से प्रायः तीस वर्ष पूर्व हिन्दी संसार में छायावादी कविता की एक बाढ़-सी आ गई थी और छायावाद के नाम पर कूड़ा-कर्कट, अनर्गल बातें लिखी जाने लगी थीं। स्पष्टतः शर्मा जी का विरोध उनसे था। वास्तविक छायावादी रचनाओं को तो वह सिर्फ़ पसन्द ही नहीं करते थे, खूब पसन्द करते थे। वह तो छायावादी कवियों के प्रशंसक थे, जो उनके उन पत्रों से ज़ाहिर होता है जिनमें श्री सुमित्रानन्दन पंत का उन्होंने मार्मिक ढंग से उल्लेख किया है। एक जगह वह लिखते हैं—

'इस बार पहली बार पं० सुमित्रानन्दन पन्त से बिजनौर में मुलाकात हुई। आदमी तबीयत के साफ़ और 'जेन्टिलमैन' मालूम हुए। 'पल्लव' की भूमिका में जो पहले कवियों के विषयों में अन्ट-शन्ट, अनाप-शनाप, ऊल-जलूल लिखे गये हैं, उसे वापस लेने को कहते थे। यह भी कहते थे कि ब्रज-भाषा का विरोध करने के लिए मुझसे खास तौर पर कहा गया था, इसी से वैसा लिखना पड़ा, इत्यादि। गला सुरीला है। सुर-ताल के वाकिफ़ हैं। राग-रागिनियों के नाम जानते हैं। आजकल के एक आदर्श छायावादी कवि में जो गुण होने चाहिएँ, सब हैं। खुशी की बात यह है कि रोग से मुक्त हो गए हैं।'

संस्कृत की एक उक्ति है—

'वज्रादपि कठोराणि,
मृदूनि कुसुमादपि।'

'वज्र से भी कठोर कुसुम से मृदुल'—महापुरुषों का यह खास गुण है।

स्वर्गीय शर्मा जी के पत्रों से उनका यह चरित्र-गुण साफ़-साफ़ परिलक्षित होता है और इस अर्थ में ये पत्र उनके चरित्र-चित्रण के लिए बड़े सहायक हैं।

शर्मा जी दूसरों का दुःख देखकर रो पड़ते थे, यह उनकी स्वभावगत कोमलता जाहिर करता है। पर साथ ही मौक़ा आने पर स्पष्ट कहने में भी वह तनिक हिचकिचाते न थे, न किसी से मुँह-देखी बातें ही कहते थे। श्री बनारसीदास जी को उन्होंने एक पत्र में लिखा था—

'क्या आपने मेरे प्राइवेट पत्र·········जी को दिखलाए थे?······मुझे आपसे ऐसी आशा न थी······किसी भी लेख का रहस्य-भेद उसकी इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार नहीं करना चाहिए। आपके इस अनीतिमूलक आचरण से अत्यन्त दुःख हुआ है। मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ कि आखिर आपने ऐसा किसलिए किया, जब मैंने मना भी कर दिया था। आपके इस व्यवहार ने मेरी आँखें खोल दी हैं। 'हाली' ने सच ही कहा है—

जहाँ में अपने सिवा किसी पै कभी भरोसा न कीजिएगा,
जो अपना साया भी हो तो उसको तसव्वर अपना न कीजिएगा।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी पर उनका अनन्य स्नेह था, फिर भी उन्होंने अपने विचार प्रकट करने में साफ़गोई से काम लिया, यह उनकी स्पष्टवादिता का परिचायक है, 'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि' का प्रमाण है।

शर्मा जी के संस्मरणात्मक लेख बड़े उच्च दर्जे के हुआ करते थे। खासकर इसलिए कि वे उनके अन्तस्तल के उद्गार थे, मौखिक प्रशंसात्मक शब्द-मात्र ही नहीं। वह परदुखकातर, भावुक पुरुष थे और लिखते वक्त भावावेश की-सी दशा में पहुँच जाते थे। इसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही एक पत्र में लिखा है—

"कहाँ से लाऊँगा खूने जिगर इनको खिलाने को,
हजारों तरह के ग़म दिल के महमां होते जाते हैं।"

सूखे हुए ज़ख्म हरे हो जाते हैं। पुरानी चोटें ताज़ा होकर दुखती हैं। कभी-कभी सोए संस्कार जाग पड़ते हैं और दिल को बेचैन कर देते हैं। पं० भीमसेन जी के दुखप्रद संस्मरणों ने हिम्मत की कमर तोड़ दी। 'इस कूचे में धँसते जी डरता है······'

'पद्म-पराग' के पृष्ठ ऐसे संस्मरणों से भरे हुए तो हैं ही, उनके पत्रों में भी

इसके नमूने देखने को मिलते हैं। उनके सच्चे और करुण हृदय के उद्गारों की बानगी हमें इस संग्रह में मिलती है। एक मित्र के देहान्त पर, देखिए, किन कारुणिक शब्दों में उन्होंने अपने उद्गार प्रगट किए हैं—

"काल का चक्र बड़ी तेजी से चल रहा है। बड़े-छोटे सबको पीस रहा है। जीवन क्षण-भंगुर है। दुनिया के झगड़ों का अन्त नहीं। तूफ़ानी अनन्त सागर में तिनके की तरह मनुष्य बह रहा है। किनारे का पता नहीं। 'बहा जाता हूँ बेमक़सूद बहरे जिन्दगानी में'।"

'बहरे जिन्दगानी' में बहते हुए वह स्वयं भी भवार्णव की दूसरी ओर जा लगे, पर स्मृति-रूप में अपनी कृतियाँ छोड़ गए जो हिन्दी संसार के लिए गौरव की वस्तु हैं। लिखने में उन्हें कमाल हासिल था, कलम का वह जोर जो उन्हें प्राप्त था बिरले जनों को नसीब होता है। उनके एक-एक शब्द मानो बोलते हों। लिखनेवालों की आज कमी नहीं है, पर वह बात कहाँ!

शर्मा जी सरस-हृदय थे, सहृदय थे, अच्छी चीज़ों के प्रशंसक थे; पर थे स्पष्टवादी, किसी की खुशामद में आने वाले न थे—गलत बात अथवा थर्ड क्लास कृतियों पर कोई उनसे प्रशंसा की मुहर न लगवा सकता था। कहते हैं, एक बार उर्दू के एक मशहूर शायर ने उनसे अनुरोध किया कि वह उनकी पुस्तक की प्रस्तावना लिख दें—मंशा थी कि वह उसकी तारीफ़ में कुछ लिखें—और शर्मा जी ने ऐसा करना स्वीकार भी कर लिया, पर जब उन्होंने पुस्तक पढ़ी तो उसे निम्न श्रेणी का पाया। खैर, उन्होंने प्रस्तावना तो लिखी पर—

"ज़हरे हलाहल को मैं कह न सका कंद!"

वह उसे बढ़ियापन का सर्टिफिकेट न दे सके। फलस्वरूप वह प्रस्तावना ज्यों-की-त्यों पड़ी रही। हज़रते शायर को यह साहस न हुआ कि वह उसे छपाएँ—और वह शर्मा जी के घनिष्ठ मिलने-जुलने वालों में थे!

इसी तरह 'विशाल भारत' के सम्पादक श्री बनारसीदास जी ने जब उनके एक लेख पर—जैसा सम्पादक अपनी 'जिद' में बहुधा किया करते हैं—छुरी चला दी, कुछ अंश काट दिए, तो उन्होंने लिखा—"खैर, आपने और तो जो कुछ किया क्षन्तव्य है पर एक जगह रग पर नश्तर मार दिया। 'इखलाकी मौत' वाला वाक्य निकालकर रस-भंग कर दिया। सारा मजा किरकिरा हो गया। वाक्य असम्बद्ध-सा हो गया। जरा पढ़कर देखिए—

'लाचारी है कोई नौहागर नहीं मिलता।' इसके आगे का वाक्य न रहने से चमत्कार ही जाता रहा। 'हैरां हूं दिल को रोऊं कि पीटूं जिगर को मैं' का भाव तभी स्पष्ट और सुसंगत होगा जब दिल और जिगर के स्थानीय दो कोई हों।'

स्मरण रहे कि ये बातें उस व्यक्ति को लिखी गई हैं जिसे वह जी-जान से प्यार करते थे। पर उनकी यह स्वभावगत लाचारी थी कि वह जो अनुभव करें, वही बोलें और किसी की मुँह-देखी न कहें। अकबर ने कहा था कि जो बात सही होगी, अवश्य कहूँगा—

'नहीं रुकने का मैं हर्गिज, परी टोके या जिन टोके'

स्वर्गीय शर्मा जी का भी यही सिद्धान्त था और उनके पत्रों में इसके एक-दो नहीं, दर्जनों दृष्टान्त हैं।

'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' के पृष्ठों में उनकी अद्वितीय लेखन-शैली प्रचुर परिमाण में बिखरी पड़ी है। यही नहीं यह ग्रन्थ उनकी कुशल पत्र-लेखन-कला का अद्भुत नमूना है, उनके विचारों का, मनोवृत्तियों का जबर्दस्त परिचायक है। उनका विद्या-प्रेम, उनकी सुखनफ़हमी, सुखनसंजी, सुखनदानी का एक 'रेकार्ड' है। पत्रों का यह सुन्दर संग्रह उनकी आत्मकथा के समान है। यह उनके विचारों का लेख-प्रमाण ही नहीं, उनके साहित्यिक कार्यों का रोजनामचा भी है। इसे तत्कालीन हिन्दी साहित्य का इतिहास भी समझिए। पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो हम आज से ३०-४० वर्ष पूर्व के साहित्यिक वातावरण में विचर रहे हों। तब के और आज के साहित्यिक जीवन में, विचारधारा में कितना फर्क है! संगृहीत कई पत्रों में शर्मा जी ने अपना यह मन्तव्य कि साहित्यिक राजनीति से अलग रहें, दूर रहें, बार-बार प्रकट किया है, पर आज हम उससे लिपटे जाते हैं, उसमें तल्लीन हैं। हमारा अभीष्ट साहित्य-सेवा नहीं, आत्म-सेवा हो रहा है और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की अध्यक्षता की अपेक्षा सरकारी नौकरी अथवा मन्त्री-पद हमें कहीं अधिक प्यारा है। जो हमारे उच्च श्रेणी के साहित्यिक या कवि हो सकते थे वे आज मन्त्री बने हुए हैं। साहित्य-निर्माण से उन्होंने अपने को दूर कर रखा है। यही नहीं, अपने पुराने साहित्य-संगियों से मिलने-जुलने तक में उन्हें अरुचि हो गयी है।

विद्वान् सम्पादकों और प्रकाशकों को हम इस ग्रन्थ के प्रकाशन पर बधाई देते हैं। इस पुस्तक ने स्वर्गीय शर्मा जी की स्मृति जगा दी है, याद ताजा कर दी है। इसे पढ़ते हुए हमें बरबस भारतेन्दु की इस उक्ति का स्मरण हो आता है—

कहेंगे सबेई नैन नीर भरि-भरि पाछे,
प्यारे हरीचन्द की कहानी रहि जावेगी।

अच्छा होता यदि पुस्तक के अन्त में उन संस्थाओं, विषयों और जनों के सम्बन्ध में, जिनका इसमें उल्लेख है, विशद् टिप्पणियाँ होतीं ताकि पाठक उन्हें अधिक सुगमता से समझ पाते। पर पुस्तक की यह कमी उसकी विभिन्न खूबियों में उसी प्रकार छिप जाती है जिस प्रकार—

एकोहि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दो: किरणेष्विवांक:।

१६

अंग्रेज़ी कूटनीति के शिकार—वाजिदअली शाह

महाकवि अकबर ने लिखा था—

गुरप वाले जो चाहें दिल में भर दें,
जिसके सर पर जो चाहें तोहमत धर दें,
बचते रहो इनकी तेज़ियों से 'अकबर'
तुम क्या हो, खुदा के तीन टुकड़े कर दें।

और इसमें सन्देह नहीं कि यद्यपि चाणक्य-जैसा कूटनीतिज्ञ हमारे ही देश में पैदा हुआ, तथापि इस विद्या के व्यावहारिक रूप ने यूरोप में जो प्रसार पाया, वह हमारे देश में नहीं। सदियों तक यूरोपवालों की कूट-नीति ने संसार को परेशान किये रखा। आज भी वह इससे पूरी तरह परित्राण नहीं पा सका है।

यूरोपियनों में भी अंग्रेज कूटनीति के आचार्य माने गए हैं। इतिहास बताता है कि किस तरह उनकी कूटनीति सारे संसार में आज सैकड़ों वर्षों से काम करती रही है; सच को झूठ और असत्य को सत्य बनाने में उन्हें कैसा कमाल हासिल है। अकबर ने जब उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी थीं तब शायद उनकी नजर अंग्रेजों पर ही थी, और यदि इसकी यथार्थता का प्रमाण ढूंढना हो तो हम अंग्रेजों की उस नीति को देखें जो उन्होंने अवध के नवाब वाजिदअली शाह के साथ बरती।

नवाब वाजिदअली शाह को आज संसार एक निकम्मा, विलासी, चरित्र-हीन, गुणहीन व्यक्ति के रूप में जानता है। इतिहास के पृष्ठों में उनका चरित्र-चित्रण बड़े काले ढंग पर हुआ है। पर क्या संसार को यह पता है कि वह एक महान् गुणी और योग्य शासक थे, किन्तु अंग्रेजों की दाल न गलने देने के कारण वह उनके कोप का भाजन बने और इतिहास में इस तरह उनकी मिट्टी पलीद की गई! अकबर के इस कथन की कि 'गुरप वाले जो

चाहें दिल में भर दें, जिसके सिर पर जो तोहमत चाहें धर दें वह एक जबर्दस्त मिसाल है। वस्तुतः अवध के शासकों में शायद ही कोई ऐसा पैदा हुआ हो, जो वाजिदअली शाह जैसी योग्यता और गुण-गरिमा रखता हो। उनके पितामह अमजदअली और पिता मोहम्मदअली शाह दोनों ही अयोग्य शासक थे। अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में वे असफल रहे, विशेषकर इसलिए भी कि वे गद्दी पर तब बैठे जब वे काफ़ी वृद्ध हो चुके थे, जब उनमें न तो शारीरिक बल शेष था, न बौद्धिक ही। पर जब वाजिदअली शाह ने गद्दी पायी तब वह जवान थे; शरीर में बल था और हृदय में उत्साह। दोनों ही उनमें प्रचुर परिमाण में विद्यमान् थे। तख़्तनशीन होते ही वह फ़ौज के पुनर्गठन में लगे। स्वयं घण्टों धूप में खड़े रहकर वह क़वायद कराते; एक मिलिटरी कोड, फ़ौजी कानून, की उन्होंने सृष्टि की। बड़ी कड़ाई के साथ वह फौज की अनुशासनहीनता के सुधार में लगे और इधर ईस्ट इण्डिया कम्पनी उनके इन कामों को बड़ी शंकित दृष्टि से देखने लगी।

इतना ही नहीं, सांस्कृतिक कामों में भी वाजिदअली शाह ने पूरी मुस्तैदी से हिस्सा बटाना शुरू किया। लखनऊ पुनः एक सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। वह स्वयं कई भाषाओं के ज्ञाता थे। फ़ारसी, अरबी और उर्दू के अलावा संस्कृत, हिन्दी, फ्रेंच और अंग्रेजी से भी उनका अच्छा परिचय था। इन भाषाओं में उन्होंने पुस्तकें भी लिखीं, जिन्हें आगे चलकर अंग्रेजों ने नष्ट कर डाला, जिसके कारण वे आज, अवध के दो-एक पुराने घरानों को छोड़कर और कहीं उपलब्ध नहीं हैं। साहित्य और संगीत में उनकी पूरी दक्षता थी। वह 'अख़्तर' तख़ल्लुस से शायरी करते थे। 'ठुमरी' नामक राग के आविष्कर्ता भी वही थे। उनकी बनायी हुई सैकड़ों ठुमरियाँ आज भी हिंदुस्तान में गायी जाती हैं। कहते हैं 'पिया' नाम से प्रचलित सारी ठुमरियाँ उन्हीं की बनायी हुई हैं।

वह एक बड़े गुणी और सुसंस्कृत पुरुष थे। तब वह एक पत्नीव्रती भी थे। चरित्र-दोष से सर्वथा रहित थे। तख़्त पर बैठते ही एक विषय को लेकर अंग्रेजों से उनकी भिड़न्त हो गयी, वह था दोआबा का प्रश्न जिसकी पृष्ठभूमि इस प्रकार थी—

पलासी के युद्ध में अंग्रेजों के खिलाफ नवाब अवध की फ़ौज भी लड़ी,

पर अंग्रेज विजयी हुए और उसके बाद की सन्धि के अनुसार अवध के नवाब को अंग्रेजों को क्षति-पूर्ति के रूप में गंगा और यमुना के बीच का वह इलाक़ा, जो दोआबा के नाम से मशहूर है, देना पड़ा—इस शर्त के साथ कि अमुक समय के उपरान्त वह पुन: अवध के नवाब को लौटा दिया जाएगा। कालान्तर में कम्पनी और नवाब के बीच यह जबर्दस्त झगड़े का कारण बना। अंग्रेजों की यह आन्तरिक आकांक्षा थी कि यह इलाका कभी उनके हाथ से न निकले, पर वे सन्धि की शर्त से लाचार थे।

शुजाउद्दौला के मरने के बाद—याद रहे कि इन्हीं के हाथ से निकलकर यह इलाक़ा कम्पनी की अधीनता में चला गया था—आसफ़ुद्दौला गद्दी पर बैठे। इनकी दानशीलता के सम्बन्ध में यह कहावत मशहूर थी कि 'जिसे न दे मौला, उसे भी दे आसफ़ुद्दौला।' उनके बाद गाजीउद्दीन हैदर अवध की गद्दी पर आए। वह शासन में बड़े निपुण और सख्त थे। अंग्रेजों को ऐसे का गद्दी पर बैठना कब पसन्द होता? अत: उन्होंने उनके प्रति भी उसी नीति का उपयोग किया, जिसे उन्होंने नेपोलियन के लिए किया था; अर्थात्, एक परम सुन्दरी अंग्रेज रमणी को उनके पीछे लगाया। गाजीउद्दीन उसके आकर्षण में जा फँसे, उससे उन्होंने शादी कर ली। उसके इशारों पर वह चलने लगे। कहते हैं, अन्त में उसी ने उन्हें विष भी दिलवाया।

इसके बाद तख्त पर नसीरुद्दीन हैदर बैठा, जिसकी अयोग्यता की कथाएँ लोक-प्रसिद्ध हैं। इसके शासन-काल में अवध बादशाहत की नींव बिलकुल हिल गयी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभाव स्वभावत: बढ़ चला। नसीरुद्दीन की कोई सन्तान न थी, अत: उसके मरने पर उसके भ्राता, अमजदअली शाह, गद्दी पर बैठे। पर वह बूढ़े थे, अधिक दिनों तक जिन्दा न रहे।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह साफ़ परिलक्षित है कि वाजिदअली शाह के तख्तनशीन होने के पूर्व कई अयोग्य शासकों के कारण अवध सल्तनत की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो चली थी और इसके फलस्वरूप अंग्रेजों ने काफ़ी शक्ति संचित कर ली थी। अतएव यह स्वाभाविक था कि वाजिदअली शाह ने जिस कड़े और निपुण ढंग पर शासन करना शुरू किया, वह अंग्रेजों के लिए कड़वा घूँट साबित होता। उसे वे पी न सके। वे वाजिदअली शाह को

असफल बनाने के उपाय ढूंढने लगे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रतिनिधि डलहौजी उन दिनों कम्पनी के राज्य-विस्तार में लगा हुआ था। वह पंजाब और बर्मा को हड़प चुका था और अब अवध और बरार के हड़पने के षड्यन्त्र में लगा था। अवध के कवलीकरण के लिए वह विशेष रूप से बेचैन था। संयोगवश उसे इस कार्य-साधन में एक ऐसे व्यक्ति का सहयोग प्राप्त हो गया, जो काफी प्रभावशाली और नवाब का विश्वासपात्र भी था। वह था सीतापुर जिले के मचरहटा ग्राम का निवासी, अली नकी खाँ, जिसकी पुत्री वाजिदअली शाह को ब्याही थी अर्थात्, वह नवाब का ससुर था, साथ ही वजीरेआजम भी। डलहौजी ने वादा किया कि वाजिदअली शाह को गद्दी से उतारकर वह उसे ही तख्त पर बैठाएगा। फलतः राज्य-प्राप्ति के लोभ में आकर नकी खाँ उसके षड्यन्त्र में जा मिला। पर वाजिद-अली शाह बड़े लोकप्रिय थे, उन्हें सहसा तख्त से उतार देने का डलहौजी को साहस न हुआ। अतएव नकी खाँ की राय से यह तय पाया कि वाजिद-अली शाह की बुद्धि भ्रष्ट कर दी जाए, उनके दिमाग को कुश्ते की मदद से पागलों-जैसा बना डाला जाए। लखनऊ में उन दिनों कुश्ता (भस्म) बनाने का हुनर पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। इसके द्वारा बड़े-से-बड़े कामों में सफलता प्राप्त की जा रही थी, कठिन-से-कठिन रोग अच्छे किये जाते थे, मनुष्य की प्रकृति तक में घोर परिवर्तन लाया जा सकता था।

पर प्रश्न यह था कि वाजिदअली शाह को कुश्ता खिलाए कौन? उनका आहार-विहार बड़ा संयमित था। कुश्ता का वह मुतलक इस्तेमाल नहीं करते थे। हाँ, सुर्मा लगाते थे। यही एक उपाय था, जिसका नकी खाँ ने उपयोग किया, अर्थात् सुरमे में नियमित रूप से वह कुश्ता मिला-मिलाकर देने लगा। नवाब का विश्वासपात्र था वह, उस पर सन्देह की गुंजायश न थी। अतएव वाजिदअली शाह में एक विचित्र परिवर्तन लाने में वह आसानी से समर्थ हो सका। उनके भीतर असाधारण काम-पिपासा उत्पन्न हो उठी जिससे वह परेशान हो उठे। उनके गुणों का, कार्य-शक्ति, बौद्धिक बल आदि सभी चीजों का शनैः शनैः ह्रास हो चला।

नकी खाँ ने बादशाह की जागृत काम-चेष्टा में घी की आहुति डालना शुरू किया। बेगमों की संख्या बढ़ने लगी। नकी खाँ स्वयं लड़कियाँ इकट्ठी

करता और इस प्रकार कुछ दिनों में वाजिदअली शाह की बेगमों की संख्या सैकड़ों हो गयी। उनका सारा वक्त अब भोग-विलास में व्यतीत होने लगा। फिर भी उनका विवेक बिलकुल नष्ट न हुआ और उन्होंने जिसे भी रखा, शादी करके, बेगम बनाकर, रखैल के रूप में नहीं। यही नहीं, अन्त तक उनका यह आदेश था कि कोई भी अविवाहिता स्त्री बाँदी के काम पर उनके पास न रखी जाए। काम-वासना पर वह नियन्त्रण खो चुके थे पर विवेक नहीं; और इसीलिए उन्होंने यह आदेश जारी किया।

डलहौजी को अब आगे कदम बढ़ाने का अच्छा मौका मिला। वाजिद-अली शाह पर उसने अयोग्यता, शासनहीनता, आदि के तरह-तरह के आरोप लगाये। वाजिदअली शाह ने गद्दी पर बैठते ही दोआबा के पुनरा-गमन का प्रश्न उठाया था, जिससे डलहौजी घबरा उठा था और इसीलिए वह 'येनकेन प्रकारेण' उन्हें राज-च्युत करने की फिक्र में लगा था।

अन्त में डलहौजी का प्रयत्न सफल हुआ और वाजिदअली शाह गद्दी से उतार डाले गये। किन्तु नकी खाँ हाथ मलते रह गये। डलहौजी ने पंजाब की तरह अवध का भी कवलीकरण कर लिया। हेनरी लॉरेंस एक प्रमुख अंग्रेज शासक था, उस तक ने लिखा——

"अवध के सम्बन्ध में अंग्रेजों का हस्तक्षेप'''ब्रिटेन के नाम पर धब्बा लगानेवाला है।"

वाजिदअली शाह कलकत्ता के लिए रवाना हुए। चलते वक़्त उन्होंने अपने राजप्रासाद की ओर देखकर यह मार्मिक शेर पढ़ा——

दरो दीवार पै हसरत से नज़र करते हैं,
खुश रहो, अहले वतन! हम तो सफ़र करते हैं।

डलहौजी ने उनके खिलाफ़ सात आरोप लगाये थे। उन्होंने उन सबके जवाब में एक पुस्तक अंग्रेजी, फ्रेंच, आदि कई भाषाओं में लिखी जिसे अंग्रेजों ने आगे चलकर जब्त कर लिया, और उसकी सारी प्रतियाँ नष्ट कर डालीं। कलकत्ते से उनका उद्देश्य लन्दन जाकर महारानी विक्टोरिया से मिलने का था, पर डलहौजी इसे ताड़ गया और उसने ऐसा न होने दिया, उन्हें मटिया-बुर्ज में नजरबन्द कर रखा। जीवन के शेष दिन उन्होंने मटियाबुर्ज में ही बिताए। साहित्य-चर्चा में वह कालक्षेप करते रहे। इंगलैण्ड के बादशाह

जार्ज पंचम जब प्रिन्स ऑफ वेल्स की हैसियत से हिन्दुस्तान पधारे तब नवाब वाजिदअली शाह जिन्दा थे। प्रिन्स ऑफ वेल्स ने स्वयं जाकर उनसे भेंट की, वाजिदअली शाह ने उन्हें 'फिरोजा' का एक चाय-सैट भेंट के रूप में दिया। जाहिर है कि एक जमाने में अवध के नवाबों के पास बेइन्तहा दौलत थी।

कई वर्ष हुए मैंने एक फ्रांसीसी महिला का लिखा हुआ भारत-भ्रमण-वृत्तांत पढ़ा था। उसमें उसने लिखा था कि यहाँ आकर वह अवध के तत्कालीन नवाब की छोटी बेगम से लखनऊ में मिली। बेगम ने उसे अपने बगल में बैठाया और चलते समय हीरा, पन्ना, पुखराज, आदि कीमती पत्थरों और मोतियों से उसकी गोद भरी। वह लिखती है कि जब इनकी कीमत कूती गयी तो लाखों में थी। इस एक मिसाल से ही उनके—अवध के नवाबों के—धन का अनुमान किया जा सकता है। पर उनकी यह दौलत अंग्रेजों के हाथ में न आ सकी। कहते हैं, फैजाबाद (अवध की पहली राजधानी) और लखनऊ के बीच वह कहीं गड़ी पड़ी है, जिसका अब तक पता नहीं चल सका है।

भारतवर्ष का इतिहास अंग्रेजों का लिखा हुआ है। वह एक खास दृष्टि-कोण से लिखा गया था। उसके द्वारा उन्होंने बहुतेरी गलत भ्रमात्मक बातें फैलायीं; संसार के सामने ऐसे लोगों को, जो उनके विरोधी थे, काला दिखलाया। नवाब वाजिदअली शाह भी ऐसे ही जनों में से एक थे। आवश्यक है कि स्वतन्त्र भारत में भारत का इतिहास फिर से लिखा जाए जिससे अंग्रेजों की फैलायी हुई इन असत्य बातों का, भ्रान्तियों का उचित संशोधन और निराकरण हो सके। भारत सरकार को शीघ्र ही इस ओर क़दम उठाना चाहिए।

जहाँ तक नवाब वाजिदअली शाह का सम्बंध है, निःसन्देह इतिहासकारों ने उनके साथ औचित्य का व्यवहार न किया, उनके गुणों की उपेक्षा कर उनकी कमजोरियों पर ही दृष्टि डाली। अज्ञानवश वे अंग्रेजों की साजिश में मिले। यह आवश्यक है कि आज हम उनके सम्बन्ध में निरपेक्ष और नए दृष्टिकोण से फिर से विचार करें।

२०

कीमिया और कीमियागर

'आंना के ख़ाकरा ब-नज़र कीमिया कुनन्द'—

'वे लोग[1] जो अपनी नज़र से मिट्टी को कीमिया बना देते हैं।'

कीमिया उस रसायन-विद्या को कहते हैं जिसके द्वारा निम्न श्रेणी की धातु सोना-चाँदी में परिवर्तित की जाती हैं अर्थात् सोना-चाँदी बनाने की विद्या ही कीमिया है। यह अरबी भाषा का शब्द है। एक ज़माना था जब अरब में इस विद्या का काफ़ी प्रचार था, पर अरबवालों की यह निजी चीज़ न थी। उन्होंने यूनानवालों से, जो अलक्जेण्ड्रिया में आकर बसे थे, इसे प्राप्त किया था। अरब से यह चीज़ पश्चिमी यूरोप में जा पहुँची। इसके सम्बन्ध में यह लोक-विश्वास सदियों तक बना रहा कि स्वर्ग के बदमाश फ़रिश्तों ने इसे जान-बूझकर मानव को बताया था ताकि इस भेद को खोलकर वे खुदा से बदला ले सकें।

पर चाहे स्वर्ग के फ़रिश्तों ने इसका रहस्योद्घाटन किया हो या नहीं; इसमें शक नहीं कि पूर्वकाल में इस विद्या के जाननेवाले इसे बड़े यत्न से गुप्त रखते थे, आसानी से वे किसी को बताते न थे। मुझे इसका एक निजी अनुभव है।

आज से प्रायः चालीस साल पहले की बात है। मेरे पिता जी के पास एक वृद्ध मुसलमान सज्जन आया करते थे, जो हकीम थे। बड़े कुशल, पीयूषपाणि चिकित्सकों में वह समझे जाते थे। कुछ ही दिनों से वह निकटवर्ती एक नगर में आकर रहने लगे थे। वह कहाँ से आये, कहाँ पैदा हुए, कहाँ उन्होंने तालीम पाई, आदि प्रश्नों का यथार्थ उत्तर उन्होंने कभी न दिया, और न यही बताया कि उनकी उम्र क्या थी। उम्र के सम्बन्ध में पूछने पर वह एक लंबी-

---

१. सन्त, महात्मा, फ़क़ीर।

सी सूची बता डालते थे कि उन्होंने अपने जीवन के कितने दिन कहाँ गुजारे—बीस वर्ष तुर्किस्तान में, चालीस मिश्र में, पचीस तिब्बत में, पचीस यूनान में, साठ चीन में, दस बंगाल में आदि-आदि, जिन्हें जोड़ने पर मीजान प्रायः ढाई-तीन सौ वर्षों का होता था। उनकी उम्र इतनी भले ही न रही हो, पर ६०-१०० वर्ष से कम के वह अवश्य ही न थे। लम्बा क़द, बदन पर झुर्रियाँ पड़ी हुई, तन की एक-एक नस मानो उनके लम्बे जीवन की गवाही दे रही थी। वह पोशाक भी अजीब-सी पहनते। पाँव में कामदार जूते, पेशावरी पाजामा, लम्बा कामदार चोगा, गले में विभिन्न प्रकार की मालाएँ, सिर पर कामदार पगड़ी। उनकी वेशभूषा देखकर कोई उन्हें किसी खास मुल्क का बाशिंदा नहीं कह सकता था। वह कई भाषाएँ बोलते थे, उनमें से कुछ तो हमारी समझ में भी न आती थीं। दवाएँ स्वयं बनाते, जो बड़ी बेशक़ीमती हुआ करती थीं। एक औषधि उन्होंने हमारे घर पर महीनों में तैयार की थी, जिसमें प्रायः तीन हज़ार रुपये खर्च हुए थे। गोलियाँ थीं। एक दिन वे धूप में सूख रही थीं कि अचानक हमारी एक पालतू हिरणी ने आकर कुछ गोलियाँ खा लीं। फिर तो कुछ ही क्षणों में गर्मी से वह इतनी परेशान हुई कि सामने की बावड़ी में कूदकर उसने प्राण ही दे डाले। इस घटना से हम सभी इतने भयभीत हुए कि कोई भी औषधि के सेवन के लिए तैयार न हुआ। सारा खर्च व्यर्थ गया।

उनमें जो सबसे बड़ी खूबी थी, वह यह कि वह कीमियागर थे। हमारे बहुत आग्रह करने पर अपनी इस विद्या का प्रदर्शन देने को वह राजी हुए थे। वन में स्वयं जाकर वह विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ उखाड़ लाये। आग जली, एक बड़े से कड़ाह में इन वनस्पतियों का रस और गन्धक, पारा, आदि डाले गये, साथ-साथ एक लोहे का टुकड़ा भी पूरे दो सप्ताह तक दिन और रात यह प्रक्रिया चलती रही। न तो आग बुझने पायी और न वनस्पतियों का रस सूखने पाया। पन्द्रह दिनों में लोहे का वह टुकड़ा सोने के रूप में परिवर्तित हो गया। हम सभी यह देखकर दंग रह गये। स्वर्णकार बुलाये गये, सोने की कड़ी-से-कड़ी परीक्षा ली गयी, पर वह खरा सोना ही निकला, लोहा नहीं।

चार पंक्तियाँ पढ़ीं और कहा कि इसका नुस्खा इन्हीं में निहित है, पर उन पंक्तियों का अर्थ न कहा, इसे रहस्यमय ही रखा। वे पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

तोरस, मोरस, गन्धक, पारा,
इनहि मार इक नाग संवारा।
नाग मार नागिन को देय,
सारा जग कंचन कर लेय ॥

वह दो वर्ष टिके, फिर एक दिन अचानक न जाने कहाँ चले गये, लापता हो गये। मैं आज भी कभी-कभी यह सोचता हूँ कि आखिर वह थे कौन ? प्राचीन यूनान का कोई व्यक्ति यदि आज जीवित होता तो शायद कह उठता कि स्वर्ग के उन पूर्वोक्त फ़रिश्तों में से वह एक थे, जो शायद मन-बहलाव के लिए स्वर्ग से उतरकर भूतल पर कुछ दिनों के लिए आ जमे थे, पर मेरे लिए तो वह सदा रहस्यपूर्ण ही बने रहे।

संसार के विभिन्न देशों में दो विचारधाराएँ शताब्दियों से प्रसार पाती रही हैं—एक यह कि समुचित प्रक्रियाओं से वनस्पतियाँ गन्धक, पारा आदि के मेल या योग से, लोहा, तांबा आदि द्रव्य सोने में परिवर्तित हो सकते हैं; दूसरी, यह कि पारस-पत्थर के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है, जिसका महाकवि सूरदास की इन पंक्तियों में भी उल्लेख है—

इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो,
पारस गुन अवगुन नहि चितवत, कंचन करत खरो।

जिस लोहा का यहाँ जिक्र है, उसके सम्बन्ध में ऐसा मत है कि वह प्राकृतिक भी होता है या वह प्रक्रियाओं द्वारा भी बनाया जा सकता है। १७वीं शती में लिखी गयी एक पुस्तक 'दि सोफिक हाइड्रोलिथ' में लिखा है, कि एक खनिज पदार्थ-विशेष का चूर्ण तैयार करके तीन तत्त्वों के मिश्रण से इसे पत्थर का रूप दिया जा सकता है और इस पत्थर द्वारा रोग अच्छे किये जा सकते हैं, मनुष्य की आयु तक बढ़ायी जा सकती है। इसकी भस्म भी इन्हीं कामों के लिए तैयार की जाती है।

स्वाभाविक था कि जिस विद्या द्वारा धन-जीवन दोनों ही प्राप्त किये जा सकते थे, उसके जाननेवालों के पीछे लोग पड़ जाएँ और उनसे 'भेद' पाने का यत्न करें; यही नहीं, बल्कि ऐसे विशेषज्ञों का जीवन तक इसकी

वजह से, खतरे में पड़ जाए। धन-लोभी लोकपालों की तो पूर्वकाल में ऐसे लोगों पर खास दृष्टि रहा करती थी। वे उनसे लाभ उठाने का भरपूर यत्न किया करते थे। पर दूसरी ओर जिन्हें ऐसी विद्या का वर प्राप्त था, वे इसका रहस्योद्घाटन करना भी नहीं चाहते थे। यही कारण है कि इसके नुस्खे सीधी-सादी भाषा में न होकर रहस्यपूर्ण भाषा में हुआ करते थे जिसकी एक मिसाल पीछे दी जा चुकी है। यही नहीं, लोगों से जान बचाने के लिए कभी-कभी इस विद्या के जाननेवालों को अपनी वेशभूषा भी बदल देनी पड़ती थी। एक प्राचीन कीमियागर ने लिखा है कि एक बार जिस संजीवन-पत्थर का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसे छीनने को उद्यत जन-समूह से वह अपनी दाढ़ी मुड़ा और पोशाक बदलकर प्राण बचाने को निकल भागा था।

संसार की सभी वस्तुएं पाँच तत्त्वों[1] की बनी हुई हैं, यह एक प्राचीन और मान्य धारणा है। इस विद्या का आधार भी यही है। इन तत्त्वों के सम्मिश्रण से धातुविशेष की सृष्टि होती है, जिसमें हरएक का अनुपात (Ratio) निश्चित है। मसलन, लोहा, लोहे का रूप तभी तक धारण कर सकता है जब तक इन तत्त्वों का वह अनुपात जो इसे लोहा बनाता है, अक्षुण्ण है। यदि हम इनके अनुपात को बदलकर सोने का अनुपात कर दें तो यह सोने का रूप धारण कर लेगा। यह परिवर्तन पारस आदि द्रव्यों और वन-स्पतियों की सहायता से आसानी से किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए इन विभिन्न तत्त्वों का वास्तविक अनुपात क्या है इसका ज्ञान आवश्यक है।

लोहे को सोना बनाने में पारे का बड़ा हाथ है। संसार के कीमिया-गर—चाहे वे यूनान के हों या चीन अथवा भारत के—पारे का इस काम के लिए मुख्य रूप से प्रयोग किया करते थे। दरअसल पारा एक ऐसा द्रव्य है जिसके गुणों का इन्तहा नहीं है। यही कारण है कि हर देश के प्राचीन ग्रन्थों में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। हमारे शास्त्रकारों ने इसे प्राणदाता और आयुवर्द्धक कहा है।

---

१. 'छिति, जल, पावक, गगन, समीरा, पंचरचित यह अधम सरीरा'
—म० तुलसीदास

सोना बनाने की इस विद्या को अंग्रेजी में 'आलकेमी' कहते हैं जो अरबी के 'अल-कीमिया' शब्द से बना है। यह इस बात का परिचायक है, कि इस विद्या का किसी जमाने में अरब मुख्य केन्द्र-स्थान था।

मनुष्य को सोना सदा से आकर्षित करता रहा है। इसके लिए वह सदा से प्रयत्नशील रहा है कि दूसरी धातुओं से वह सोना बनाए। किसी भी प्राचीन देश को लीजिए, किसी-न-किसी जमाने में वहाँ सोना बनाने के यत्न जोरों में चलते रहे हैं। हमारे यहाँ इस विद्या का उल्लेख 'रुद्रयामल' और 'महाकाल संहिता' नामक प्राचीन ग्रन्थों में है जहाँ सोना बनाने के नुस्खे दिये हुए हैं पर उन्हें पूरी तरह समझ पाना टेढ़ी खीर है। प्राचीन काल में इस विद्या के जाननेवाले इस देश के साधु हुआ करते थे जिन्हें उपर्युक्त ग्रंथों में उल्लिखित वनस्पतियों का ज्ञान था, देश की आम जनता इसमें बहुत कम अभिरुचि रखती थी। चीन अथवा यूरोपीय देशों के लोकपालों की तरह इस देश के राजाओं के यहाँ भी कीमियागरों की पूछ थी, इसका कोई प्रमाण हमें ग्रन्थों में नहीं मिलता है। महाराज विक्रमाजीत के दरबार में साहित्य, ज्योतिष आदि विविध विद्याओं के पारंगत विद्वानों के, 'नौ-रत्नों' के होने का उल्लेख जगह-जगह आता है; पर उनके दरबार में कोई दसवाँ रत्न कीमियागर भी था, इसकी कहीं चर्चा नहीं है—न किसी ग्रंथ में, न जन-श्रुतियों में।

यूरोप में इस विद्या का प्रचार ईसा के जन्म के बहुत पहले से था; पर ईसा के बाद ८वीं से १७वीं शती के मध्य भाग तक इसका अधिक जोर रहा, जब राजा से लेकर रंक तक पोप, पादरी आदि सभी इसमें दिलचस्पी रखते थे। रोजर बेकन और सर आईजक न्यूटन जैसे लोग भी इनमें शामिल थे। इंग्लैंड का राजा, चार्ल्स द्वितीय, ने तो अपने शयन-कक्ष के नीचे ही एक प्रयोगशाला, सोना बनाने के लिए, बना रखी थी, जिसका प्रवेश शयन-कक्ष के भीतर से था। यूरोप के जिन अन्य बादशाहों की इसमें सक्रिय दिलचस्पी थी वे थे बाइजेन्टियम के हिरैकलियस प्रथम, स्कॉटलैण्ड के जेम्स द्वितीय, और रूडौल्फ द्वितीय। शेक्सपियर, चासर, बेन जॉनसन आदि की पुस्तकों में इस विद्या की काफ़ी चर्चा है।

कीमिया का सर्वप्रथम उल्लेख—संस्कृत के पूर्वोक्त ग्रन्थों को छोड़कर—

हमें चीन के बादशाह जिंग के एक घोषणा-पत्र में मिलता है, जिसमें कीमिया द्वारा सोना बनानेवालों को दण्ड देने की धमकी दी गयी है। आज्ञापत्र ईसा के पूर्व १४४ में जारी किया गया था। स्पष्ट है कि चीन में उन दिनों सोना बनानेवालों की संख्या अत्यधिक बढ़ गयी थी, लोग इसके पीछे पागल हो रहे थे, नहीं तो इस तरह के आज्ञापत्र निकालने की आवश्यकता नहीं होती।

मिश्र में बोलस डिमोक्रिटस नामक एक व्यक्ति ने कीमिया पर सर्वप्रथम एक पुस्तक ई० पू० २०० में लिखी थी। इसके बाद ऐसा लगता है कि इस विद्या का वहाँ भी काफ़ी प्रचार हुआ। इस विद्या से संबन्धित बहुत-से ऐसे ग्रन्थ पाये गये हैं जो प्राचीन मिश्र में, टालमी बादशाहों के समय में, खास तौर पर लिखे गये थे जिनमें सोना बनाने की विधि विस्तारपूर्वक दी गयी है। एतदर्थ व्यवहार में आनेवाले औजार, भट्ठी, आदि की रूपरेखा भी दी गई है।

इस्लामी दुनिया में खलीफ़ों के जमाने में इस विद्या ने जड़ पकड़ी थी। हारूं-अल-रशीद, अल-मामून, आदि शासकों के संरक्षण में हर प्रकार के हुनर और विद्या का प्रसार हुआ, परीक्षण-शालाएँ बनीं; दर्शन, ज्योतिष, गणित, आदि विषयों की पुस्तकें यूनानी और संस्कृत भाषाओं से अरबी में अनूदित हुईं। स्वाभाविक था कि कीमिया-जैसी विद्या का भी वहाँ प्रसार होता। १०वीं सदी के मशहूर लेखक, इब्न-अल-नादिम, के कथनानुसार कीमिया में दिलचस्पी लेनेवाला सबसे पहला मुसलमान शाहज़ादा खलीद-इब्न-याजिद था, जिसकी मृत्यु ७०४ ई० में हुई। वह खलीफा याजिद प्रथम का पुत्र था। कहते हैं, एलक्जेन्ड्रिया के एक ईसाई विद्वान्, मेरियानस, का शिष्य बनकर उसने इस विद्या का अध्ययन किया था। मेरियानस ने सोना बनाकर उसे दिखाया भी था। इस विषय पर खलीद ने कई पुस्तकें भी पद्य में लिखी थीं, जो इस्तामबुल के पुस्तकालय में अब भी सुरक्षित हैं।

खलीद के बाद इस शास्त्र का जाननेवाला, पारंगत विद्वान्, जाबिर था, जिसे अल-सूफ़ी जाबिर भी कहते हैं। वह खलीफा हारूं-अल-रशीद का दरबारी था। वह जबर्दस्त कीमियागर था। अपनी इस विद्या के सहारे वह

श्रायुवर्द्धक रसायन भी बनाता था। कहते हैं, एक बार खलीफा के मुख्य मन्त्री, यहिया, की एक उपपत्नी के, जो अद्वितीय सुन्दरी थी, प्राण उसने इसके द्वारा बचाये थे। वह स्वयं लिखता है—"जब वह मृत्यु-शैया पर पड़ी हुई थी तब मेरी बुलाहट हुई। मेरे पास जीवन प्रदान करनेवाला रसायन तैयार था। बस, मैंने फौरन इसे सिरका और मधु में मिलाकर उसे खिलाया और आधा घण्टे से भी कम समय में वह पूर्ववत् चंगी हो गयी। फिर तो यहिया मेरे पाँवों पर गिर पड़ा और मुझसे इस रसायन विद्या को बताने की प्रार्थना करने लगा। मैंने इस रसायन का बचा हुआ हिस्सा उसे दे दिया और इसके प्रयोग की विधि भी उसे बता दी।"

गर्ज यह कि इस्लाम-संसार में इस विद्या ने सबसे अधिक प्रसार पाया।

पश्चिम में इसका प्रवेश १२वीं शती में इस्लाम-संसार द्वारा ही हुआ। कीमिया पर दर्जनों किताबें अरबी, लैटिन और अन्य यूरोपीय भाषाओं में अनुवादित हुईं। बड़े से लेकर छोटे तक इसमें दिलचस्पी लेने लगे। अरब में कीमिया का कितना जोर था, इसके सबसे बड़े गवाह वे शब्द हैं जो किसी जमाने में इस विद्या के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते थे। उदाहरण के लिए नीचे के कुछ शब्दों पर ध्यान दीजिए—

लैटिन	अरबी	अंग्रेजी
आलकेमी	अल-कीमिया	आलकेमी
अलकलाई	अल-काली	अलकली
एलिक्सिर	अल-इक्सीर	एलिक्सिर
नोयस	नूहस	कौपर
टूटी	तूतिया	टूटी (जिंक ऑक्साइड)

जर्मनी का बादशाह फ़र्डिनेण्ड तृतीय इस विद्या में बड़ी दिलचस्पी रखता था। कहते हैं, १६५० में वह एक कीमियागर की सहायता से स्वयं सोना बनाने में समर्थ हुआ था। उसका पुत्र, बादशाह लियोपोल्ड प्रथम, का भी इसकी ओर बड़ा झुकाव था। १६७५ में बोहेमिया का एक पादरी वेंजल सेलर, उसके पास आया और उसके सामने ही ताँबे के एक घड़े को उसने सोने में परिवर्तित कर दिया, टिन के एक बड़े चदरे को भी। सोने में परिवर्तित इस टिन के सिक्के बनाये गये, जिनके एक ओर बादशाह की तस्वीर

बनी थी, दूसरी ओर लिखा हुआ था—

Aus Wenzel Seyler's Pulvers Macht
Bin Ich Von Zinn Zu Gold Gemacht.

अर्थात्, वेंजल सेलर के पाउडर की मदद से मैं टीन से सोना बन गया हूँ।

जर्मनी के कीमियागरों में, सबसे बड़ा नाम भौन होहेनहाइम का आता है, जिसका उपनाम 'पारेलसुस' था—शायद इसलिए कि वह अपने को रोम के प्रसिद्ध चिकित्सा-शास्त्रवेत्ता 'सेलसुस' से भी बड़ा मानता था। उसने इस विद्या का गहन अध्ययन किया था। उसने इस पर कई पुस्तकें भी लिखीं।

इंग्लैण्ड में इस विषय पर लोगों में कितनी दिलचस्पी थी इसकी एक झलक हमें चासर के 'कान्टरबरी टेल्स' (कान्टरबरी की कथाएँ) में मिलती है, जहाँ एक पूरा क़िस्सा इससे सम्बन्धित है। इसके पढ़ने से ऐसा लगता है कि चासर ने इस विद्या का पूरा अध्ययन ही नहीं किया था बल्कि झूठे कीमियागरों द्वारा वह अच्छी तरह छला भी गया था। इसमें उसके जले हुए हृदय के उद्‌गार हैं।

अंग्रेज कीमियागरों में जार्ज रिपले का नाम मुख्य है। उसने अपनी पुस्तक में लिखा है कि स्वप्न में उसे सोना बनाने का नुस्खा प्राप्त हुआ था। धातुओं का किस प्रकार से रंग-परिवर्तन किया जा सकता है, यह भी उसने स्वप्न ही में सीखा था।

नार्टन, कारनक, एडवर्ड केली, जान डी, सर डिगबी, आदि अंग्रेज कीमियागरों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। उन्हीं दिनों स्कॉटलैण्ड में भी इस विद्या का काफ़ी ज़ोर रहा।

फ्रांस के दो कीमियागर बड़े प्रसिद्ध हैं—क्लामेल और ज़केयर।

क्लामेल के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह एक दिन रात में सोया हुआ था जब स्वप्न में एक परी ने सामने आकर उसे एक पुस्तक दिखलाई और कहा—"क्लामेल! देखो इस पुस्तक को। न तुम इसे समझ पाओगे और न कोई दूसरा ही, पर एक दिन ऐसा आएगा जब तुम इसमें एक ऐसी चीज़ देखोगे जो किसी और को नसीब न होगी।"

फ्लामेल ने हाथ बढ़ाया पुस्तक लेने को, पर वह ले न सका। परी और वह पुस्तक, दोनों ही एक सुनहरे मेघ में विलीन हो गयीं।

फ्लामेल इस स्वप्न को भूल-सा गया। किन्तु इसके कुछ दिनों बाद, १३५७ के एक दिन एक अज्ञात पुस्तक-विक्रेता ने उसके घर पर आकर एक पुरानी किताब बेची, जिसे देखते ही उसे भूले हुए स्वप्न की याद आ गयी—यह वही पुस्तक थी जिसे उसने स्वप्न में देखा था। वह लिखता है—

"दो फ्लोरिन (एक प्रकार का सिक्का) में मुझे यह पुस्तक प्राप्त हुई जो सुनहरे जिल्द की थी। वह बड़े आकार की और बहुत ही पुरानी पुस्तक थी। इसके पन्ने और पुस्तकों की तरह कागज के नहीं, बल्कि वृक्ष की छाल के थे। इसकी जिल्द ताँबे की थी—बहुत कोमल। इसके ऊपर विचित्र प्रकार के अक्षर और रेखाओं से बनी हुई आकृतियाँ थीं। मैं इन्हें पढ़ने में असमर्थ था; सोचा, शायद ये ग्रीक या ऐसी ही किसी और प्राचीन भाषा के शब्द हैं। छाल-पृष्ठों पर लैटिन अक्षर खुदे हुए थे। पुस्तक के सात पृष्ठ तीन बार आते थे पर इनका सातवाँ पृष्ठ हर बार अलिखित—कोरा ही—रह जाता था। पर पहली सिरीज के सातवें पृष्ठ पर एक डण्डा बना हुआ था और दो सर्प, जो एक दूसरे को निगल रहे थे। दूसरी सिरीज के सातवें पन्ने पर एक क्रास (टिकठी जिस पर ईसा मसीह फाँसी पर लटकाये गये थे) बना हुआ था, जिस पर एक सर्प फाँसी पर लटकाया गया था। अन्तिम सिरीज के सातवें पृष्ठ पर एक रेगिस्तान अंकित था जिसके मध्य भाग से सुन्दर झरने निकले हुए थे जिनमें से अनेक सर्प निकलकर जहाँ-तहाँ बिखर गये थे × × × प्रथम पृष्ठ पर ऐसे लोगों के लिए, जो लेखक या बलि देनेवाले न होकर भी इस पुस्तक को पढ़ना चाहें, कई प्रकार के अभिशाप लिखे हुए थे।

पुस्तक के सभी पृष्ठों पर तरह-तरह की तस्वीरें बनी हुई थीं—सक्रिय व्यक्तियों और सर्पादि की, पर कोई व्याख्या, किसी भी भाषा में, न थी। निःसन्देह ये सभी किसी बात के संकेत-सूचक थे, पर लाख कोशिशें करने पर भी फ्लामेल इन्हें समझने में असमर्थ रहा। हाँ, इतना वह अवश्य समझता था कि इनमें स्वर्ण-निर्माण की प्रक्रियायें बतायी हुई हैं। वह इन्हें जानने के लिए

बेचैन रहने लगा, रात-दिन उसके इसी प्रयास में बीतने लगे कि वह इन्हें किसी तरह समझ पाये। भूख-प्यास और नींद हराम हो गयी। वह इस ग्रन्थ को किसी और को दिखाना भी नहीं चाहता था। पर अन्त में वह इस नतीजे पर पहुँचा कि बिना किसी और की सहायता के वह इसे समझने में सफल न हो सकेगा। इसके लिए उसने एक तरीक़ा निकाला। पुस्तक के कुछ चित्रों की नक़ल कर उन्हें उसने अपनी दूकान में टाँग दिया और लोगों से उनकी व्याख्या पूछना शुरू किया।

एनसेलम नामक एक चिकित्सक की, जो कीमिया में भी दिलचस्पी रखता था, दृष्टि एक दिन इन चित्रों पर पड़ी और वह समझ गया कि ये चित्र जरूर ही किसी कीमिया-ग्रन्थ के हैं पर क्लामेल ने भेद नहीं खोला, असलियत का पता उसे न देकर केवल चित्रों की व्याख्या-मात्र पूछी। वह भी इन्हें पूरी तरह समझने में असमर्थ था पर कुछ बातें, अटकलबाजियों से, उसने बतायीं जिनके आधार पर क्लामेल इक्कीस साल तक सोना बनाने का निष्फल प्रयोग करता रहा।

बार-बार असफल होकर क्लामेल का धैर्य छूटने-सा लगा था, एक दिन अचानक उसके ध्यान में आया कि पुस्तक का लिखनेवाला यहूदी, अब्राहम, नामक एक व्यक्ति था, अतएव कोई यहूदी ही इसकी असली व्याख्या बता सकेगा। बस, इस विचार के आते ही वह स्पेन के लिए रवाना हो गया जहाँ यहूदी कीमियागरों के होने की उन दिनों शोहरत थी। वह स्पेन जा पहुँचा। पूरे एक वर्ष तक वह यहूदियों के मन्दिरों में घूमता रहा पर उसे वह व्यक्ति न मिला जो उसकी आकांक्षा को पूरी करता। अन्त में जब वह हताश होकर लौट रहा था, तब रास्ते में उसकी एक ऐसे व्यक्ति से भेंट हुई जो उसका हमवतन था और पूर्व-परिचित भी। उसने उससे सारी बातें सुनकर कहा कि मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानता हूँ जो चित्र-लेखों को पढ़कर उसका गुप्तार्थ बताया करता है। वह उसे मास्टे कांशे नामक एक यहूदी के पास ले गया। क्लामेल ने चित्रों और उनके साथ के अंकित शब्दों की नक़ल को, जो वह अपने साथ लेता आया था, उसे दिखाया। कांशे उन्हें देखते ही उछल पड़ा, बोला—"ये तो हिब्रू भाषा के उस महान् ग्रन्थ के हैं जिसे राबी अब्राहम ने लिखा था, जो अब अप्राप्य है और जिसकी खोज बहुत दिनों से यहूदी-

संसार करता आया है।" और फिर उसने धड़ाधड़ उनके अर्थ बतलाने शुरू किये।

मूल पुस्तक फ्रांस में क्लामेल के घर पर थी, अतएव क्लामेल के साथ कांशे भी फ्रांस के लिए चल पड़ा। रास्ते में समुद्र-यात्रा का अभ्यास न होने के कारण उसे बार-बार उल्टी होनी शुरू हुई और वह बेतरह बीमार हो गया। आरलियन्स पहुँचते-पहुँचते उसकी मृत्यु भी हो गई। क्लामेल उसे वहीं एक चर्च में गाड़, शोक-सन्तप्त हृदय से घर लौटा और कांशे के बताये हुए अर्थों के सहारे पुनः पुस्तक पढ़ने और समझने के प्रयास में लगा।

तीन वर्षों के अथक परिश्रम के बाद सफलता की कुंजी उसके हाथों आई। किताब पढ़-पढ़कर जिस प्रयोग में उसने तीन साल बिताये थे उसका पूरा ज्ञान उसे हो गया। जनवरी १७, १३८२ की रात में आधा पौण्ड 'लेड' (एक धातु) सहसा चमकती हुई चाँदी के रूप में निकल आया। क्लामेल ने धड़कती हुई छाती से तब उस पर वह दवा, अल-अक्सीर, छोड़ी जिसे वर्षों के परिश्रम के बाद उसने तैयार की थी। तपाना जारी रखा, धातु ने एक के बाद दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ रंग बदलना शुरू किया और अन्त में वह एक सुर्ख रंग का गोला बन गया।

अर्द्ध निशा की नीरवता में तब आधा पौण्ड पारे में क्लामेल ने उसे धड़कते हुए हृदय के साथ रखा। वहाँ सिवाय उसकी पत्नी और उसके और कोई न था। ऊपर आकाश में तारे झिलमिला रहे थे मानो वे उसकी सफलता पर मुसकरा रहे हों!

देखते-देखते पारे के साथ मिलकर वह गोला स्वच्छ सोना बन गया। क्लामेल और उसकी पत्नी पर्नेल खुशी से नाच उठे। १३८२ की २५वीं अप्रैल की रात को उसके जीवन की सबसे बड़ी मुराद पूरी हुई।

क्लामेल ने इसके बाद अपने जीवन में कितना सोना बनाया, यह कहना मुश्किल है; पर इतना मालूम है कि उसने अपने बनाये हुए सोने की कीमत से १४ अस्पताल, तीन चर्च बनवाये और दर्जनों दूसरी संस्थाओं को मदद दी।

इस लेख के शुरू में सोना बनाने के एक नुस्खे (शोरस, मोरस, गन्धक, पारा······) का उल्लेख किया जा चुका है। उसमें नाग और नागिन

शब्द आये हैं, क्लामेल को जो पुस्तक मिली थी, उसमें भी साँपों के चित्र बने हुए थे। ऐसा लगता है कि कीमिया में साँप का लाक्षणिक रूप किसी वस्तु-विशेष (किसी द्रव्य या वनस्पति) का द्योतक माना जाता था, जिसका उपयोग कीमियागर धातु-परिवर्तन के लिए करते थे। पर वह वस्तु क्या थी, यह तो कोई कीमियागर ही बता सकता है।

सोना बनाने के नुस्खे—चाहे वे चित्रों में हों या शब्दों में—बड़े रहस्य-पूर्ण होते थे, जिनका अर्थ-विश्लेषण काशि-जैसा ही कोई व्यक्ति कर सकता था, या हकीम साहब-सा, जिनकी चर्चा इस लेख के प्रारम्भ में की गयी है। दरअस्ल कीमिया को संसार हमेशा से एक रहस्यपूर्ण विद्या समझता आया है। कीमियागर और जादूगर पर्यायवाची शब्द से हो गये हैं।

संसार में इस विद्या का आज लोप-सा हो गया है। जादूगर तो आज भी हैं, पर कीमियागर न रहे। शायद इसीलिए सोने का भाव इतना ऊँचा चढ़ गया है।

२१

ख़लीफ़े[1] और उनके जीवन

पैग़म्बर मुहम्मद साहब ने मरते समय तक अरब में अपनी पूरी सत्ता का प्रभाव स्थापित कर लिया था। इस्लाम-धर्म का सौरभ अरब के कोने-कोने तक व्याप्त हो चुका था। उनके कुछ अनुयायी अब उसे दिग्दिगन्त में फैलाने का उद्योग कर रहे थे। पर मुहम्मद साहब की मृत्यु से उनके इस उद्देश में भारी रुकावट आ पड़ी, क्योंकि वह शक्ति, जिसने सारे अरब को एकता के सूत्र में बांध रखा था, जाती रही। मुहम्मद साहब की मृत्यु के कुछ ही दिनों के बाद इस धर्म-साम्राज्य के टूटने के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। अरब के कुछ बुद्धिमान् पुरुषों ने, जो रसूल मुहम्मद साहब के सच्चे शिष्य और दूरदर्शी थे, इसे रोकने के अभिप्राय से यह आवश्यक समझा कि मुहम्मद साहब के स्थान पर कोई योग्य व्यक्ति, धार्मिक और सांसारिक मामलों की देख-रेख के लिए, अध्यक्ष चुना जाए। अतएव सर्व-सम्मति से मुहम्मद साहब के-से साधु-स्वभाव अबूबकर इस पद पर संस्थापित हुए, और तभी से ख़िलाफ़त की सृष्टि हुई। हज़रत अबूबकर पहले ख़लीफ़ा हुए। उनके बाद तीन और ख़लीफ़ा चुने गये—हज़रत उमर, हज़रत उस्मान और हज़रतअली। हज़रतअली के बाद ख़िलाफ़त एक विशिष्ट परिवार में चली गई, और तब से लोग ख़ानदानी तरीक़े पर ख़लीफ़ा होने लगे। निर्वाचन-पद्धति उठ गयी।

ख़िलाफ़त के आरम्भ में ख़लीफ़ा बड़े साधु-स्वभाव के हुआ करते थे। सादगी और दयालुता के लिए वे विख्यात थे। धार्मिक कार्यों ही में वे अपने जीवन का अधिकांश समय बिताते। सांसारिक विषय-वासनाओं से वे दूर रहते थे। दौलत से कोई निजी वास्ता न रखते थे। उसे वे परोपकार का

---

१. अरबी भाषा का यह शब्द है जिसका बहुवचन 'ख़ुलफ़ा' होता है।

साधन-मात्र समझते थे। ग़रीबों के-से जीवन वे बिताते थे। पर हृदय की विशालता और उदारता के लिए वे जगत्‌विख्यात थे। उनकी इस मिज़ाज-ग़रीबी, सादगी और हृदय औदार्य की इतिहासकारों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। खलीफ़ा अबूबकर के सम्बन्ध में कहते हैं कि जब उन्होंने खिलाफ़त की बागडोर अपने हाथों में ली, तब उन्होंने अपनी पुत्री, आयशा, को बुलाकर कहा—'बेटी, हम लोगों की जो पैतृक संपत्ति है, उसका लेखा अलग कर ले, ताकि अन्त में मैं यह देख सकूँ कि अपने कर्तव्य-पालन में मैं ग़रीब हुआ या धनी।' वह अपने लिए सिर्फ़ तीन टुकड़े सोने के और एक ऊँट और एक अनुचर के जीवन-निर्वाह की सामग्री के सिवा, और कुछ न लेते थे। इसमें भी जो सप्ताह के अन्त तक बच जाता था, उसे वह प्रति शुक्रवार को दान कर देते थे। उनकी मृत्यु के बाद जब उनके कपड़े तथा अन्य सामग्री उनके उत्तराधिकारी उमर को मिली, तब उन्होंने बड़े अफ़सोस के साथ कहा—"मुझ में यह शक्ति नहीं कि मैं उनकी तरह सादा जीवन व्यतीत कर सकूँ।" पर, सच पूछिए, उमर किसी क़दर उनसे कम न निकले। वह भी फटे-चिथड़े कपड़े ही पहनते रहे। सिर्फ़ रूखी-सूखी रोटियाँ खा कर और कुएँ का पानी पीकर ही उन्होंने भी अपनी उम्र बिता दी। कहते हैं, एक बार फ़ारस का राजदूत उनसे मिलने आया, तब उसने उमर को मदीने की एक मस्जिद की सीढ़ियों पर, भिखमंगों के साथ, सोते पाया।

इतनी सादगी के साथ जीवन बिताते हुए भी ये खलीफ़ा पर राज्य-विस्तार में किसी तरह कमी नहीं होने दी। वे स्वयं तो लड़ाइयों में कम—बहुत कम—जाया करते थे, पर उनके वीर सेनाध्यक्षों ने कुछ ही दिनों में दूर-दूर तक विजय-पताका फहरा दी थी। विजित देशों से लूट कर आयी हुई दौलत ने अरबवालों की समृद्धि दिन-दूनी रात-चौगुनी कर दी। पीछे चल कर तो ये खलीफ़ा संसार-भर में इस्लाम-धर्म के प्रधान माने जाने लगे। रोम के पोप की तरह इनकी भी पूजा होने लगी।

जब खिलाफ़त अब्बासियों के हाथ आयी, तब उन्होंने अपनी राजधानी बदलने की सोची। फलतः सन् ७६८ ई० में इस नयी राजधानी की नींव डाली गयी, और तब से खलीफ़ा बग़दाद में रहने लगे। बग़दाद आते ही खलीफ़ा के जीवन में भारी परिवर्तन हुआ। टाइग्रेस नदी के तट पर बसे

हुए इस नगर की शोभा और ऐश्वर्य उत्तरोत्तर बढ़ते गये। कुछ ही दिनों में इसकी आबादी खूब घनी हो गयी।[1] बगदाद आकर खलीफ़ों ने ऐशो-आराम की ओर क़दम बढ़ाया और कुछ ही दिनों में वे इसमें खूब ही डूब गये, भोग-विलास में लिप्त रहने लगे। सभी बातों में फारस के बादशाहों की उन्होंने नक़ल करनी शुरू कर दी। पानी की तरह वे धन बहाने लगे। तो भी एक-एक खलीफ़ा मरने के बाद करोड़ों की सम्पत्ति छोड़ता गया। बगदाद में बड़ी-बड़ी इमारतें उठ खड़ी हुई जिनके भीतर की सजावट परले दर्जे की थी। उनमें लगे हुए मणि-मोतियों और बेशक़ीमती कपड़ों की रौनक देखकर आँखें चकाचौंध हो जातीं। भट्टि का यह श्लोक बगदाद पर सोलहो आने चरितार्थ होने लगा—

सदरत्नमुक्ताफलवज्रभांजि
विचित्रधातूनि सकाननानि,
स्त्रीभिर्युतान्यप्सरसामिबोधै
मेरोः शिरांसीव गृहाणि यस्याम्।

खलीफ़ा खर्चीले भी खूब थे। माहदी ने मक्के की एक ही सफर में साठ लाख दीनार खर्च कर डाले थे। राह में उसने बहुत-सी सराएँ बनवायीं, और ग़रीबों को भीख दी। इनके साथ-साथ उसने खाने-पीने और ऐशो-आराम में भी काफ़ी खर्च किया। उसके साथ हज़ारों ऊंट, और आदमी सिर्फ माल ढोने के लिये गये थे। जो इस जलूस को देखता, वही आश्चर्य-चकित हो जाता। एक दूसरे खलीफ़ा के पुत्र की शादी में एक हज़ार बड़े-बड़े मोती नव-वधू के मस्तक पर बरसाये गये थे,[2] और बहुत-सी ज़मीनें और मकानात लोगों को पुरस्कार में दिये गये। एक बार यूनान से खलीफ़ा के दरबार

---

१. एक बार बग़दाद के एक लोकप्रिय फ़क़ीर के जनाज़े के साथ, कहते हैं, शहर के आठ लाख मर्द और साठ हज़ार औरतें क़ब्रिस्तान तक गयी थीं। इससे शहर की आबादी का अनुमान किया जा सकता है।

२. पूर्व के कुछ देशों में यह प्रथा पहले थी, और अब भी है। भारतवर्ष में भी शादी के मौक़े पर वर-वधू के मस्तक पर तरह-तरह की चीजों की वर्षा की जाती है। मिल्टन ने इन्हीं की ओर संकेत करके लिखा है—

में राजदूत आया। उसके स्वागत की जो तैयारियाँ हुई थीं, उनका ज़िक्र अबुलफ़िदा नाम के एक तवारीख़ लिखनेवाले ने इस प्रकार किया है—

"खलीफ़ा की सारी फ़ौज शस्त्रों से सुसज्जित थी, जिसमें सैनिकों की संख्या एक सौ आठ हज़ार के क़रीब थी। राज्य के बड़े-बड़े अफ़सर और मुख्य-मुख्य दास खलीफ़ा की बग़ल में खड़े थे। उनके वस्त्र बड़े उज्ज्वल थे, और कमरबन्द में लगे हुए मणियों और सोने की चमक देखते ही बनती थी। दरवाज़ों पर करीब ७०० प्रहरी थे। नौकाएँ खूब सजाई गयीं थीं और वे टाइग्रेस नदी के जल पर मदमाती चाल से तैर रही थीं। राजप्रासाद की शोभा भी अद्वितीय थी। ३८,००० पर्दे राजमहल में टँगे थे, जिनमें साढ़े बारह हज़ार तो सिर्फ़ रेशम के थे जिनके चारों ओर सोने मढ़े हुए थे। २२ हज़ार कारपेट ज़मीन पर बिछाये गये थे। एक सौ बड़े-बड़े सिंह पिंजड़ों से बाहर निकाले हुए थे, जो देखने में अत्यन्त भयंकर थे। ऐसे तो देखने योग्य हज़ारों—एक-से-एक बढ़कर—चीज़ें थीं, पर एक वृक्ष का, जो सोने-चांदी का बना हुआ था और जिसकी अठारह बड़ी-बड़ी शाखाएँ थीं, नज़ारा देखने ही लायक था। उन अठारह बड़ी और अगणित छोटी शाखाओं पर अमूल्य धातुओं की बनी हुई अनेक प्रकार की चिड़ियाँ बैठायी गयी थीं। इस वृक्ष की पंक्तियों का सृजन भी अलौकिक था। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह था कि कल के द्वारा उन पक्षियों से उनकी ही जैसी बोलियाँ बोलायी जाती थीं। सुननेवाले दंग हो रहे थे। इन दृश्यों को दिखाते हुए वज़ीर यूनान के राजदूत को खलीफ़ा की गद्दी के पास ले गया।"

Or where the gorgeous East, with richest hand,
Showers on her Kings Barbaric pearls and gold.

और जहाँ जाज्वल्यमान् पूरब,
धन से परिपूर्ण करों से,
बरसाता है नृपतिवरों पर
निज प्रलम्ब मोती औ' सोना !

यह भी कैसी विडम्बना थी कि जिनकी सभ्यता उनसे हज़ारों साल पुरानी थी उन पूर्वीय देशों को तब यूरोपवाले असभ्य मानते थे !

मनुष्य की आत्मा को शान्ति और सुख ऐश-आराम की चीजों से नहीं मिलते। भोग-विलास में शरीर का सुख भले ही मिले, पर मानसिक सुख की प्राप्ति नहीं होती है। खलीफ़ों में जब तक जीवन की सादगी बनी रही—जब तक वे साधु-जीवन बिताते रहे—तब तक उनकी आत्मा स्वर्गीय सुख का अनुभव करती रही, पर जब उन्होंने भोग-विलास में—सांसारिक सुखों में—अपने जीवन को लगाया, तब वह सुख, वह शान्ति, वह इच्छा-निवृत्ति सदा के लिए विलीन हो गयी। अब्दुल रह्मान की भोग-विलासिता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। पर उसी के कमरे में, उसकी मृत्यु के बाद यह लिखा हुआ पाया गया—"मैं पचास साल तक शान्ति और विजय के साथ शासन कर चुका। मेरी प्रजा का मुझ पर प्रेम बना रहा, शत्रु सदैव मुझसे भय खाते रहे, मित्र राष्ट्र आदर की दृष्टि से मुझे देखते रहे। धन और सम्मान की या प्रभुता और आमोद-प्रमोद की मुझे कमी नहीं रही—वे मेरी उंगलियों के इशारों पर नाचते रहे। इनके होते हुए भी जब मैंने अपने जीवन के पिछले दिनों पर गौर किया तब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अपने जीवन के पचास वर्षों में सिर्फ़ १४ दिन मेरी किस्मत में ऐसे लिखे थे, जिनमें मैंने सच्चे और पवित्र सुख का अनुभव किया। हे मूढ़ मनुष्य! तू सांसारिक सुखों पर व्यर्थ विश्वास न रख, उनसे शान्ति की उम्मीद न कर।" जाहिर है कि भोग-विलास में लिप्त सभी मनुष्यों का अन्त में यही अनुभव होता है और सभी इसी नतीजे पर पहुँचते हैं।

खलीफ़ों के समय में ज्ञान-विस्तार भी खूब हुआ, क्योंकि खलीफ़ों में कुछ ऐसे भी हुए, जो सदाचार और विद्या-प्रेमी थे। खलीफ़ा हारूंअलरशीद और मामूंरशीद के अद्भुत विद्या-प्रेम की कथाएँ लोक-प्रसिद्ध हैं। इनका अधिक समय विद्योपार्जन और ज्ञान-चर्चा ही में बीतता था। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, आदिक विषयों में अरब वालों ने खूब तरक्क़ी की थी, और इसका अधिक श्रेय उन खलीफ़ों को है, जो विद्या के प्रेमी थे। 'विद्या ददाति विनयं, विनयं च पात्रताम्'—वे इस उक्ति के जीते-जागते उदाहरण थे।

२२

मोम का वह अजायबघर

१८वीं सदी में पेरिस का एक डाक्टर फिलिप-नाथन कर्टिस चिकित्सा-शास्त्र में काफ़ी मशहूर हो चुका था। बड़ी लगन के साथ अपने व्यवसाय में लगा हुआ वह दिन-रात के परिश्रम के कारण शारीरिक दौर्बल्य का अनुभव करने लगा। वह शाम को घर लौटता और आते ही बिस्तरे पर लेट जाता—उसके स्नायु मानो उसे जवाब देने लगे हों उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह किसी और काम में भी लगे और उससे प्रतिदिन अपना मन बहलाये। मित्रों का तकाजा और अपना अनुभव दोनों ही उसे इस बात के लिए प्रेरित करने लगे।

जिन दिनों वह चिकित्साशास्त्र के विद्यालय में पढ़ा करता था, उसे शरीर-रचना-विज्ञान की शिक्षा मोम के बने हुए शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा दी जाती थी। एक रोज अकस्मात उनके मन में यह विचार आया कि यदि हम भी मोम की मूर्त्तियाँ बनायें तो मनबहलाव तो होगा ही, साथ-साथ रोगियों के रोग-निदान में भी सहायक होंगे। बस, उसी रोज वह बाजार से कुछ मोम खरीद लाया और मूर्त्ति-निर्माण में लगा। कुछ ही दिनों में उसे इस कला में काफ़ी दिलचस्पी हो गयी। उसने अपने मकान के एक कमरे में मोम की स्वनिर्मित मूर्त्तियों की एक प्रदर्शनी-सी खोली। लोग आते और उसकी कला पर अपनी प्रशंसा के पुष्प चढ़ा जाते थे।

१७६० तक वह डाक्टरी से नहीं, मोम की मूर्त्तियाँ बनाकर, काफ़ी प्रसिद्ध और धनी हो गया। फ्रांस के तत्कालीन सम्राट् लुई १५ के चचेरे भाई, प्रिन्स ऑफ़ कौन्टी, ने उसकी कला पर मुग्ध होकर पेरिस के एक बड़े-से मकान में उसकी मूर्त्तियों की एक सुन्दर मूर्त्तिशाला खुलवा दी और स्वयं उसके संरक्षक बने। कर्टिस ने तब तक कई आदमकद मूर्त्तियों का निर्माण कर लिया था। उसका यश: सौरभ दूर-दूर तक फैल चुका था।

डाक्टरी छोड़कर, अब वह पूर्णरूप से मूर्त्तिकला में लगा। घर के कमरे मानव-मूर्त्तियों से भर गये, शरीर-सौष्ठव, सौन्दर्य, सभी उनमें विद्यमान थे; पर उनमें प्राण कहाँ ? धीरे-धीरे वह शून्यता का अनुभव करने लगा, घर की एकान्तता उसे जो कल तक दिन भर रोगियों के घर चक्कर काटा करता था, खलने-सी लगी। पारिवारिक जीवन के सुख से वंचित कर्टिस ने अन्त में अपनी विधवा भगिनी और उसकी पंचवर्षीया पुत्री मेरी को अपने घर बुला लिया और इस प्रकार जीवन संगिनी से रहित होकर भी वह घर बसाने में समर्थ हो सका।

मेरी सुन्दरी थी, और उसमें तीक्ष्णबुद्धि भी थी। कुछ ही दिनों में वह कर्टिस की लाड़ली बन गयी और उसके संग घंटों मूर्त्तिशाले में बिताने लगी। धीरे-धीरे उसने भी मूर्त्ति गढ़ना शुरू कर दिया, कर्टिस उसकी दक्षता से प्रभावित होकर उसे मूर्त्तिकला की शिक्षा बड़े चाव से देने लगा। शीघ्र ही दर्शकों पर मेरी की गढ़ी हुई मूर्त्तियों ने अधिक प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया।

१७७८ में पेरिस में जिस नये अजायबघर का निर्माण हुआ, उसमें मेरी की माँ के आग्रह पर कर्टिस ने, अनिच्छा होते हुए भी, मेरी की बनायी हुई कुछ मूर्त्तियों को भी स्थान दिया। तब तक वह १७ साल की हो चुकी थी। उसके शरीर का सौन्दर्य पूरी तरह निखर चुका था। लोग उसकी कला पर तो मुग्ध थे ही, उसके शरीर की कोमलता और सुन्दरता भी दर्शकों को मोहित करने लगी। वाल्टेयर ने उसकी बनायी हुई अपनी मूर्त्ति को देखकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसकी ख्याति फ्रांस के राजपरिवार के कानों तक जा पहुँची।

यही थी वह मदाम तूस्सो, जो आज संसार की सर्वश्रेष्ठ मोम-मूर्त्तिकलाकार मानी जाती हैं। लंदनस्थित मेडम तूस्सो का अजायबघर जहाँ मोम की बनी हुई एक-से-एक सुन्दर मूर्त्तियाँ प्राप्य हैं—संसार के इने-गिने अजायबघरों में से एक है। वह स्वयं तो १८४२ के लगभग इस संसार से बिदा हो गयी। मृत्यु के पूर्व वह एक स्वनिर्मित अपनी मूर्त्ति छोड़ गयी जो आज भी मूर्त्तिकला की एक अमूल्य निधि मानी जाती है। उसके चरण-चिह्न पर चलकर उसके उत्तराधिकारियों ने अब भी इस संस्था की ख्याति श्रेष्ठता को जीवित रखा

है। यहाँ आप संसार के महापुरुषों की आदम-कद मूर्तियाँ देखेंगे, जिन्हें देखकर प्रथम यही भान होता है कि वे जीवित व्यक्ति हैं, हमारे सामने खड़े हमें निहार रहे हैं। इन महापुरुषों में भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू भी हैं। इनके अतिरिक्त संसार की अनेक प्रसिद्ध घटनाओं की भी मूर्तियाँ हैं, जिन्हें देखने से ऐसा मालूम होता है कि वे घटनाएँ आँख के सामने घट रही हों।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मेरी के कलाकार होने की शोहरत राज-परिवार के कानों तक जा पहुँची। सम्राट् लुई १६वें और सम्राज्ञी ने एक दिन स्वयं पधारकर उसकी मूर्तिकला का निरीक्षण किया। फिर तो यदा-कदा वे हमेशा ही इसे देखने आने लगे।

एक बार सम्राज्ञी अपने संग अपनी बहन एलिजाबेथ को भी लायी जो मेरी की समवयस्क थी। दोनों दूसरे की ओर आकर्षित हुईं। कुछ दिनों में वे दोनों हमजोली-सी बन गयीं और इस प्रकार राजमहल में मेरी का प्रवेश हुआ।

इसके कुछ ही वर्षों के बाद, फ्रांस के राजनैतिक व्योम-मंडल में क्रांति के काले-काले बादल घिर आये और सघन होने लगे। चारों ओर लुई और उसकी पत्नी, मेरी एनत्वाने, के प्रति विद्रोह की भावना जाग्रत हो उठी, लोग सड़कों पर, रेस्तराओं में उनकी कड़ी आलोचना करने लगे। राज-दरबार के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें फैलायी जाने लगीं, फ्रांसीसी क्रांतिकारियों के वर्षों के प्रयत्न सफल होते-से नजर आने लगे। कर्टिस ने आसार अच्छे न देखकर मेरी को तब राज-दरबार से वापस बुला लिया। यह सन् १७८६ की बात है।

रविवार, जुलाई १२ की सुबह थी। पेरिस के प्रत्येक घर पर पर्चे चिपके हुए पाये गये, जिनमें नागरिकों को घर से बाहर न निकलने की सलाह थी। विदेशी फ़ौजें बाहर से नगर में घुसती हुई नजर आयीं। उपर्युक्त पर्चों की परवाह न कर शहर के लोग सड़कों पर छा गये। दोपहर के समय यह अफ़वाह उड़ी कि क्रांतिकारियों के नेता नेकर देशनिर्वासित हो गए हैं। शहर की जनता इसे सुनते ही उत्तेजित हो उठी, और उनमें से बहुतेरे ने कर्टिस का मकान आकर घेर लिया। कर्टिस-परिवार उस वक्त दोपहर

का खाना खा रहा था, इतने में एकत्रित भीड़ को चीरते हुए नागरिकों के अगुआ भीतर आ घुसे और कर्टिस से नेकर की मोम की बनी हुई अर्द्धकाय मूर्त्ति की माँग की। उसे लेकर वे उत्तेजित अवस्था में बाहर चले गये। उसे मूर्त्ति को आगे रखकर क्रान्तिकारियों ने एक जबर्दस्त जुलूस निकाला और राजप्रासाद के सामने जा जोर-जोर से क्रांति के नारे लगाने शुरू किये। उत्तर में जर्मन घुड़सवारों ने गोलियाँ दागीं। फलतः में नेकर की वह मूर्त्ति शहर के नाले में, रक्त से ओत-प्रोत बाहुकों के साथ गिरी। इसके ४८ घंटों के बाद ही बेस्टाइल का प्रसिद्ध जेलखाना क्रान्तिकारी जनता द्वारा तोड़ा गया।

आस्ट्रिया के साथ जब फ्रांस का युद्ध छिड़ गया और मेरी के चाचा फ्रांसीसी सेना के एक अफ़सर बनकर उसमें शामिल हो गये तब वह अजायबघर को बन्द कर उसकी सारी मूर्तियाँ दूसरे सुरक्षित स्थान पर ले गयी।

त्रास के भयंकर दिन थे। क्रान्तिकारी काफ़ी बल-संचय कर चुके थे। राजप्रासाद में सम्राज्ञी और राजपरिवार के लोग क्रान्तिकारियों से घिरे हुए दिन बिता रहे थे। तीन हजार सिपाहियों के बावजूद जो राजमहल के रक्षक थे, सम्राट् तथा सम्राज्ञी को मित्रों द्वारा चेतावनी पर चेतावनी दी जा रही थी कि वे किसी और सुरक्षित स्थान पर चले जाएँ। विवश होकर अन्त में उन्हें राजमहल से भागना ही पड़ा। इधर विद्रोही जनता आगे बढ़ती गयी। शरीर-रक्षक सिपाहियों ने उनका मुकाबला करना चाहा, पर विफल रहे। एक-एक कर सिपाही कत्ल कर दिये गये। उनमें मेरी के तीन भाई भी थे। सारी रात वह उनकी खबर पाने को चिन्ता में बैठी रही; पर, भयंकर अफ़वाहों के सिवाय उसे उनकी कोई सही खबर न मिली। दूसरे दिन सुबह होते ही वह घटनास्थल पर पहुँचकर मृत सिपाहियों की लाशें उठा-उठाकर अपने भाइयों को ढूँढ़ती फिरी। अन्त में उसे घोर सत्य का पता चला—वे तीनों तलवार की धार उतर चुके थे।

मेरी के जीवन की धारा अब दुःख और खतरे की चट्टानों के बीच बहने लगी। धड़ से अलग किये हुए चेहरों को देखकर उन्हीं जैसे नकाब या मुखावरण बनाने की उसे आज्ञा क्रान्तिकारी दल की ओर से दी गयी। जेल में कैदी की तरह रह कर उसे इस काम को करना पड़ा। यही नहीं, उसके

सर के बाल भी मूंड़ दिये गये जैसा फांसी पर लटकाने के पहले करने का नियम है। नकाब बनाने का यह काम उसे फांसी की तख्ती की शाया में बैठ कर करना पड़ता था। साधारणत: इस परिस्थिति में कोई भी आदमी अपने मस्तिष्क का संतुलन खो बैठता पर वह धैर्यपूर्वक दुःखापन्न अवस्था में भी इस काम में लगी रही। सम्राट् और सम्राज्ञी के धड़ से विलग किये हुए चेहरों को देख-देख कर वह उनके प्रतिरूपों को गढ़ती रही।

राबस्पियर का सर सबसे अन्तिम था, जो उसे बनाने को मिला। उसके बाद ही वह जेल से बाहर कर दी गयी पर बाहर निकल कर उसकी अवस्था उस पक्षी की-सी थी, जो पिंजड़े से निकल कर सोचता है—"कहाँ जाऊँ मैं, क्या करूँ ?" अर्थात् उसकी स्थिति उन पक्षियों-जैसी थी जिनका ज़िक्र ग़ालिब ने इस शेर में किया है—

छूटे असीर तो बदला हुआ ज़माना था,
न वह गुल, न चमन, न वह आशियाना था।

उसके चाचा विष खाकर प्राण खो चुके थे और माँ की लाख कोशिशों पर भी मूत्तिशाला विध्वंस से न बच पायी थी; पर 'हारिये न हिम्मत, बिसारिये न राम-नाम' के सिद्धान्त पर चलनेवाली मेरी ने न तो साहस खोया और न अकर्मण्यता के वश में जा पड़ी। उसने कड़ी मेहनत के बाद पुनः पेरिस में एक मूत्तिशाला का निर्माण कर लिया। क्रान्ति की आग तब तक बुझ चुकी थी।

उसके सारे मित्र और सम्बन्धी कालकवलित हो चुके या देशनिर्वासित थे। अत: वह, कर्टिस से भी अधिक, अकेलापन अनुभव करने लगी थी। बचपन के साथी, फ्रेंको तूसो एक बाकी थे, जिनके साथ वह मिलने-जुलने लगी और अन्त में परिणय-सूत्र में भी जा बंधी। उसके दो पुत्र भी हुए पर न तो अपने इस दाम्पत्य-जीवन को और न पेरिस की नयी मूत्तिशाला ही को वह सफल बना सकी। अतएव अपने दोनों पुत्र और मोम की मूत्तियों को लेकर वह लन्दन आ पहुँची। बाद के चालीस वर्ष उसने इंग्लैंड में काटे। उसने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का मुकाबला किया, आयरलैंड जाते हुए एक बार उसका सारा संग्रह, तूफ़ान में पड़कर समुद्र में गिर गया फिर भी वह अपने उद्योग से तिलभर भी न हटी। सन् १८४२ में जब वह इस संसार के

रंग-मंच से तिरोहित हुई तब इस सन्तोष के साथ कि उसका जीवन विफल न गया—संसार को वह अपने गुणों से एक ऐसी अमूल्य निधि दे गयी जिसका सानी आज भी दुनियाँ के किसी कोने में दिखायी नहीं देता। उसके बाद मेडम तूस्सो के गुणी वंशजों ने उसके काम को जारी रखा और आज लन्दन का यह संसार प्रसिद्ध अजायबघर उसकी कीर्ति की पताका को फहरा रहा है।

मेडम तूसो एण्ड सन्स अब विलायत की एक महत्त्वपूर्ण संस्था बन गयी है जिसके अजायबघर में आप केवल मोम की बनी मूर्त्तियों को ही नहीं बल्कि सारे संसार को देख सकते हैं। २४३ फुट लम्बा और ४८ फुट चौड़े इसके प्रदर्शनी 'हाल' में संसार का शायद ही कोई महान् व्यक्ति हो जो आपको खड़ा न मिले। आदमक़द मोम की ये मूर्त्तियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो वे बोलने जा रही हों।

पर सबसे महत्त्व का जो काम इस फ़र्म ने अभी किया, वह है एक बड़े पैमाने में विशालकाय 'प्लैनिटेरियम' का निर्माण, जिसके भीतर आप सारे सौर-मंडल को गतिशील अवस्था में देख सकते हैं। सूर्य, चन्द्र, शुक्र, शनि, मंगल, बृहस्पति, आदि, सभी ग्रह अपनी-अपनी जगहों पर घूमते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ खड़े होकर आप यह भूल जाते हैं कि आप किसी कृत्रिम यंत्रा-लय में खड़े हैं, बल्कि यह अनुभव करने लगते हैं कि आपकी दूरदृष्टि हो गयी है और आप अपने सामने समस्त सौर-मंडल के नक्षत्रों को अपने निर्धा-रित पथ पर चलते देख रहे हैं। जिस काम को आज तक संसार के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने नहीं किया, वह इस फ़र्म ने कर दिखाया है।



कृष्ण से मिलने जाती हुई राधा (एक प्राचीन चित्र)

२३

गीत-गोविन्द

बसन्त का समय था। आम के वृक्ष बौरों से ढंके हुए थे। उनकी सुगन्धि से लदी हुई उषाकाल की रिमझिम हवा शरीर में एक अद्‌भुत् चेतना का संचार कर रही थी। जगन्नाथपुरी के उस राजपथ से जो मन्दिर की ओर जाती है, महाप्रभु (गौराङ्ग) अपने शिष्यों के साथ गुजर रहे थे जबकि अचानक उनके कानों में गाने की आवाज आई, मंदिर से लौटती हुई एक देवदासी मधुर स्वर में गा रही थी—ललितलवङ्ग—लतापरिशीलन कोमल मलय समीरे। महाप्रभु अपने को संभाल न पाये, गायिका की ओर, उसे गले से लगाने को, दौड़ पड़े। शिष्यों ने उन्हें पकड़ लिया और कहा, प्रभु! यह आप क्या कर रहे हैं, गाने वाली एक नारी है। तभी उनके ध्यान में यह बात आई कि वे कितनी बड़ी भूल करने जा रहे थे—सन्यासी होकर नारी का स्पर्श!

पर वे करते क्या! गीत-गोविन्द की एक-एक पंक्ति हृदय में भक्ति-भाव का स्रोत बहा डालनेवाली है और उसमें पड़कर आदमी अपनी सुधबुध ही खो डालता है। यही महाप्रभु के भी साथ हुआ। उन्हें इसका ज्ञान न रहा कि जिसके कंठ से ये शब्द निकल रहे थे वह गायक था या गायिका।

श्रीमद्‌भागवत को रसमालय कहा गया है। गीत-गोविन्द को हम रस-सिन्धु कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। शब्दसौष्ठव, पदलालित्य, भावमाधुर्य, काव्यकौशल सभी दृष्टियों से यह उत्कृष्ट है, गेय है और प्रतिगीत के साथ कवि ने यह संकेत भी दे दिया है कि वह किस राग और ताल में गाया जा सकता है। यही नहीं, यह नृत्य-काव्य भी है। कहते हैं, इसके गीतों की रचना करके कवि जयदेव स्वयं उन्हें गाते थे और उनकी पत्नी पद्मावती साथ-साथ नृत्य करती थीं। जिन गीतों का सृजन इस प्रकार से हुआ हो, वह गीति-काव्यों में सर्वोच्च स्थान का अधिकारी क्यों न हो? तभी तो सर एड-

विन आरनल्ड ने इसे 'गीतों का गीत' कहा है।

महाकवि जयदेव को इस देश की गीति-काव्य-परम्परा का आरम्भ-कर्त्ता कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी। गीत-गोविन्द की सृष्टि करके उन्होंने उस परम्परा की नींव डाली जिसका अनुसरण उनके बाद के वैष्णव कवियों ने किया। विद्यापति, चंडीदास, गोविन्ददास, ज्ञानदास, नरोत्तम, बलराम आदि कवियों ने उनके चरण-चिह्न पर चल कर ही उन मधुर गीति-काव्यों की रचना की जो आज इस देश की अमूल्य निधियों में हैं।

'गीवन' की तरह केवल एक गीत-गोविन्द लिखकर जयदेव सदा के लिए अमर हो गये। उन्होंने फिर कोई रचना नहीं की। उनके बाद सदियों तक इसके गीत राजाओं के दरबार और मंदिरों में नित्यप्रति गाये जाते रहे, दक्षिण भारत में आज भी ये लोकप्रिय हैं। कहते हैं, महाप्रभु चैतन्य स्वयं इसके गीतों को गाया करते थे और गाते समय भावावेश की-सी अवस्था में आ जाते थे। जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के गीत उन्हें अतिशय प्रिय थे—

चंडीदास-विद्यापति, कविर आनन्दगीति,
जयदेव श्रीगीतगोविन्द,
स्वरूप-रामानन्दसने, महाप्रभु रात्रिदिने,
नाचे-गावे परम-आनन्द !

गीत-गोविन्द की रचना जयदेव ने पद्मावती के नृत्यार्थ की थी, इसकी चर्चा उन्होंने काव्य-ग्रंथ के आरम्भ में ही कर दी है और इसमें सन्देह नहीं की इसकी सृष्टि करके उन्होंने एक दूसरी परम्परा की नींव भी डाली थी—नृत्य-काव्य की। नृत्य और गान के लिए जिन राग और तालों का संकेत इसमें है, वे आज भले ही अन्तर्हित हो गये हों—व्यवहार में न हों—पर वर्णात्मक नृत्य के लिये आज भी 'गीत-गोविन्द' का स्थान सर्वोपरि है। साथ ही यह हमारे देश के नृत्य-नाटक का भी आरम्भक है।

उत्कल-श्री जगन्नाथदेव के मन्दिर में सर्वप्रथम गीत-गोविन्द का उपयोग नृत्य के लिए हुआ जहां राजाज्ञा से इसे देवदासियां—महरियां—नितप्रति गातीं और इसके आधार पर नृत्य करती थीं। श्री जगन्नाथपुरी के मंदिर में शायद आज भी यह नियम है।

उत्कल के बाद दक्षिण भारत—केरल—में गीत-गोविन्द ने प्रसार पाया जहाँ के हर-एक वैष्णव मंदिर में यह गाया जाने लगा और इसके गीतों के संकेतों पर नृत्य होने लगे। दक्षिण के मन्दिरों की देवदासियाँ खास तौर पर इसमें निपुण थीं। १६५० में कालिकट के ज़मोरिन मानवेदन ने जिस 'कृष्णत्तम' नृत्य-नाट्य की सृष्टि की थी उसका आधार भी गीत-गोविन्द ही था। कथाकली नृत्य पर गीत-गोविन्द की छाप साफ़-साफ़ परिलक्षित है। भारत-नाट्यम् में आज भी श्री गीत-गोविन्द के गीतों का पूर्णरूप से उपयोग किया जा रहा है। हिन्दुस्तानी और कर्णाटकी—दोनों ही संगीतों में गीत-गोविन्द का स्थान एक-सा है।

दक्षिण भारत पर जहाँ तक नृत्य का सम्बन्ध है, इसकी छाप अमिट है।

मणिपुर का रास प्रसिद्ध है। इसका प्रारम्भक वहाँ के एक राजा भाग्यचन्द्र थे जिन्हें कहते हैं, स्वयं भगवान ने स्वप्न में इसे प्रसारित करने का आदेश दिया था। उन्होंने बड़े-बड़े नर्त्तकों और वैष्णव महापुरुषों की मदद से रासलीला का आरम्भ किया जिसमें राधा स्वयं उनकी पुत्री बिम्बमञ्जराई बना करती थी। रास की पोशाक का जिसे 'कुमिल' कहते हैं, आविष्कार भी उन्होंने ही किया था। इन रासों में गीत-गोविन्द के गीतों का पूर्णरूप से उपयोग होता था—आज भी होता है। मणिपुर राज्य के गाँव-गाँव में कृष्ण-मन्दिर निर्मित हैं जहाँ रासलीलाएँ हुआ करती हैं और उनमें गीत-गोविन्द, विद्यापति और चंडीदास के गीत गाये जाते हैं। नृत्य भी होते हैं जिनके आधार ये गीत होते हैं।

अभिप्राय यह कि गीत-गोविन्द के गीतों पर केवल महाप्रभु ही नृत्य करने को बाध्य नहीं हुए थे बल्कि इस देश के सैकड़ों मन्दिरों में होनेवाले नृत्यों के भी ये आलम्बन थे। काफी हद तक आज भी बने हुए हैं, चूँकि यह उन काव्यों में है जो कभी विनाश को प्राप्त नहीं होते तथा जिनके सम्बन्ध में कीट्स की यह उक्ति कि 'सौन्दर्य की वस्तु में शाश्वत आनन्द है, वह कभी मिट नहीं सकती' सार्थक है तथा जिसके बारे में यह कहा जा सकता है कि—

पुनः पुनः यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः।

अन्य भाषाओं के कवियों और चितेरों को भी इस मधुर काव्य ने अपनी

और आकर्षित किया, जर्मन, फ्रेंच, इंगलिश आदि यूरोपीय भाषाओं में यह अनूदित हुआ। इनके पहले ब्रजभाषा तथा अन्य भारतीय भाषाओं में। ब्रजभाषा के कवियों में स्व० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अनुवाद प्रकाशित है और अत्यन्त सुन्दर है। और भी कई कवियों के अनुवाद प्रकाशन में आ चुके हैं पर कई ऐसे भी हैं जो सुन्दर होकर भी अब तक प्रकाश में न आ पाये हैं। इन्हीं में मुर्शिदाबाद (बंगाल) के एक प्राचीन कवि का वह अनुवाद भी है जो संवत् १८३१ में लिखा गया था—

अठारह सौ अरु एकतीस,
संवत् विक्रम नृप अवनीस।
सित नवमी शशिदिन मधुमास,
गीतगोविन्दा दरस प्रकास।

पूर्वोल्लिखित उस गीत का जिसे सुनकर महाप्रभु भाव-विभोर हो उठे थे, देखिए कितना सुन्दर अनुवाद इस ग्रन्थ में मिलता है—

ललितलवंगलता लगि मलयज पवन चलत सुखदाई,
मधुकर पुंजनि गुंजनि कुंजति कोकिल कल धुनि छाई।
बिहरति हरिइहि सरस बसन्ते,
निरतत युवतिजनन के संग सुविरही जनहिं दुरन्ते॥
बिलपति पति परदेस कामिनी काम कामना माती।
कुसुमित बकुल मधुपकुल आकुल लखि व्याकुल बिलखाती॥
तरुण तमाल भरन के परिमल मृगमद को मद छीन्यो।
किंसुक कुसुम बिरहि हिय पारन मनसिज नख बपु लीन्यो।
केसर कुसुम मदन छितिपति सिर कनक छत्र छबि छाजे।
पाटलि पटल सरस मिलि अलिकुल मदन तूण रुचि राजे॥
रितुमद निलजलोग लखि मानो हँसत करुण जो फूले।
बिरहीजन दुख देत कितक इनके कित साजे शूले॥
मालती माधविका मिलि परिमल जुही सुगंध गुही सी।
मुनि मनहूं को मोहति कारन तुरजन हिये पुही सी॥
मुकुलित सरस रसाल पुलकि मनु भेटत मुकुल लताते।
बृन्दावन बनि रहो सरस छबि श्री यमुना शोभाते॥

श्री जयदेवभणित यह शोभित हरिचरण स्मृति सारं।
सरस बसन्त समय बन बरनन उपजत मदन विकारं॥

गीत-गोविन्द के आधार पर, राधाकृष्ण-लीला से सम्बन्धित, अनेक चित्रावलियों का अंकण भी प्राचीन राजस्थानी, कांगड़ा और बसोली कलम के चित्रकारों द्वारा हुआ। ये चित्र आज संसार के कई प्रसिद्ध चित्रशालाओं में सुरक्षित हैं। अभी पिछले दिनों ऑक्सफोर्ड बुक कम्पनी ने ऐसे कुछ चित्रों का संग्रह 'गीत-गोविन्द इन बसोली स्कूल ऑफ इण्डियन पेन्टिंग' के नाम से प्रकाशित किया है। ये चित्र गीत-गोविन्द के गीतों पर आधारित हैं और उत्कृष्ट कोटि के हैं।

गर्ज यह कि कवि और चित्रकार—दोनों ही को इस गीति-काव्य ने प्रचुर परिमाण में प्रभावित किया है। कृष्ण-भक्तों के लिए तो यह अमूल्य निधि थी ही—आज भी है।

जयदेव का जन्म बंगाल के 'किन्दु विल्व' नामक एक गाँव में हुआ था जो अब बीरभूमि जिले के अन्तर्गत है। उनका जन्म किस साल में हुआ, निश्चित रूप से यह कहना कठिन है पर इतना मालूम है कि वे ईसा के बाद ११वीं सदी में हुए थे जब बंगाल में सेन राजाओं का शासन था, दिल्ली में खिलजियों का। उनके पिता का नाम भोजदेव, माता का रमादेवी था। उनकी सहधर्मिनी पद्मावती थी जिसके पिता को कहते हैं, स्वप्न में इष्टदेव का यह आदेश मिला था कि जगन्नाथपुरी में एक वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित दशा में बैठे हुए जयदेव के साथ पद्मावती का विवाह कर दें। पद्मावती स्वयं भी एक अत्यन्त धार्मिक और सरस प्रवृत्ति की महिला थीं; जयदेव को काव्य-सृष्टि में उनके द्वारा काफी प्रेरणा मिली थी। स्वयं भी वे गान और नृत्य कलाओं में दक्ष थीं।

जयदेव ने विवाहोपरान्त वृन्दावन, जयपुर आदि स्थानों की यात्रा की और लौटकर बंगाल के तत्कालीन लोकपाल के दरबार में राजकवि का पद ग्रहण किया। राजा-रानी दोनों ही उनका बड़ा आदर करते थे। कहते हैं, एक बार वे राजा के साथ अन्यत्र गये हुए थे जब रानी ने हँसी-हँसी में पद्मावती से कह दिया कि जयदेव का स्वर्गवास हो गया। पद्मावती का पति-प्रेम इतना गहरा था कि वे इस संवाद को सुनते ही बेहोश हो गयीं और

उन्होंने शरीर त्याग दिया। रानी दुख-शोक-परिताप से विकल हो उठीं, पर इतने में ही राजा के साथ जयदेव वहाँ आ उपस्थित हुए। जयदेव ने तब गीत-गोविन्द का १९वाँ गीत गाना आरम्भ किया जिसकी ये पंक्तियाँ मंत्र-शक्ति से परिपूर्ण मानी जाती हैं—

प्रिये चारुशील, प्रिये चारुशीले,
मुंच मयि मानमनिदानम्।
सपदि मदनानलो दहति मम मानसं
देहि मुखकमलमधुपानम्॥

कहते हैं, कानों में इसकी ध्वनि पहुँचते ही पद्मावती जीवित हो उठीं—

जगौ ततः क्षणदेव पद्मावत्याः कलेवरम्
संचचाल ततः सर्वे विस्मितोत्फुल्ललोचनाः।

(श्री मच्चन्द्रदेव, 'भक्तमाल' में)

किम्वदन्ती है कि पद्मावती ने पुनर्जीवित होकर पति के पाँव छुए और कहा कि अब मेरा आपके सामने ही परम-धाम को चला जाना अच्छा है, अतएव आज्ञा दीजिए—और इतना कहकर उन्होंने पुनः शरीर त्याग दिया। इस पर जयदेव बहुत उदास हो गये और दरबार तजकर अपने गाँव को चले गये। जीवन के शेष दिन उन्होंने वहीं बिताये।

(२)

गीत-गोविन्द में तीन पात्र हैं और इसका संबंध राधाकृष्ण-लीला से है। आरम्भ इस प्रकार है—

कृष्ण के राधा और अन्य सखा-सखियों के साथ वन में भ्रमण करते हुए विलम्ब हो जाता है। सन्ध्या हो आती है। इसे गंभीर होते देखकर नन्द राधा से कहते हैं—

राधे! घन नभ में घिर आये,
वन के पथ तमाल तरुओं से, घिरे हुए धुमिलाये!
भय खाते यह कृष्ण रात्रि में, निज स्वभाव के जाये,
पथ-प्रदर्शिका बनकर सत्वर, इन्हें स्वगृह पहुँचाये।

राधा नन्दादेश से कृष्ण को घर पहुँचाने के लिए, उनके संग चल पड़ती

है। पथ में यमुना-तट की रमणीयता दोनों के प्रेम को और भी गहन बना डालती है।

राधा चाहती है कि कृष्ण एकमात्र उनके बनकर रहें पर एक दिन देखती हैं कि वे तो एक कुंज में बैठे हुए अनेक गोपियों के साथ प्रलाप कर रहे हैं। वे क्रोधावेश में आकर वहाँ से अन्यत्र चल देती हैं और एक कुंज में जाकर मान करके बैठ जाती हैं। कृष्ण यह सोचकर कि राधा उनसे कुपित हो गयी हैं, विकल हो उठते हैं और अपने हृदय के भावों को एक दूती द्वारा उनके पास भेजते हैं। वह कृष्ण के संवाद राधा के और राधा के संवाद कृष्ण के पास लेकर पहुँचती है और अन्त में दोनों का पुनर्मिलन कराने में समर्थ होती है। आत्मा (राधा) को परमात्मा (कृष्ण) के साथ मिलानेवाला गुरु है वह जो यहाँ दूतिका के रूप में प्रदर्शित है। लोक-लाज (सांसारिक बन्धन) तज कर आत्मा परमात्मा से जा मिलती है—

'सलज्जाया लज्जा व्यगमदिव दूरं मृगदृशः।'

भगवद् सान्निध्य ही भक्त की सबसे बड़ी आकांक्षा होती है। पर इसकी प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य अपने साधन द्वारा भगवान को अपनी ओर आकर्षित करता है और यह तब संभव होता है जब उसकी प्रीति में वही तन्मयता और मिलन-विकलता आ जाती है जो परकीया नायिका में नायक के लिए होती है। यही कारण है कि भगवद् प्रेम के लिए परकीया-प्रेम को सबसे ऊँचा आदर्श माना गया है। ऐसे तो स्वकीया—कांता-भाव भी भक्त के लिए आदर्शस्वरूप है जिसमें आत्मसमर्पण की भावना सर्वोपरि है, पर जहाँ स्वकीया-प्रेम में तृप्ति और सन्तुष्टता है, परकीया में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आकांक्षा या चाहना है जिसके सम्बन्ध में कवि की यह उक्ति कि 'दिन-दिन होत सवाया' अक्षरशः सत्य है। यह कभी फीका नहीं पड़ता बल्कि दिनानुदिन इसमें ताजगी ही आती-जाती है। भगवद् भक्ति के लिए इसे आदर्श मानने में अभिप्राय यही है कि भक्त में वही बेचैनी, अतृप्ति, मिलन की उत्कृष्ट उत्कंठा, माशूक पर अपने आपको निछावर कर डालने की तमन्ना, निस्वार्थ प्रेम भाव-तल्लीनता और अनन्यता होनी चाहिए जो किसी परकीया नायिका में नायक के लिए होती है। समाज हँसता है तो हँसे, वह इसकी परवाह नहीं करती, दिलोजान से माशूक पर अपने को फिदा कर देती है, और कहती है—

लोकलाज, कुल की मरजादा, दीनो है सब खोय,

हरीचन्द ऐसो निबहैगी, होनी होय सो होय !

कभी-कभी उसे इस प्रेम में बड़े कष्ट और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, लोक-निन्दा सहनी पड़ती है पर वह इसकी कतई परवाह नहीं करती है, इन्हें झेलने को तैयार रहती है। पतंग की भाँति दीपशिखा पर अपने अंग जला डालती है पर प्रेम के पथ से पाँव नहीं हटाती। अकबर का यह कथन कि—

फिदा सौ जान से होता हूँ परवानों की हिम्मत पर,

जले जाते हैं, लेकिन शमा से लिपटे ही जाते हैं,

ऐसे ही प्रेमी या प्रेमिकाओं पर लागू होता है।

ऐसे प्रेम को भक्तिशास्त्र में माधुर्य-भाव या पंचम पुरुषार्थ कहा गया है। शास्त्रानुसार मनुष्य को अपने पुरुषार्थ द्वारा चार वस्तुओं की प्राप्ति करनी चाहिए—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की। पर इन चारों से भी उच्च है दिव्य-प्रेम का वह सरस भाव जिसे माधुर्यभाव कहते हैं और जो विरले जनों को ही प्राप्त होता है। इसे पंचम पुरुषार्थ कहते हैं। इसकी परिपूर्णता हम व्रज की उन गोपियों में पाते हैं जिन्होंने उद्धव के उपदेशों के सुनने के बाद भी उनसे हाथ जोड़कर कहा था—

ऊधौ, मन नाहीं दस बीस,

एक हुतो सो गयो स्याम संग, कौन अराधै ईस !

पर माधुर्यभाव उन भावों में नहीं है—सखाभाव, दास्यभावादि में—जो प्रयत्न से पैदा किये जा सकते हैं, यह आपसे आप उत्पन्न होनेवाला भाव है, और तभी पैदा होता है जब परमात्मा आत्मा को जो उसी का अंश है, अपनी ओर खींचने लगता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

(मुण्डकोपनिषद्)

"परमात्मा की प्राप्ति प्रवचन, मेधाशक्ति या दूसरों के व्याख्यान सुनने

से नहीं होती। यह तब होती है जब आत्मा का परमात्मा स्वयं वरण कर लेता है और उसके सामने अपने स्वरूप को प्रकट करता है।"

और यह तभी संभव है जब हम साधन और भक्ति द्वारा अपने आपको इस योग्य बना डालें कि उसकी कृपा के हम प्रतिग्राहक बन सकें। साधन से जब हमारी आत्मा पर का संस्कार रूपी आवरण हट जाता है तो चुम्बक की तरह हम आप-ही-आप उसकी ओर खिंच पड़ते हैं। दरअसल यह खिंचाव प्रतिक्षण जारी है पर हमारे संस्कारों का आवरण उसके असर को कारगर नहीं होने देता है। यही है वह बन्धन जिसे तोड़कर ब्रजबालाएँ कृष्ण की ओर चल पड़ी थीं। 'कृष्णास्तु भगवान स्वयम्'—कृष्ण स्वयं परमब्रह्म, परमात्मा थे, अतएव उनमें स्वभावतः आकर्षण का जोर था—कहा भी है कि जो आकर्षित करे वही 'कृष्ण' है—फलतः चुम्बक—लोहकान्तमणि—की तरह उन्होंने उन्हें, जिनके संस्कारों का पट हट चुका था—अपनी ओर आकर्षित किया और वे सुधबुध खोकर, द्रुतगति से, 'चललोलकुंडला' उनकी ओर दौड़ पड़ीं। वे स्वयं न समझ पायीं कि वे ऐसा क्यों कर रही हैं पर लाचार थीं, अपने को रोक न पाती थीं। राधा ने ठीक ही कहा था—

न मूर्खधीरस्मि न वा दुराग्रहा,
शरीरभोगेषु न चातिलालसा,
किन्तु व्रजाधीशसुतस्य ते गुणा,
बलादपस्मारदशां नयन्ति माम्।

"न मैं मूर्खा हूँ, न मुझमें दुराग्रह है और न शरीर-सुख की ही मेरे हृदय में लालसा है। पर ब्रजेन्द्र के सुत में ही कुछ ऐसा असर है कि वह बेबस मुझे मोहावस्था में ला डालता है।"

जन्म-जन्मान्तर के साधनों के बाद गोपियों ने इस स्थिति की प्राप्ति की थी। उनका प्रेम विशुद्ध और दिव्य था, विषय-सुख की उसमें आकांक्षा न थी। स्मरण रहे कि कृष्ण की उम्र आठ साल से भी कम थी जब उन्होंने वन में सर्वप्रथम बाँसुरी बजायी थी जिसकी पुकार सुनकर गोपियाँ उनकी ओर, जो जैसी थी वैसी ही अवस्था में दौड़ पड़ी थीं—'बांसुरी की धुनि सुनि प्राण विकल भये' की दशा को पहुँच गई थीं। बाँसुरी की वह पुकार परमात्मा की पुकार थी, जिसे वही सुन सकती थी जिसकी आत्मा मलरहित हो चुकी

हुई थी, संसार में रहकर भी जो विषय-वासनाओं से मुक्त थी। यही कारण है कि व्रज की केवल गोपबालाएँ ही उसे सुन पायी थीं, इतरजनों के यह श्रवणगत न हो सकी थी। उनकी दृष्टि कृष्णमय हो चुकी थी और इसीलिए रास के समय प्रत्येक गोपी ने कृष्ण को अपनी बगल में ही पाया था। काम-रहित था वह नृत्य जो गोपियों के साथ भगवान ने महारास या रास के समय किया था—वैसे ही जैसे कि यूरोपीय समाज में पिता का अपनी पुत्री के साथ या भाई का बहन के साथ हुआ करता है।

व्रजवनिताओं ने जिस दिव्य-प्रेम-सुरा का पान किया वह आवभगत से कृष्ण को जिमानेवाली ब्राह्मण-पत्नियों तक को नसीब न हो सका। आत्मा-परमात्मा की प्रेम-क्रीड़ा को साकार करने और संसार के समक्ष रखने के लिए ही भगवान ने मानव रूप धारण किया था और संसार के सामने दिव्य-प्रेम की एक झांकी प्रस्तुत की थी—ऐसे प्रेम की जिसमें पागल बनाने की शक्ति थी पर काम-वासना न थी। दरअसल रास की रचना ही इसी उद्देश्य से की गई थी। आज भी संसार में परमात्मा की वह बाँसुरी निरन्तर बज रही है पर हम उसे सुन नहीं पाते हैं।

परमात्मा में प्रकृतितः आकर्षण और सौन्दर्य का भंडार है, जिसके सम्बन्ध में श्रीमती एनी बेसेन्ट ने बड़े सुन्दर ढंग पर लिखा है—

When he who is beauty and love and bliss, shades a little portion of himself on earth, enclosed in human form, the weary eyes o. men light up, the tired hearts of men expand with a new hope and new vigour. They are irresistably attracted to him. Devotion spontaneously springs up.

अर्थात् जब वह, जो सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द का बना है, इस पृथ्वी पर अपने गुणों का, मानव-शरीर से परिवेष्टित थोड़ा-सा भी हिस्सा गिरा डालता है तो मनुष्यों की थकी हुई आँखें जग पड़ती हैं, और उनका क्लान्त हृदय एक नयी आशा और ओज लेकर उठ खड़ा होता है। वे दुर्निवारता से उसकी ओर आकर्षित होते हैं। प्रेम का श्रोत आप-से-आप फूट पड़ता है।

यही है वह अहेतुकी और अनन्य प्रेम जिसका आस्वादन हम नारी-

रूप में ही कर सकते हैं; अन्य में नहीं। श्री न्यूमन (F. W. Newman) के शब्दों में, यदि आत्मा को ऊँचे आध्यात्मिक आनन्द के स्तर पर पहुँचना है तो उसे नारी बनना ही पड़ेगा, चाहे मनुष्यों में वह कितना भी पुरुष—पौरुष से भरा हुआ क्यों न हो।

और यही कारण है कि सच्चा प्रेमी चाहे वह हिन्दू हो या ईसाई अथवा मुसलमान, दिव्यप्रेम का आनन्द तभी पाता है जब वह माशूका बनकर अपने माशूक परमात्मा के प्रेम में पागल हो उठता है। बिना प्रेमिका—स्वकीया या परकीया—बने उसे इसकी प्राप्ति नहीं होती है—पंचम पुरुषार्थ अथवा माधुर्यभाव का वह रसास्वादन नहीं कर पाता है। सेंट बर्नार्ड नामक एक ईसाई महात्मा ने तभी तो कहा है—"अपने चुम्बनों से वह मुझे कृतकृत्य करें। कौन है वह जिसके मुख से ये शब्द निकले हैं? वधू। वधू कौन-सी? आत्मा जो परमात्मा के लिए तरस रही है—प्यासी है।"

इस प्यास का सबसे बड़ा दृष्टान्त हम राधा में पाते हैं जो प्रियतम के प्रेम में तड़पती हुई आत्मा का प्रतिरूप है।

जिस तरह आत्मा परमात्मा के लिए तड़पती है, उसी प्रकार वह भी आत्मा के लिए तड़पा करता है। महाकवि जयदेव ने गीत-गोविन्द में इस तथ्य को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया है। यहाँ रासपंचाध्यायी की तरह केवल राधा ही विरह में व्याकुल नहीं दिखाई पड़ती हैं बल्कि कृष्ण भी राधा के लिए बेचैन नजर आते हैं। एकान्त में बैठे हुए कृष्ण राधा की सखी-दूती से अनुरोध करते हैं कि वह राधा को समझा-बुझाकर उनके पास ले आये। सखी राधा से जाकर कहती है—

तव विरहे वनमाली सखि, सीदति।
वसति विपिनविताने त्यजति ललितधाम,
लुठति धरणिशयने बहु विलपति तव नाम।

अर्थात्, हे सखि! आपके विरह से वनमाली पीड़ित हो रहे हैं और जंगल में निवास कर रहे हैं, पृथ्वी पर ही सोते हैं, आपका नाम लेकर बार-बार विलाप कर रहे हैं।

राधा के लिए कृष्ण का बेचैन होना, तड़पना—आत्मा के विरह में परमात्मा का विकल होना—इसका वर्णन हम सर्वप्रथम गीत-गोविन्द में ही

पाते हैं ! भगवान की यह वाणी कि—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'

(जो मुझे जिस प्रकार भजता है मैं भी उसका उसी प्रकार भजन करता हूँ) गीत-गोविन्द में ही सार्थक होती है। शृंगार-रस का भक्ति के लिए जिस सुन्दरता के साथ जयदेव ने इस काव्य में उपयोग किया है, वह विलक्षण है। साहित्य, संगीत, अध्यात्म, सभी दृष्टियों से इसमें एक नवीनता है, सौन्दर्य है, और भक्त-हृदय पर असर करनेवाली इसमें एक अद्भुत शक्ति है।

२४

दक्षिण-पूर्व एशिया के लोकगीत

किसी जाति या राष्ट्र के लोकगीत उसके जन-जीवन और भावनाओं के दर्पण होते हैं, उसकी भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक रूप-रेखा के परिचायक भी। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष ही के विभिन्न प्रान्तीय लोकगीतों को लीजिए। जहाँ उत्तर भारत के लोक-साहित्य में आम, नीम और महुए के वृक्षों का जगह-जगह पर उल्लेख है वहाँ दक्षिण भारत का जन-साहित्य नारिकेल वृक्षों की चर्चा से परिपूर्ण है। यही हाल मानसिक विचारों का, दृष्टिकोण का भी है। राजस्थान वीरों की भूमि रही है। स्वभावतः वहाँ के लोक साहित्य में भी वीरता की छाप है। राजस्थानी लोक कवि राजिया की इन दो पंक्तियों पर ध्यान दीजिए—

नभचर विहंग निरास, बिन हिम्मत लाखाँ बहै।
बाज झपट कर बास, रजपूती सूं राजिया।

—'आकाश में ऐसे तो अनेक पक्षी मंडराते रहते हैं, पर वहाँ शासन तो बाज का ही रहता है। यही तो राजपूती शान है।'

दूसरी ओर मिथिला की कोमलांगी नायिका के हाथ में पंखा झलने से मोच आ जाती है, और तब नायक उससे कहता है—

चुपे रहु, चुपे रहु, सुहबे से कौन सुहबे।
भोरे देब बौंहिया कुटाय रे!

—'चुप रहो, चुप रहो, प्यारी! मैं सुबह होते ही हाथ को ठीक कर दूँगा अर्थात् तेरी पीड़ा जाती रहेगी।'

गर्ज यह कि जहाँ राजिया की उपर्युक्त पंक्तियाँ एक क्षत्राणी की उस जातीय शान के द्योतक हैं जिसकी रक्षा में महाराणा प्रताप जैसे लोकपाल को वनों की धूल छाननी पड़ी थी, वहीं मैथिल लोक-गीत की ये पंक्तियाँ मैथिल बाला की ख्याति-प्राप्त कोमलता को दर्शित करती हैं।

मानव शरीर के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार भी प्रत्येक जाति के समान नहीं होते हैं। मसलन, जहाँ ईरान में औरतों की गोली आँखों की प्रशंसा की जाती है और इसीलिए, उनकी उपमा नर्गिस के फूल (जो कटोरे के आकार के होते हैं) के साथ दी जाती है, वहाँ भारतवर्ष में लम्बी आँखें बढ़िया मानी गयी हैं। दूज के चाँद जैसी, अथवा आम के कटे टुकड़े के समान (भारतीय लोकगीतों में इन उपमाओं का अत्यधिक प्रयोग आता है)। आँखों का गोल होना हमारे यहाँ निन्दनीय समझा जाता है। वह कदापि स्तुत्य नहीं समझा जाएगा। शरीर के अन्य अंगों के सम्बन्ध में भी विभिन्न जातियों के दृष्टिकोण में काफ़ी अन्तर है। फिर भी सभी भावनाओं के भीतर एक आन्तरिक एकता है।

इस लेख का सम्बन्ध दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के प्राचीन लोक-गीतों से है। नीचे उन देशों के कुछ लोक-गीतों के अनुवाद दिये जाते हैं, जिनसे उनके शरीर-सौष्ठव-सम्बन्धी विचारों और प्राकृतिक रूप-रेखा पर प्रकाश पड़ता है। साथ ही उनके (रोमान्टिक) शृंगारिक जीवन की भी हमें एक झलक मिलती है।

प्रथम 'मकासर' द्वीप की एक नायिका की ये बातें जो दमयन्ती की तरह एक हंस को दूत बनाकर अपने प्रियतम के पास भेजना चाहती है, सुनें। नायक से वह कहती है—

"संसार चाहे तुम्हें नापसन्द करे, मैं तुम्हें प्यार ही करती रहूँगी। मेरा यह विचार तभी बदलेगा जब व्योम मंडल में एक की जगह दो सूर्य भासमान् होंगे। भूमिगर्भ में प्रवेश करो तुम या आग पर चलो; मैं तुम्हारे साथ ही जाऊँगी। मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, तुम मुझे; पर विधाता ने हमें एक दूसरे से विलग कर रखा है। स्वर्ग के देवता हमें मिलाएँ, अन्यथा यह प्रेम मेरी मृत्यु का कारण बनेगा—

"रुपहला चांद और ठंडी हवा,
सन्ध्या और उषाकाल, दोनों मिल रहे हैं :
ओ बिछुड़ी हुई वन की हंसिनि, उड़ती हुई,
सुनो मेरी बात
पथ में यदि तुम उन्हें देखो, भग्नहृदय मैं

जिन्हें प्यार करती हूँ,
तो कृपा कर उनसे इतना कह देना
कि उनका वियोग मेरे लिए मृत्यु के समान हो रहा है।"
हंसिनी फड़फड़ाती हुई ऊपर की ओर उड़ी,
बोली, "कह दूँगी, यदि ये बातें मुझे स्मरण रहीं।"
"दावात भर दो, अम लाओ,
प्रियतम को मैं एक पत्र भी लिखूँगी।
मैं और मेरी फलक, पत्र भेजकर,
एक दूसरे को सान्त्वना प्रदान करेंगी।"

'मकासर' ही की एक दूसरी नायिका अपने प्रियतम से कहती है—

"मुझसे रुष्ट होओ, मुझे दूर कर दो, फिर भी मेरा प्रेम अपरिवर्तित ही रहेगा।

"जागते समय या सुप्तावस्था में, हर वक्त, मेरे इन कल्पना-चक्षु के सामने तेरा ही रूप विराजमान् रहता है। आह! नींद में मैं कितनी बार तेरी खोज में भटकती फिरती हूँ, प्रिय!"

प्रेम की बेचैनी और उसकी दृढ़ता उपर्युक्त शब्दों से, मानो, टपकी पड़ती है!

अब, सुनिए हिन्द-चीन का एक नेत्र-हीन प्रेमी अपनी प्रेयसी से क्या कहता है—

"मेरी आँखें मृत हैं, पर मेरा हृदय चैतन्य है।
अंधकारमय निशाकाल में मैं अविरत चलता
रहता हूँ, सुनता हुआ तुम्हारी हँसी को,
तुम्हारी बोली के मधुर स्वर को, स्वर्ण
घंटा-रव के सुस्पन्द-सा, और मैं तुम्हें प्यार
करता हूँ।
मेरे साथ आओ; सौन्दर्य की पोशाक
पिन्हाऊँगा मैं तुम्हें, सुनहले नाज की मालाएँ
(तुम्हारे) गले में (मैं) डालूँगा।"

स्याम का एक नाविक नौका खेता जाता और गाता है—

"एक अल्हड़ नौजवान हूँ मैं, सुखी भी।
मेनम नदी के गंभीर जल पर अपनी नौका खेता हूँ।
मेरे गान का आदि-अन्त दोनों ही,
तुम्हारी प्रशंसा से होंगे, ओ मेरी प्यारी चिन!"
सहगान—
"आरम्भ कर मस्तक से, समाप्त पदागुंलियों से,
ज्वार के समान बलवान् होंगी प्रशंसाएँ ये।"
"वह कौन है जिसने देखा और भुला सका
मधुर ग्रंथि में बँधे हुए तुम्हारे सुन्दर केशों को,
उस जूड़े से भी अधिक सुन्दर तुम्हारी भौंहों को,
दुःख और चिन्ता की जिन पर झुरियाँ न पड़ पावीं कभी।"
सहगान—
"इन काली भौंहों में से एक-एक किसी स्वस्थ जोंक से
कम चमकदार नहीं है।
कोई भी कुंजर, श्वेत, श्याम, छोटा या बड़ा,
इन प्यारी और छोटी आंखों के समान
नेत्र पाने का गर्व नहीं कर सकता है।"
सहगान—
"और तुम्हारी नाक! विश्वास है, किसी और को
इतनी चौड़ी और समतल नासिका न प्राप्त हुई।
आबनूस की छाल का भीतरी हिस्सा भी
तुम्हारे दाँतों जैसा काला न हुआ।"
सहगान—
"स्वर्ण वर्ण, उच्च कपोल-फलक,
ये ऐसी निधि हैं जिस पर किसी भी
राजकन्या को गर्व हो सकता है।
मुझे फख्र है अपनी चिन जैसी सुन्दर प्रेयसी पर।"
सहगान—
"वन के हिरण की तरह हल्का बदन है तुम्हारा,

पाषाण के दर्रे की तरह बलवान् और दृढ़।
पाँव और उनकी अंगुलियाँ (अहोभाग्य मेरा !)
जालदार पाँववाली बत्तखों की भाँति सुन्दर और चौड़ी हैं।"

सहगान—
"तुमसे अधिक कुशल तैराक भार्या यदि कोई ला दे,
उसे मैं अपना प्राण पुरस्कार में दे डालूंगा—
ऐसी बधू जो भारी से भारी नौका को,
बलवान् प्रभंजन के विरुद्ध दिशा में, खे सके।"

उपर्युक्त सहगान के साथ यह गीत समाप्त होता है। अब एक अन्य प्रेमिका की बातें सुन लीजिए—

बोर्नियो की एक प्रेम-विह्वल नायिका बड़ी बेचैनी के साथ कहती है—

"हवा अत्यन्त ठंडी है; वर्षा हो रही है जोरों से; समय बीत रहा है; मैं प्रतीक्षा-रत हूँ; हाय प्यारे, तुम आते क्यों नहीं। यह विलम्ब क्यों; बोलो बोलो; मुझसे कोई दोष तो नहीं हुआ; तुम अप्रसन्न तो नहीं हो गये ? मेरा हृदय दुःख से भरा है और बैठा जा रहा है; आह ! इसे भंग न करो, यह तुम्हें, केवल तुम्हें ही प्यार करता है। आओ और इस प्रतीक्षा की घड़ी का अंत करो। क्यों मुझसे अलग हो तुम ?"

"हवा अत्यन्त ठंडी है, वर्षा हो रही है जोरों की और मैं रोती हुई प्रतीक्षा कर रही हूँ; हाय, कहाँ विरम रहे हो तुम ?"

जावा का प्रेमी कहता है—

हजार देशों में कोई ढूंढ आए पर तुम जैसी कोई और दूसरी प्रेयसी न पा सकेगा वह।

चन्द्रमा के समान मुख है तुम्हारा, ललाट तश्तरी सा।
कनपटियों पर पड़े हुए तुम्हारे केश ऐसे लगते हैं, मानो,
मुद्राओं की कोई लड़ी हो, भौंहें मानो अम्बर के पत्ते हों।
कोमल बरौनियाँ ऊपर की ओर देखती हैं।
तुम्हारे लम्बे और संगमूसा की तरह काले बाल लहरा रहे हैं।

तुम्हारी तीखी आँखें कोण बनाती हुई, बड़ी मनोहर लगती हैं। नाक

ऐसे लगते हैं, मानो वे डुरिएन के हिस्से हों; मुख मानो परिपक्व मैनगोस्टीन की पतली फाँक हो! सौन्दर्य से भरी हुई है यह तुम्हारी पतली सी नाक। गालों के पीछे बालों की तुम्हारी लट पुष्पित पूरी वृक्ष की शोभा पा रही है; चिबुक ऐसे लगते हैं मानो किसी मूठ लगे हुए बसूले के कोण हों।

तुम्हारे गले की मोड़ ऐसी लगती है, मानो किसी रोनेवाले के आँसुओं की लता हो।

तुम्हारा वह चौड़ा वक्षस्थल! स्तन हाथी-दाँत के बने हुए नारिकेल फल के समान लगते हैं, या नारिकेल के दो नये फलों के समान लाल चोली में बँधे हुए, भरे-पूरे, चिकने, बड़े उन्मादक हैं ये।

कन्धे पतले, चमकीले और बाहें तंतुरहित धनु के समान हैं। कमर ऐसी मानो प्रयत्न-मात्र ही से खंडित हो जायगी।

अंगुलियों की नोक काँटों जैसी, नाखून लम्बे, पाँवों की बनावट पुंडक-पुष्प के समान हैं। पाँव के तलवे मेहराब के।

दक्षिण-पूर्व एशिया के देश, पूर्व बंगाल की भाँति नदी और झील के देश हैं। स्वभावतः उनके लोक-गीतों में इनका काफ़ी उल्लेख है। तभी तो स्याम का एक प्रेमी इस बात पर गर्व करता है कि उसकी प्रेयसी नाव खेने में कुशल है।

नारी सौन्दर्य और शरीर के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में जो विचार उपर्युक्त लोकगीतों में व्यक्त हैं, वे भारतीय दृष्टिकोण से भिन्न हैं, पर सबकी रूचि एकसाँ नहीं होती। इस कथन के ये प्रबल परिचायक हैं।

कुछ दिनों से इस देश के विभिन्न प्रान्तीय लोकगीतों ने हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। इनका संकलन किया गया है, जो पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए हैं, होते जा रहे हैं। प्रयत्न स्तुत्य है, पर हमें अपने देश ही के लोक-गीतों से संतोष न कर लेना चाहिए, संसार के विविध अन्य देशों के लोक-गीतों को भी अनुवादित कर हिन्दी संसार के सामने रखने का प्रयत्न हमारे विद्वान् लेखकों को करना चाहिए। फ्रांस के एक कृषक बाला के हृदय में कौन सी भावनाएं हिलोरें मारती हैं, हमारे लिए इसका ज्ञान उतना ही महत्त्व का होना चाहिए, जितना यह जानना कि नेपोलियन ने कितने देश जीते अथवा गत दस वर्षों में वहाँ कितने मंत्री-मंडल बने या

बिगड़े। और तभी हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे कि समस्त मानव जाति की ऐसी अनेक मानसिक भावनाएँ हैं जो एक-सी हैं और सारे संसार को एक ही भावग्रन्थि में बाँधती हैं। इनमें सबसे जबर्दस्त प्रेम की भावना है, जिसमें जाति-भेद, रंग-भेद अथवा देश-भेद से कोई अन्तर नहीं पड़ता। महुए के नीचे खड़ी उत्तर भारत की प्रेमविह्वला बाला वही सोचती है, जो जावा की एक प्रेमिका, तूरी अथवा अम्बर वृक्ष के नीचे खड़ी होकर।

२५

भाषा की उत्पत्ति

भाषा का आरम्भ किस प्रकार हुआ, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका निश्चित उत्तर न तो किसी ने अब तक दिया है और न दे सकता है। तिमिरावृत अतीत काल में, जिसे हुए आज हजारों वर्ष बीत चुके हैं, मनुष्य ने किस प्रकार बोलना आरम्भ किया, और उसकी बोली किस तरह और किन कारणों से अर्थ-युक्त हुई, यह कहना अत्यन्त ही कठिन, प्रायः असम्भव-सा है। समय-समय पर भाषा-शास्त्र के विद्वान् ज्ञाताओं ने इस सम्बन्ध में तरह-तरह के सिद्धान्त प्रतिपादित करने के—अटकल लगाने के—प्रयत्न किए हैं, पर इनमें से अधिकांश सिद्धान्त ऐसे हैं, जो आलोचना की पैनी छुरियों से काटे जा चुके हैं। ऐसी कल्पनाओं में तीन मुख्य हैं—

१. बाऊ-बाऊ सिद्धान्त जो प्राथमिक शब्दों को स्वर-अनुकरणशील बताता है; पर, विभिन्न पशु-पक्षियों के नाम अथवा बोली वाचक शब्दों के सिवा, अन्य शब्दों की उत्पत्ति का प्रश्न इस सिद्धान्त से मुतलक़ हल नहीं होता है।

२. पुह-पुह थ्योरी। यह भाषा की उत्पत्ति, आंतरिक गम्भीर पीड़ा अथवा अन्य विकारों से उत्पन्न स्वाभाविक सहसा मुखरित, आप-से-आप निकली हुई—ध्वनि वाचक शब्दों, 'आह', 'ओह' आदि—से हुई बतलाती है। पर इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि इन उद्गार-सूचक शब्दों का, आखिर, भाषा से सम्बन्ध भी तो थोड़ा ही है। मनुष्य जब बोलने में असमर्थ हो जाता है, तभी इन उद्गार-निदर्शक शब्दों की शरण लेता है। अतएव ये भाषा की उत्पत्ति में बाधक हो सकते हैं, सहायक नहीं। जैसा भाषा-तत्वज्ञ एक विद्वान् बैन्फी (Benfey Gesch) ने कहा है—

"उद्गार और संकेतक ध्वनि शब्द के बीच एक गहरी दरार है जिसके सहारे हम यह कह सकते हैं, कि उद्गार भाषा का निषेधक हो सकता है,

उत्पादक नहीं। क्योंकि हम 'आह', 'ओह' आदि तभी करते हैं जब हम बोल नहीं पाते हैं या बोलने में हमारी अनिच्छा होती है।" और इन उद्गार-सूचक शब्दों में बहुतेरे ऐसे हैं, जिनके स्वरों का व्यावहारिक भाषा में बिलकुल ही उपयोग नहीं होता है।

३. डिंग-डाँग थ्योरी। इसके सम्बन्ध में कुछ लिखना व्यर्थ है। मैक्स-मूलर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और उन्होंने कुछ दिन बाद, इसे सारहीन कह कर त्याग भी दिया।

ये भाषा-शास्त्र के प्राचीन विद्वानों के मत हैं। इधर कुछ वर्षों में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में और भी कई सिद्धान्तों की सृष्टि हुई है, जिनमें विकार-प्रेरित (Emotional) सिद्धान्त को बहुमत के समर्थन का सौभाग्य प्राप्त है। प्रसिद्ध भाषा-तत्त्वज्ञ, ओटो जेस्पर्सन, का मत है कि आदिकाल में मनुष्य आज से कहीं अधिक प्रेमी, आह्लाद-युक्त और कौतुक-प्रिय था। जीवन की विषम समस्याएँ तब तक उसे गम्भीर नहीं बना सकी थीं। उस युग में वह तमाम दिन उसी तरह गाता हुआ विचरा करता था, जिस प्रकार आज विभिन्न पक्षी विचरा करते हैं। पर उसके गाने और आधुनिक गाने में बड़ा अन्तर था। आजकल के गानों की तरह न तो उसमें स्वर, ताल अथवा छन्द के बन्धन थे और न अर्थ-गौरव ही। आज दिन भी छोटे-छोटे बच्चों का हृदय जब उल्लास से परिपूर्ण होता है, तब वे कलरव करने लगते हैं, पर क्या उनके कलरव में कोई खास अर्थ होता है? आदि-काल में मनुष्यों का गाना ठीक इन्हीं कलरवों के समान था। जब कभी उनके हृदय में किसी भाव की—खासकर, प्रेम की—तरंगें हिलोरें मारने लगती थीं, उनके मुँह से सहसा पक्षियों अथवा शिशुओं का-सा कलरव निकल पड़ता था; अर्थात्, मनुष्य की दशा उस पक्षी की-सी थी, जो अपनी प्रियतमा के प्रेम में उन्मत्त होकर, उसे आकर्षित करने के लिए, घण्टों उसके आस-पास नृत्य करता हुआ गाता है। अब भी जंगली जातियों में ऐसी बहुत-सी जातियाँ हैं, जिनमें ऐसे गानों का, जो किसी स्त्री के आकर्षण के लिए गाए जाते हैं, चलन है। इन जातियों में प्रेमी दिन-भर अपनी प्रेमिका के आस-पास, उसे रिझाने को, गाता फिरता है; पर बहुधा इन गीतों में कोई खास अर्थ नहीं होता। सभ्य जातियों में भी गाने का जितना प्रचार प्राचीन समय में था, उतना वह

अब नहीं है। स्वीडन के एक लेखक (Gonas Stolt) ने एक जगह लिखा है—

'मैंने वे दिन भी देखे हैं जब युवा-अवस्था प्राप्त लोग सुबह से शाम तक गाते फिरते थे—हर्षोन्मत्त होकर वे घर और बाहर, दोनों ही जगहों में, हल चलाते हुए या नाज के खलिहानों में, या चर्खों की सुमधुर ध्वनि के साथ-साथ, गाते थे। पर इन्हें समाप्त हुए अब एक जमाना हो गया।'

पद्य गद्य का जनक है, और मानव-जीवन के आरम्भकाल में मनुष्य के मुँह से आप-ही-आप निकले हुए उमंगपूर्ण कलरवों में उस भाषा रूपी वृक्ष का बीज उत्पन्न हुआ, जो बढ़कर आज इतना विशाल हो गया है, और जिसकी शाखाएँ चारों ओर फैल गई हैं—

Thus Nature drove us; warbling rose
Man's Voice in Verse before he spoke in prose.

कवि का यह कथन अक्षरशः सत्य है। यदि ऊपर कही हुई बातें ठीक मानी जाएँ, तो यह कहना होगा कि भाषा की उत्पत्ति में स्त्री का हाथ कम है, पुरुष का अधिक। आज दिन भी पक्षियों में जो नर हैं, वे ही गाते हैं, मादा नहीं।

शब्दों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आधुनिक कुछ विद्वानों (Meader, De Laguva, आदि) का कहना है कि संसार का प्रत्येक जीव—चाहे वह छोटा-से छोटा क्यों न हो—आत्मरक्षा के उपाय स्वाभाव से जान लेता है। शब्दों की उत्पत्ति का भी प्रधान कारण आत्मरक्षा और स्वजाति के उत्तर-जीवन की सहज इच्छा या आवश्यकता थी। जितने जीव आत्मरक्षा अथवा आक्रमण के लिए दूसरों से सहयोग करते हैं, उनके लिए किसी-न-किसी प्रकार के संवाद-साधन की जरूरत होती है। किसी एक भेड़ की शंकाकुल बोली पड़ोस के सारे भेड़-समाज को खतरे की सूचना दे देती है और वे एकत्रित हो जाती हैं। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि किसी भी सामाजिक प्राणी को, यदि वह अपनी या अपनी जाति का अस्तित्व कायम रखना चाहता है, तो आंतरिक भावों को व्यक्त करने के लिये किसी-न-किसी प्रकार के—चाहे वह प्राथमिक, अप्रौढ़ ही क्यों न हों—साधन की आवश्यकता होगी। दृष्टांत के लिए, पशु-पक्षियों को लीजिए। वे जब कामोन्मत्त होते हैं, और उन्हें

सम्भोग की इच्छा होती है, अथवा मदद के लिए उन्हें स्वजातीय अन्य पशु-पक्षियों का आह्वान करना होता है, तब वे ज़ोर-ज़ोर से पुकारने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार जब मनुष्यों को भी, आदि में, सम्भोग के लिए या रक्षार्थ सहायकों की जरूरत होती थी, तब उनके अन्दर से आप-ही-आप आवाज़ें निकल पड़ती थीं। ये आवाज़ें रक्षा अथवा वंश-विस्तार में सहायक होती थीं। और यही भाषा अथवा शब्दों का आरम्भ था।

शुरू में इन शब्दों का कोई खास अर्थ न था, ये तो आंतरिक भावनाओं के अस्पष्ट चिह्न मात्र थे। कई प्रकारों से ये अर्थ-युक्त हुए। कुछ तो ध्वनि अनुकरणशील होने के कारण और कुछ संयोग से। एक ही अवसर अथवा वस्तु के लिए यदि एक ही शब्द कई बार निकल पड़ा, तो वह उस मौके अथवा वस्तु के लिए अभिधायक हो गया। चेष्टा——संकेतों——ने शब्दों के अर्थ-युक्त होने में काफ़ी सहायता पहुँचाई होगी, क्योंकि आदिकाल में——भाषा की उत्पत्ति के पूर्व अथवा जब मानव की भाषा शैशव अवस्था में थी–संकेत-चिह्नों के द्वारा ही सारे काम सम्पादित होते रहे होंगे। आज भी पश्चिमीय अमेरिका के आदिम निवासी संकेतों से उतना ही काम लेते हैं, जितना हम बोलकर। इससे इस सिद्धान्त का समर्थन होता है।

उर्दू के किसी शायर का यह कथन कि——

गौहरे-मजनूँ निकलते हैं मगर बे-आबदार
जब तलक दरिया-ए-दिल जोश पर आता नहीं।

इस ख्याल की पुष्टि करता है कि भाव की गहराई से शब्दों के उद्‌गार का अति घनिष्ठ सम्बंध है। और इस मानी में मनुष्य और अन्य जीवों में अधिक फ़र्क़ नहीं है। केवल अन्तर इतना है कि जहाँ भाषा की प्रौढ़ता और अर्थ-गौरव में हम मीलों आगे बढ़ गये हैं, वे अब तक वहीं हैं जहाँ सृष्टि के आदि काल में उन्होंने आँखें खोली थीं।

Cav